सप्ततिका प्रकरण नामक

2946

कर्म ग्रन्थ

[षष्ठ भाग]

[मूल, शब्दार्थ, गाथार्थ, विशेषार्थ, विवेचन एवं टिप्पण पारिभाषिक शब्दकोष आदि से युक्त]

व्याख्याकार

मरुधरकेसरी, प्रवर्तक

स्व. मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज

सम्पादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

देवकुमार जैन

प्रकाशक

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

जोधपुर—ब्यावर

प्रकाशकीय

श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति के विभिन्न उद्देश्यों में से एक प्रमुख एवं रचनात्मक उद्देश्य है—जैनधर्म एवं दर्शन से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन करना। संस्था के मार्गदर्शक परम-श्रद्धेय प्रवर्तक स्व. श्री मरुधरकेसरीजी महाराज स्वयं एक महान विद्वान, आशुकवि तथा जैन आगम तथा दर्शन के मर्मज्ञ थे और उन्हीं के मार्गदर्शन में संस्था की विभिन्न लोकोपकारी प्रवृत्तियां आज भी चल रही है। गुरुदेवश्री साहित्य के मर्मज्ञ भी थे और अनुरागी भी थे। उनकी प्रेरणा से अब तक हमने प्रवचन, जीवन चरित्र, काव्य, आगम तथा गम्भीर विवेचनात्मक अनेकों ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। अब विद्वानों एवं तत्त्वजिज्ञासु पाठकों के सामने हम कर्मग्रन्थ भाग ६ का द्वितीय संस्करण प्रस्तुत कर रहे हैं।

कर्मग्रन्थ जैन दर्शन का एक महान् ग्रन्थ है। इसमें जैन तत्त्वज्ञान का सर्वांग विवेचन समाया हुआ है।

स्व. पूज्य गुरुदेवश्री के निर्देशन में जैन दर्शन एवं साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान सम्पादक श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराना एवं उनके सहयोगी श्री देवकुमारजी जैन ने मिलकर इस गहन ग्रन्थ का सुन्दर सम्पादन किया है। इसका प्रथम-संस्करण सन् १९७६ में प्रकाशित हुआ, जो कब का समाप्त हो चुका, और पाठकों की मांग निरन्तर आती रही। पाठकों की मांग के अनुसार समिति के कार्यकर्ताओं ने प्रवर्तक श्री रूपचन्दजी महाराज एवं उपप्रवर्तक श्री सुकनमुनिजी महाराज से इसके द्वितीय संस्करण के लिए स्वीकृति मांगी, तदनुसार गुरुदेवश्री की स्वीकृति एवं प्रेरणा से अब यह द्वितीय संस्करण पाठकों के हाथों में प्रस्तुत है। आशा है, कर्म सिद्धान्त के जिज्ञासु, विद्यार्थी आदि इससे लाभान्वित होंगे।

विनीत : मन्त्री—
श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति

अपनी बात

जैन दर्शन को समझने की कुंजी है—'कर्मसिद्धान्त'। यह निश्चित है कि समग्र दर्शन एवं तत्त्वज्ञान का आधार है आत्मा की विविध दशाओं, स्वरूपों का विवेचन एवं उसके परिवर्तनों का रहस्य उद्घाटित करता है 'कर्मसिद्धान्त'। इसलिए जैनदर्शन को समझने के लिए 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अनिवार्य है।

कर्मसिद्धान्त का विवेचन करने वाले प्रमुख ग्रन्थों में श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित कर्मग्रन्थ अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। जैन साहित्य में इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। तत्त्वजिज्ञासु भी कर्मग्रन्थों को आगम की तरह प्रतिदिन अध्ययन एवं स्वाध्याय की वस्तु मानते हैं।

कर्मग्रन्थों की संस्कृत टीकाएं बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इनके कई गुजराती अनुवाद भी हो चुके हैं। हिन्दी में कर्मग्रन्थों का सर्वप्रथम विवेचन प्रस्तुत किया था विद्वद्वरेण्य मनीषी प्रवर महाप्राज्ञ पं० सुखलालजी ने। उनकी शैली तुलनात्मक एवं विद्वत्ता प्रधान है। पं० सुखलालजी का विवेचन आज प्रायः दुष्प्राप्य सा है। कुछ समय से आशुकविरत्न गुरुदेव श्री मरुधर केसरीजी महाराज की प्रेरणा मिल रही थी कि कर्मग्रन्थों का आधुनिक शैली में विवेचन प्रस्तुत करना चाहिए। उनकी प्रेरणा एवं निदेशन से यह सम्पादन प्रारम्भ हुआ। विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह कार्य बड़ी गति के साथ आगे बढ़ता गया। श्री देवकुमारजी जैन का सहयोग मिला और कार्य कुछ समय में आकार धारण करने योग्य बन गया।

इस सम्पादन कार्य में जिन प्राचीन ग्रन्थ लेखकों, टीकाकारों, विवेचनकर्त्ताओं तथा विशेषतः पं० श्री सुखलालजी के ग्रन्थों का सहयोग

प्राप्त हुआ और इतने गहन ग्रन्थ का विवेचन सहजगम्य बन सका। मैं उक्त सभी विद्वानों का असीम कृतज्ञता के साथ आभार मानता हूँ।

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरीजी महाराज का समय-समय पर मार्ग-दर्शन, श्री रजतमुनिजी एवं श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा एवं साहित्य समिति के अधिकारियों का सहयोग विशेषकर समिति के व्यवस्थापक श्री सुजानमलजी सेठिया की सहृदयता पूर्ण प्रेरणा व सहकार से ग्रन्थ के सम्पादन-प्रकाशन में गतिशीलता आई है, मैं हृदय से आभार स्वीकार करूं—यह सर्वथा योग्य ही होगा।

विवेचन में कहीं त्रुटि, सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता तथा मुद्रण आदि में अशुद्धि रही हो तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ और हंस-बुद्धि पाठकों से अपेक्षा है कि वे स्नेहपूर्वक सूचित कर अनुगृहीत करेंगे। भूल सुधार एवं प्रमाद परिहार में सहयोगी बनने वाले अभिनन्दनीय होते हैं। बस इसी अनुरोध के साथ—

द्वितीयावृत्ति

"कर्मग्रन्थ" भाग ६ का यह द्वितीय संस्करण छप रहा है। आज स्व. गुरुदेव हमारे बीच विद्यमान नहीं हैं, किन्तु उनके द्वारा, प्रदत्त ज्ञान निधि, आज भी हम सबका मार्गदर्शन कर रही है। गुरुदेवश्री के प्रधान शिष्य उपप्रवर्तक श्री सुकनमुनिजी उसी ज्ञान ज्योति को प्रज्वलित रखते हुए आज हम सबको प्रेरणा एवं प्रोत्साहन दे रहे हैं, उन्हीं की शुभ प्रेरणा से "कर्मग्रन्थ" का यह द्वितीय संस्करण पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है। प्रसन्नता।

विनीत

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

आ मु ख

जैन दर्शन के सम्पूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र शक्ति है। अपने सुख-दुःख का निर्माता भी वही है और उसका फल भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान बनकर अशुद्ध दशा में संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं परम आनन्दस्वरूप होने पर भी सुख-दुःख के चक्र में पिस रहा है। अजर-अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह में बह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्ति सम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुःखी, दरिद्र के रूप में यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है?

जैनदर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है **कम्मं च जाई मरणस्स मूलं**—भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटनाचक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्ववैचित्र्य एवं सुख-दुःख का कारण जहां ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुःख एवं विश्ववैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं में पुद्गल है, जड़ है। किन्तु राग-द्वेष वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने बलवान और शक्तिसम्पन्न बन जाते हैं कि कर्त्ता को भी अपने बंधन में बांध लेते हैं। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते हैं। यह कर्म की बड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनों का यह मुख्य बीज कर्म क्या है, इसका स्वरूप क्या है? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं? यह बड़ा ही गम्भीर विषय है। जैनदर्शन में

कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यन्त गहन विवेचन जैन आगमों में और उत्तरवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिये दुर्बोध है। थोकड़ों में कर्म सिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गूंथा है, कण्ठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिये अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों में कर्मग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है। श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित इसके पांच भाग अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें जैनदर्शनसम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा में है और इसकी संस्कृत में अनेक टीकाएँ भी प्रसिद्ध हैं। गुजराती में भी इसका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा में इस पर विवेचन प्रसिद्ध विद्वान मनीषी पं० श्री सुखलालजी ने लगभग ४० वर्ष पूर्व तैयार किया था।

वर्तमान में कर्मग्रन्थ का हिन्दी विवेचन दुष्प्राप्य हो रहा था, फिर इस समय तक विवेचन की शैली में भी काफी परिवर्तन आ गया। अनेक तत्त्व जिज्ञासु मुनिवर एवं श्रद्धालु श्रावक परम श्रद्धेय गुरुदेव मरुधर केसरीजी महाराज साहब से कई वर्षों से प्रार्थना कर रहे थे कि कर्मग्रन्थ जैसे विशाल और गम्भीर ग्रन्थ का नये ढंग से विवेचन एवं प्रकाशन होना चाहिए। आप जैसे समर्थ शास्त्रज्ञ विद्वान एवं महास्थविर सन्त ही इस अत्यन्त श्रमसाध्य एवं व्यय-साध्य कार्य को सम्पन्न करा सकते हैं। गुरुदेवश्री का भी इस ओर आकर्षण हुआ और इस कार्य को आगे बढ़ाने का संकल्प किया। विवेचन लिखना प्रारम्भ किया। विवेचन को भाषा-शैली आदि दृष्टियों से सुन्दर एवं रुचिकर बनाने तथा फुटनोट, आगमों के उद्धरण संकलन, भूमिका, लेखन आदि कार्यों का दायित्व प्रसिद्ध विद्वान श्रीयुत श्रीचन्दजी सुराना को

सौंपा गया। श्री सुरानाजी गुरुदेव श्री के साहित्य एवं विचारों से अतिनिकट सम्पर्क में रहे हैं। गुरुदेव के निर्देशन में उन्होंने अत्यधिक श्रम करके यह विद्वत्तापूर्ण तथा सर्वसाधारण जन के लिए उपयोगी विवेचन तैयार किया है। इस विवेचन में एक दीर्घकालीन अभाव की पूर्ति हो रही है। साथ ही समाज को एक सांस्कृतिक एवं दार्शनिक निधि नये रूप में मिल रही है, यह अत्यधिक प्रसन्नता की बात है।

मुझे इस विषय में विशेष रुचि है। मैं गुरुदेव को तथा संपादक बन्धुओं को इसकी सम्पूर्ति के लिए समय-समय पर प्रेरित करता रहा। पाँच भागों के पश्चात् यह छठा भाग आज जनता के समक्ष आ रहा है। इसकी मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।

यह छठा भाग पहले के पाँच भागों से भी अधिक विस्तृत बना है, विषय गहन है, गहन विषय की स्पष्टता के लिए विस्तार भी आवश्यक हो जाता है। विद्वान सम्पादक बंधुओं ने काफी श्रम और अनेक ग्रन्थों के पर्यालोचन से विषय का तलस्पर्शी विवेचन किया है। आशा है, यह जिज्ञासु पाठकों की ज्ञानवृद्धि का हेतुभूत बनेगा।

द्वितीय संस्करण

आज लगभग १३ वर्ष बाद "कर्मग्रन्थ" के छठे भाग का यह द्वितीय संस्करण पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है। इसे अनेक संस्थाओं ने अपने पाठ्यक्रम में रखा है। यह इस ग्रन्थ की उपयोगिता का स्पष्ट प्रमाण है। काफी समय से ग्रन्थ अनुपलब्ध था, इस वर्ष प्रवर्तक श्री रूपचन्दजी महाराज साहब के साथ मद्रास चातुर्मास में इसके द्वितीय संस्करण का निश्चय हुआ, तदनुसार ग्रन्थ पाठकों के हाथों में है।

आज पूज्य गुरुदेवश्री हमारे मध्य विद्यमान नहीं हैं, किन्तु जहाँ भी हैं, उनकी दिव्य शक्ति हमें प्रेरणा व मार्गदर्शन देती रहेगी। इसी शुभाशापूर्वक पूज्य गुरुदेवश्री की पुण्य स्मृति के साथ.....

—उपप्रवर्तक सुकनमुनि

प्रस्तावना

'सप्ततिका प्रकरण' नामक छठा कर्मग्रन्थ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने के साथ कर्मग्रन्थों के प्रकाशन का प्रयत्न पूर्ण हो रहा है। एतदर्थ 'श्री मरुधर-केसरी साहित्य प्रकाशन समिति' के संचालकों-सदस्यों का हम अभिनन्दन करते हैं कि समय, श्रम और व्ययसाध्य गौरवशाली साहित्य को प्रकाशित कर जैन वाङ्मय की श्रीवृद्धि का उन्होंने स्तुत्य प्रयास किया है।

पूर्वप्रकाशित पाँच कर्मग्रन्थों की प्रस्तावना में कर्मसिद्धान्त के बारे में यथासम्भव विचार व्यक्त किये हैं। यहाँ कर्मग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत है।

कर्मग्रंथों का महत्व

जैन साहित्य में कर्मग्रन्थों का महत्वपूर्ण स्थान होने के बारे में इतना-सा संकेत कर देना पर्याप्त है कि जैनदर्शन में सृष्टि के कारण के रूप में काल, स्वभाव आदि को मान्य करने के साथ कर्मवाद पर विशेष जोर दिया है। कर्म-सिद्धान्त को समझे बिना जैनदर्शन के अन्तरहस्य का परिज्ञान सम्भव नहीं है और कर्मतत्त्व का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रारम्भिक मुख्य साधन कर्मग्रन्थों के सिवाय अन्य कोई नहीं है। कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह आदि कर्मसाहित्य विषयक गंभीर ग्रंथों का अभ्यास करने के लिए कर्मग्रन्थों का अध्ययन करना अत्यावश्यक है। इसीलिए जैनसाहित्य में कर्मग्रन्थों का स्थान अति गौरव भरा है।

कर्मग्रंथों का परिचय

इस सप्ततिका प्रकरण का कर्मग्रन्थों में क्रम छठवां है। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है। इस ग्रन्थ में बहत्तर गाथाएँ होने से गाथाओं की संख्या के आधार से इसका नाम सप्ततिका रखा गया है। इसके कर्ता आदि के बारे में यथाप्रसंग विशेष रूप से जानकारी दी जा रही है। लेकिन इसके पूर्व श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित पाँच कर्मग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हैं।

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि ने क्रमशः कर्मविपाक, कर्मस्तव, बंधस्वामित्व, षडशीति और शतक नामक पाँच कर्मग्रन्थों की रचना की है। ये पांचों नाम ग्रन्थ के विषय और उनकी गाथा संख्या को ध्यान में रख कर ग्रन्थकार ने दिये हैं। प्रथम, द्वितीय और तृतीय कर्मग्रंथ के नाम उनके वर्ण्य विषय के आधार से तथा चतुर्थ और पंचम कर्मग्रन्थ के नाम षडशीति और शतक उन-उन में आगत गाथाओं की संख्या के आधार से रखे गये हैं। इस प्रकार से कर्मग्रन्थों के पृथक-पृथक नाम होने पर भी सामान्य जनता इन कर्मग्रन्थों को प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम कर्मग्रन्थ के नाम से जानती है।

प्रथम कर्मग्रन्थ के नाम से ज्ञात कर्मविपाक नामक कर्मग्रन्थ में ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्मों, उनके भेद-प्रभेद और उनका स्वरूप अर्थात् विपाक अथवा फल का वर्णन दृष्टान्तपूर्वक किया गया है।

कर्मस्तव नामक द्वितीय कर्मग्रन्थ में भगवान महावीर की स्तुति के द्वारा चौदह गुणस्थानों का स्वरूप और इन गुणस्थानों में प्रथम कर्मग्रन्थ में वर्णित कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय और सत्ता का वर्णन किया गया है।

तीसरे बंधस्वामित्व नामक कर्मग्रन्थ में गत्यादि मार्गणाओं के आश्रय से जीवों के कर्मप्रकृति-विषयक बन्धस्वामित्व का वर्णन किया गया है। दूसरे कर्मग्रन्थ में गुणस्थानों के आधार से बन्ध का वर्णन

किया गया है, जबकि इसमें गत्यादि मार्गणास्थानों के आधार से बन्ध स्वामित्व का विचार किया है।

षडशीति नामक चतुर्थ कर्मग्रन्थ में जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, भाव और संख्या—इन पाँच विषयों का विस्तार से विवेचन किया गया है। इन पाँच विभागों में से आदि के तीन विभागों में अन्य सम्बन्धित विषयों का वर्णन किया गया है। अन्तिम दो विभागों अर्थात् भाव और संख्या का वर्णन अन्य किसी विषय से मिश्रित—सम्बद्ध नहीं हैं। दोनों विषय स्वतन्त्र हैं।

शतक नामक पंचम कर्मग्रंथ में प्रथम कर्मग्रंथ में वर्णित प्रकृतियों का ध्रुवबन्धी, अध्रुवबन्धिनी, ध्रुवोदय, अध्रुवोदय आदि अनेक प्रकार से वर्गीकरण करने के बाद उनका विपाक की अपेक्षा से वर्णन किया है। उसके बाद उक्त प्रकृतियों का प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बन्ध का स्वरूप और उनके स्वामी का वर्णन किया गया है। अन्त में उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि का विशेष रूप में कथन किया है।

आधार और वर्णन का क्रम

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि के पांच कर्मग्रन्थों की रचना के पहले आचार्य शिवशर्म, चन्द्रर्षि महत्तर आदि भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा अलग-अलग समय में कर्म-विषयक छह प्रकरणों की रचना की जा चुकी थी और उक्त छह प्रकरणों में से पांच के आधार से श्रीमद् देवेन्द्रसूरि ने अपने पांच कर्मग्रन्थों की रचना की है। इसीलिए ये कर्मग्रन्थ 'नवीन कर्मग्रन्थ' के नाम से जाने जाते हैं।

प्राचीन कर्मग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में जिन विषयों का वर्णन किया है और वर्णन का जो क्रम रखा है, प्रायः वही विषय और वर्णन का क्रम श्रीमद् देवेन्द्रसूरि ने रखा है। इनकी रचना में मात्र प्राचीन

कर्मग्रन्थों के आशय को ही नहीं लिया गया है, बल्कि नाम, विषय, वर्णन-शैली आदि का भी अनुसरण किया है।

नवीन कर्मग्रन्थों की विशेषता

प्राचीन कर्मग्रन्थकार आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में जिन-जिन विषयों का वर्णन किया है, वे ही विषय नवीन कर्मग्रन्थकार आचार्य श्रीमद् देवेन्द्रसूरि ने अपने ग्रन्थों में वर्णित किये हैं। लेकिन श्री देवेन्द्र सूरि रचित कर्मग्रन्थों की यह विशेषता है कि प्राचीन कर्मग्रन्थकारों ने जिन विषयों को अधिक विस्तार से कहा है, जिससे कण्ठस्थ करने वाले अभ्यासियों को अरुचि होना सम्भव है, उनको श्री देवेन्द्रसूरि ने अपने कर्मग्रन्थों में एक भी विषय को न छोड़ते हुए और साथ में अन्य विषयों का समावेश करके सरल भाषा पद्धति के द्वारा अति संक्षेप में प्रतिपादन किया है। इससे अभ्यास करने वालों को उदासीनता अथवा अरुचि भाव पैदा नहीं होता है। प्राचीन कर्मग्रन्थों की गाथा संख्या क्रम से १६८, ५७, ५४, ८६ और १०२ हैं और नवीन कर्मग्रंथों की क्रमशः ६०, ३४, २४, ८६ और १०० है। चौथे और पांचवें कर्मग्रन्थों की गाथा संख्या प्राचीन कर्मग्रन्थों जितनी देखकर किसी को यह नहीं समझ लेना चाहिए कि प्राचीन चौथे और पांचवें कर्मग्रन्थ की अपेक्षा नवीन चतुर्थ और पंचम कर्मग्रन्थ में शाब्दिक अन्तर के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, किन्तु श्रीमद् देवेन्द्रसूरि ने अपने प्राचीन कर्मग्रन्थों के विषयों को जितना संक्षिप्त किया जा सकता था, उतना संक्षिप्त करने के बाद उनका षडशीति और शतक ये दोनों प्राचीन नाम रखने के विचार से कर्मग्रन्थों के अभ्यास करने वालों को सहायक अन्य विषयों का समावेश करके छियासी और सौ गाथाएँ पूरी की हैं। चतुर्थ कर्मग्रन्थ में भेद-प्रभेदों के साथ छह भावों का स्वरूप और भेद-प्रभेदों के वर्णन के साथ संख्यात, असंख्यात और अनन्त इन तीन प्रकार की संख्याओं का वर्णन किया है तथा पंचम कर्मग्रन्थ

में उद्धार, अद्धा और क्षेत्र इन तीन प्रकार के पल्योपमों का स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये चार प्रकार के सूक्ष्म और बादर पुद्गल परावर्तों का स्वरूप एवं उपशमश्रेणि तथा क्षपकश्रेणि का स्वरूप आदि नवीन विषयों का समावेश किया है। इस प्रकार प्राचीन कर्मग्रन्थों की अपेक्षा श्री देवेन्द्रसूरि विरचित नवीन कर्मग्रन्थों की मुख्य विशेषता यह है कि इन कर्मग्रन्थों में प्राचीन कर्मग्रन्थों के प्रत्येक वर्ण्य विषय का समावेश होने पर भी परिमाण अत्यल्प है और उसके साथ अनेक नवीन विषयों का संग्रह किया गया है।

नवीन कर्मग्रन्थों की टीकाएं

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि ने अपने नवीन कर्मग्रन्थों की स्वोपज्ञ टीकाएँ की थीं, किन्तु उनमें से तीसरे कर्मग्रन्थ की टीका नष्ट हो जाने से बाद में अन्य किसी विद्वान आचार्य ने अवचूरि नामक टीका की रचना की।

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि की टीका-शैली इतनी मनोरंजक है कि मूल गाथा के प्रत्येक पद या वाक्य का विवेचन किया गया है। इतना ही नहीं, बल्कि जिस पद का विस्तारपूर्वक अर्थ समझाने की आवश्यकता हुई, उसका उसी प्रमाण में निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त एक विशेषता यह भी देखने में आती है कि व्याख्या को अधिक स्पष्ट करने के लिए आगम, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका और पूर्वाचार्यों के प्रकरण ग्रन्थों में से सम्बन्धित प्रमाणों तथा अन्यान्य दर्शनों के उद्धरणों को प्रस्तुत किया है। इस प्रकार नवीन कर्मग्रन्थों की टीकाएँ इतनी विशद, सप्रमाण और कर्मतत्त्व के ज्ञान से युक्त हैं कि इनको देखने के बाद प्राचीन कर्मग्रन्थों और उनकी टीकाओं आदि को देखने की जिज्ञासा प्रायः शान्त हो जाती है। टीकाओं की भाषा सरल, सुबोध और प्रांजल है।

पाँच कर्मग्रन्थों की संक्षेप में जानकारी देने के बाद अब सप्ततिका (षष्ठ कर्मग्रन्थ) का विशेष परिचय देते हैं।

सप्ततिका परिचय

सप्ततिका के विचारणीय विषय का संक्षेप में संकेत उसकी प्रथम गाथा में किया गया है। इसमें आठ मूल कर्मों व अवान्तर भेदों के बन्धस्थानों, उदयस्थानों और सत्तास्थानों का स्वतन्त्र रूप से व जीवसमास, गुणस्थानों और मार्गणास्थानों के आश्रय से विवेचन किया गया है और अन्त में उपशमविधि और क्षपणविधि बतलाई है।

कर्मों की यथासम्भव दस अवस्थाएँ होती हैं। उनमें से तीन मुख्य हैं—बन्ध, उदय और सत्ता। शेष अवस्थाओं का इन तीन में अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए यदि यह कहा जाये कि ग्रन्थ में कर्मों की विविध अवस्थाओं, उनके भेदों का इसमें सांगोपांग विवेचन किया गया है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

ग्रन्थ का जितना परिमाण है, उसको देखते हुए वर्णन करने की शैली की प्रशंसा ही करनी पड़ती है। सागर का जल गागर में भर दिया गया है। इतने लघुकाय ग्रन्थ में विशाल और गहन विषयों का विवेचन कर देना हर किसी का काम नहीं है। इससे ग्रन्थकर्ता और ग्रन्थ—दोनों की महानता सिद्ध होती है।

पहली और दूसरी गाथा में विषय की सूचना दी गई है। तीसरी गाथा में आठ मूल कर्मों के संवेध भंग बतलाकर चौथी और पाँचवीं गाथा में क्रम से जीवसमास और गुणस्थानों में इनका विवेचन किया गया है। छठी गाथा में ज्ञानावरण और अन्तरायकर्म के अवान्तर भेदों के संवेध भंग बतलाये हैं। सातवीं से नौवीं गाथा के पूर्वार्द्ध तक ढाई गाथा में दर्शनावरण के उत्तरभेदों के संवेध भंग बतलाये हैं और नौवीं गाथा के उत्तरार्द्ध में वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म के संवेध

भंगों के कहने की सूचनामात्र करके मोहनीय के भंग कहने की प्रतिज्ञा की गई है।

दसवीं से लेकर तेईसवीं गाथा तक मोहनीयकर्म के और चौबीसवीं से लेकर बत्तीसवीं गाथा तक नामकर्म के बन्धादि स्थानों व उनके संवेध भंगों का विचार किया गया है। इसके अनन्तर तेतीसवीं से लेकर बावनवीं गाथा तक अवान्तर प्रकृतियों के उक्त संवेध भंगों को जीवसमासों और गुणस्थानों में घटित करके बताया गया है। त्रपनवीं गाथा में गति आदि मार्गणाओं के साथ सत् आदि आठ अनुयोगद्वारों में उन्हें घटित करने की सूचना दी गई है।

इसके अनन्तर वर्ण्य विषय का क्रम बदलता है। चौवनवीं गाथा में उदय से उदीरणा के स्वामी की विशेषता को बतलाने के बाद पचपनवीं गाथा में ४१ प्रकृतियाँ बतलाई हैं, जिनमें विशेषता है। पश्चात् छप्पन से उनसठवीं गाथा तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्ध प्रकृतियों की संख्या का संकेत किया है। इकसठवीं गाथा में तीर्थंकर नाम, देवायु और नरकायु इनका सत्त्व तीन-तीन गतियों में ही होता है, किन्तु इनके सिवाय शेष प्रकृतियों की सत्ता सब गतियों में पाई जाती है। इसके बाद की दो गाथाओं में अनन्तानुबन्धी और दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों के उपशमन और क्षपण के स्वामी का निर्देशन करके चौंसठवीं गाथा में क्रोधादि के क्षपण के विशेष नियम की सूचना दी है। इसके बाद पैंसठ से लेकर उनहत्तरवीं गाथा तक चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान में प्रकृतियों के वेदन एवं उदय सम्बन्धी विवेचन करने के अनन्तर सत्तरवीं गाथा में सिद्धों के सुख का वर्णन किया है।

इस प्रकार ग्रन्थ के वर्ण्य विषय का कथन हो जाने के पश्चात् दो गाथाओं में उपसंहार और लघुता प्रकट करते हुए ग्रन्थ समाप्त किया गया है।

कर्म साहित्य में सप्ततिका का स्थान

अब तक के प्राप्त प्रमाणों से यह कहा जा सकता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर जैन परम्पराओं में उपलब्ध कर्म-साहित्य का आलेखन अग्रायणीय पूर्व की पांचवीं वस्तु के चौथे प्राभृत और ज्ञानप्रवाद तथा कर्मप्रवाद पूर्व के आधार से हुआ है। अग्रायणीय पूर्व के आधार से षट्खंडागम, कर्मप्रकृति, शतक और सप्ततिका—इन ग्रन्थों का संकलन हुआ और ज्ञानप्रवाद पूर्व की दसवीं वस्तु के तीसरे प्राभृत के आधार से कषायप्राभृत का संकलन किया गया है।

उक्त ग्रन्थों में से कर्मप्रकृति ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा में तथा कषायप्राभृत और षट्खंडागम दिगम्बर परम्परा में माने जाते हैं तथा कुछ पाठभेद के साथ शतक और सप्ततिका - ये दोनों ग्रन्थ दोनों परम्पराओं में माने जाते हैं।

गाथाओं या श्लोकों की संख्या के आधार से ग्रन्थ का नाम रखने की परिपाटी प्राचीनकाल से चली आ रही है। जैसे कि आचार्य शिवशर्म कृत 'शतक'; आचार्य सिद्धसेन कृत द्वात्रिंशिका प्रकरण; आचार्य हरिभद्रसूरि कृत पंचाशक प्रकरण, विंशति-विंशतिका प्रकरण, षोडशक प्रकरण, अष्टक प्रकरण, आचार्य जिनवल्लभ कृत षडशीति प्रकरण आदि अनेकानेक रचनाओं को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। सप्ततिका का नाम भी इसी आधार से रखा जान पड़ता है। इसे षष्ठ कर्मग्रन्थ भी कहने का कारण यह है कि वर्तमान में कर्मग्रन्थों की गिनती के अनुसार इसका क्रम छठा आता है।

कर्मविषयक मूल साहित्य के रूप में माने जाने वाले पाँच ग्रन्थों में से सप्ततिका भी एक है। सप्ततिका में अनेक स्थलों पर मत-भिन्नताओं का निर्देश किया गया है। जैसे कि एक मतभेद गाथा १९-२० और उसकी टीका में उदयविकल्प और पदवृन्दों की संख्या बतलाते समय तथा दूसरा मतभेद अयोगिकेवली गुणस्थान में नामकर्म की

प्रकृतियों की सत्ता को लेकर आया है (गाथा ६६, ६७, ६८)। इससे यह प्रतीत होता है कि जब कर्मविषयक अनेक सप्ततिकार प्रचलित हो गये थे, तब इसकी रचना हुई होगी। लेकिन इसकी प्रथम गाथा में इसे दृष्टिवाद अंग की एक बूंद के समान बतलाया गया है तथा इसकी टीका करते हुए सभी टीकाकार अग्रायणीय पूर्व की पाँचवीं वस्तु के चौथे प्राभृत से इसकी उत्पत्ति मानते हैं। एतदर्थ इसकी मूल साहित्य में गणना की गई है। दूसरी बात यह है कि सप्ततिका की गाथाओं में कर्म सिद्धान्त का समस्त सार संकलित कर दिया है। इस पर जब विचार करते हैं, तब इसे मूल साहित्य मानना ही पड़ता है।

सप्ततिका की गाथा संख्या

यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'सप्ततिका' गाथाओं की संख्या के आधार से रखा गया है, लेकिन इसकी गाथाओं की संख्या को लेकर मतभिन्नता है। इस संस्करण में ७२ गाथाएँ हैं। अन्तिम गाथाओं में मूल प्रकरण के विषय की समाप्ति का संकेत किये जाने से यदि उन्हें गणना में न लें तो इस प्रकरण का 'सप्ततिका' यह नाम सुसंगत और सार्थक है। किन्तु अभी तक इसके जितने संस्करण देखने में आये हैं, उन सबमें अलग-अलग संख्या दी गई है। श्री जैन श्रेयस्कर मंडल महेसाना की ओर से प्रकाशित संस्करण में इसकी संख्या ९१ दी है। प्रकरण रत्नाकर चौथे भाग में प्रकाशित संस्करण में ९४ है तथा आचार्य मलयगिरि की टीका के साथ श्री आत्मानन्द जैन ग्रन्थमाला भावनगर की ओर से प्रकाशित संस्करण में इसकी संख्या ७२ दी है। चूर्णि के साथ प्रकाशित संस्करण में ७१ गाथाओं का उल्लेख किया है।

इस प्रकार गाथाओं की संख्या में भिन्नता देखने को मिलती है। गाथा संख्या की भिन्नता के बारे में विचार करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गुजराती टीकाकारों द्वारा अन्तर्भाष्य गाथाओं को मूल गाथा के रूप में स्वीकार कर लिया है तथा कुछ गाथाएँ प्रकरण उपयोगी होने से मूलगाथा के रूप में मान ली गई हैं। परन्तु हमने

श्री आत्मानन्द जैन ग्रन्थमाला के टीका सहित सप्ततिका को प्रमाण माना है और अन्त की दो गाथाएँ वर्ण्य विषय के बाद आई हैं, अतः उनकी गणना नहीं करने पर ग्रन्थ का नाम सप्ततिका सार्थक सिद्ध होता है।

ग्रन्थकर्ता

नवीन पाँच कर्मग्रन्थ और उनकी स्वोपज्ञ टीका के प्रणेता आचार्य श्रीमद् देवेन्द्रसूरि का विस्तृत परिचय प्रथम कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना में दिया जा चुका है। अतः सप्ततिका के कर्ता के बारे में ही विचार करते हैं।

सप्ततिका के रचयिता कौन थे, उनके माता-पिता कौन थे, उनके दीक्षागुरु और विद्यागुरु कौन थे, अपने जीवन से किस भूमि को पवित्र बनाया था आदि प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने के कोई साधन उपलब्ध नहीं हैं। इस समय सप्ततिका और उसकी जो टीकाएँ प्राप्त हैं, वे भी कर्ता के नाम आदि की जानकारी कराने में सहायता नहीं देती हैं।

सप्ततिका प्रकरण मूल की प्राचीन ताड़पत्रीय प्रति में चन्द्रर्षि महत्तर नाम से गर्भित निम्नलिखित गाथा देखने को मिलती है—

गाहग्गं सयरीए चंदमहत्तरमयाणुसारीए।
टीगाइ नियमियाणं एणूणा होइ नउई उ॥

लेकिन यह गाथा भी चन्द्रर्षि महत्तर को सप्ततिका के रचयिता होने की साक्षी नहीं देती है। इस गाथा से इतना ही ज्ञात होता है कि चन्द्रर्षि महत्तर के मत का अनुसरण करने वाली टीका के आधार से सप्ततिका की गाथाएँ (७० के बदले बढ़कर) नवासी (८९) हुई हैं। इस गाथा में यही उल्लेख किया गया है कि सप्ततिका में गाथाओं की वृद्धि का कारण क्या है? किन्तु कर्ता के बारे में कुछ भी नहीं कहा गया है। आचार्य मलयगिरि ने भी अपनी टीका के आदि और अन्त में इसके बारे में कुछ भी संकेत नहीं किया है। इस प्रकार सप्ततिका के कर्ता के बारे में निश्चय रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

चन्द्रर्षि महत्तर आचार्य ने तो पंचसंग्रह की रचना की है और उसमें संग्रह किये गये अथवा गर्भित शतक, सप्ततिका, कषाय-प्राभृत, सत्कर्म और कर्म प्रकृति—ये पाँचों ग्रन्थ चन्द्रर्षि महत्तर से पूर्व हो गये आचार्य की कृति रूप होने से प्राचीन ही हैं। यदि वर्तमान की रूढ़ मान्यता के अनुसार सप्ततिकाकार और पंचसंग्रहकार आचार्य एक ही होते तो भाष्य, चूर्णि आदि के प्रणेताओं के ग्रन्थों में जैसे शतक, सप्ततिका और कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थों के नामों का साक्षी के रूप में उल्लेख किया गया है, वैसे ही पंचसंग्रह के नाम का उल्लेख भी अवश्य किया जाना चाहिए था। परन्तु ऐसा उल्लेख कहीं भी देखने में नहीं आया है। अतएव इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सप्ततिका के रचयिता पंचसंग्रहकार के बजाय अन्य कोई आचार्य ही हैं, जिनका नाम अज्ञात है और वे प्राचीनतम आचार्य हैं।

ऐसी स्थिति में जब शतक की अन्तिम दो गाथाओं (१०४-१०५) से सप्ततिका की मंगलगाथा और अन्तिम गाथा (७२) का मिलान करते हैं तो इस सम्भावना को बल मिलता है कि इन दोनों ग्रन्थों के संकलियता एक ही आचार्य हों। सप्ततिका और शतक की गाथाएँ इस प्रकार हैं—

(१) वोच्छं सुण संखेवं नीसंदं दिट्ठिवायस्स।[1]
(२) कम्मप्पवाय सुयसागरस्स णिस्संदमेत्ताओ।[2]
(३) जो जत्थ अपडिपुन्नो अत्थो अप्पागमेण बद्धो त्ति।
तं खमिऊण बहुसुया पूरेऊणं परिकहंतु॥[3]
(४) बंधविहाण समासो रइओ अप्प सुयमंदमइणाउ।
तं बंध मोक्खणिउणा पूरेऊणं परिकहेंति॥[4]

उक्त उद्धरणों में से जैसे सप्ततिका की मंगलगाथा में इस प्रकरण

१ सप्ततिका, गाथा-संख्या, १ २ शतक, गाथा-संख्या, १०४
३ सप्ततिका, गाथा-संख्या, ७२ ४ शतक, गाथा-संख्या १०५

को दृष्टिवाद अंग की एक बूंद के समान बतलाया है, वैसे ही शतक की गाथा १०४ में उसे कर्मप्रवाद श्रुतरूपी सागर की एक बूंद के समान बतलाया गया है, जैसे सप्ततिका की अन्तिम गाथा में ग्रन्थकर्ता अपनी लघुता को प्रगट करते हुए संकेत करते हैं कि मुझ अल्पज्ञ ने त्रुटि रूप में जो कुछ भी निबद्ध किया है, उसे बहुश्रुत जानकर पूरा करके कथन करें। वैसे ही शतक की १०५वीं गाथा में भी निर्देशित करते हैं कि अल्पश्रुत वाले अल्पज्ञ मैंने जो कुछ भी बन्धविधान का सार कहा है, उसे बन्धमोक्ष की विधि में निपुण जन पूरा करके कथन करें।

इसके अतिरिक्त उक्त गाथाओं में णिस्संद, अप्पागम, अप्पसुयमंदमइ, पूरेऊणं, परिकहंतु—ये पद भी ध्यान देने योग्य हैं।

इन दोनों ग्रन्थों में यह समानता अनायास ही नहीं है। ऐसी समानता उन्हीं ग्रन्थों में देखने को मिलती है या मिल सकती है, जो एक कर्तृक हों या एक-दूसरे के आधार से लिखे गये हों। इससे यह फलितार्थ निकलता है कि बहुत सम्भव है कि शतक और सप्ततिका एक ही आचार्य की कृति हों। शतक की चूर्णि में आचार्य शिवशर्म को उसका कर्ता बतलाया है। ये वे ही आचार्य शिवशर्म हो सकते हैं, जो कर्मप्रकृति, के कर्ता माने गये हैं। इस प्रकार विचार करने पर कर्मप्रकृति, शतक और सप्ततिका—इन तीनों ग्रन्थों के एक ही कर्ता सिद्ध होते हैं।

लेकिन जब कर्मप्रकृति और सप्ततिका का मिलाने करते हैं, तब दोनों की रचना एक आचार्य के द्वारा की गई हो, यह प्रमाणित नहीं होता है। क्योंकि इन दोनों ग्रन्थों में विरुद्ध दो मतों का प्रतिपादन किया गया है। जैसे कि सप्ततिका में अनन्तानुबन्धी चतुष्क को उपशम प्रकृति बतलाया है, किन्तु कर्मप्रकृति के उपशमना प्रकरण में अनन्तानुबन्धी चतुष्क की उपशम विधि और अन्तरकरण विधि का निषेध किया है। अतएव सप्ततिका के कर्ता के बारे में निश्चय करना असम्भव-सा प्रतीत होता है।

यह भी सम्भव है कि इनके संकलनकर्ता एक ही आचार्य हों और इनका संकलन विभिन्न दो आधारों से किया गया हो। कुछ भी हो, किन्तु उक्त आधार से तत्काल ही सप्ततिका के कर्ता शिवशर्म आचार्य हों, ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार सप्ततिका के कर्ता कौन हैं, आचार्य शिवशर्म हैं या आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर हैं अथवा अन्य कोई महानुभाव हैं—निश्चय-पूर्वक कहना कठिन है। परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि कोई भी इसके कर्ता हों, ग्रन्थ महत्वपूर्ण है और इसी कारण अनेक उत्तर-वर्ती आचार्यों ने इस पर भाष्य, अन्तर्भाष्य, चूर्णि, टीका, वृत्ति आदि लिखकर ग्रंथ के हार्द को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। सप्ततिका की टीकाओं आदि का संकेत आगे किया जा रहा है।

रचना काल

ग्रंथकर्ता और रचनाकाल—ये दोनों एक दूसरे पर आधारित हैं। एक का निर्णय हो जाने पर दूसरे के निर्णय करने में सरलता होती है। पूर्व में ग्रंथकर्ता का निर्देश करते समय यह सम्भावना अवश्य प्रगट की गई है कि या तो आचार्य शिवशर्म सूरि ने इसकी रचना की है या इसके पहले लिखा गया हो। साधारणतया आचार्य शिवशर्म सूरि का काल विक्रम की पांचवीं शताब्दि माना गया है। इस हिसाब से विचार करने पर इसका रचनाकाल विक्रम की पांचवीं या इससे पूर्ववर्ती काल सिद्ध होता है। श्री जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ने अपनी विशेषणवती में अनेक स्थानों पर सप्ततिका का उल्लेख किया है और श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमण का समय विक्रम की सातवीं शताब्दी निश्चित है। अतएव पूर्वोक्त काल यदि अनुमानित ही मान लिया जाए तो यह निश्चित है कि सप्ततिका की रचना सातवीं शताब्दी से पूर्व हो गई थी।

इसके अलावा रचनाकाल के बारे में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं है। इतना ही कहा जा सकता है कि सप्त-

तिका की रचना सातवीं शताब्दी के पूर्व हो चुकी थी और इस प्रकार मानने में किसी भी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए।

सप्ततिका की टीकाएं

पूर्व में यह संकेत किया गया है कि संक्षेप में कर्म सिद्धान्त के विभिन्न वर्ण्य-विषयों का कथन करने से सप्ततिका को कर्म-साहित्य के मूल ग्रंथों में माना जाता है। इसीलिए इस पर अनेक उत्तरवर्ती आचार्यों ने भाष्य, टीका, चूर्णि आदि लिखकर इसके अन्तर्हार्द को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। अभी तक सप्ततिका की निम्नलिखित टीकाओं, भाष्य, चूर्णि आदि की जानकारी प्राप्त हुई है—

टीका का नाम	परिमाण	कर्ता	रचनाकाल
अन्तर्भाष्य गाथा	गाथा १०	अज्ञात	अज्ञात
भाष्य	गाथा १६१	अभयदेवसूरि	वि० १२-१३वीं श.
चूर्णि	पत्र १३२	अज्ञात	अज्ञात
चूर्णि	श्लोक २३००	चन्द्रर्षि महत्तर	अनु. ७वीं श.
वृत्ति	श्लोक ३७८०	मलयगिरिसूरि	वि० १२-१३वीं श.
भाष्यवृत्ति	श्लोक ४१५०	मेरुतुंग सूरि	वि० सं० १४८६
टिप्पण	श्लोक ५७०	रामदेवगणी	वि० १२वीं. श.
अवचूरि		गुणरत्न सूरि	वि० १५वीं. शता.

इनमें से चन्द्रर्षि महत्तर की चूर्णि और आचार्य मलयगिरि की वृत्ति प्रकाशित हो चुकी है। इस हिन्दी व्याख्या में आचार्य मलयगिरि सूरि की वृत्ति का उपयोग किया गया है।

टीकाकार आचार्य मलयगिरि

सप्ततिका के रचयिता के समान ही टीकाकार आचार्य मलयगिरि का परिचय भी उपलब्ध नहीं होता है कि उनकी जन्मभूमि, माता-पिता, गच्छ, दीक्षा-गुरु, विद्या-गुरु आदि कौन थे ? उनके विद्याभ्यास, ग्रन्थरचना और विहारभूमि के केन्द्रस्थान कहाँ थे ? उनका

शिष्य-परिवार था या नहीं ? आदि के बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। परन्तु कुमारपाल प्रबन्ध में आगत उल्लेख से उनके आचार्य हेमचन्द्र और महाराज कुमारपाल के समकालीन होने का अनुमान लगाया जा सकता है।

आचार्य मलयगिरि ने अनेक ग्रंथों की टीकाएँ लिखकर साहित्य कोष को पल्लवित किया है। श्री जैन आत्मानन्द ग्रंथमाला, भावनगर द्वारा प्रकाशित टीका से आचार्य मलयगिरि द्वारा रचित टीका-ग्रंथों की संख्या करीब २५ की जानकारी मिलती है। इनमें से १७ ग्रंथ तो मुद्रित हो चुके हैं और छह ग्रंथ अलभ्य हैं।

उक्त टीकाओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने प्रत्येक विषय का प्रतिपादन बड़ी सफलता से किया है और जहाँ भी नये विषय का संकेत करते हैं, वहाँ उसकी पुष्टि के प्रमाण अवश्य देते हैं। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य के टीकाकारों में जो स्थान सायणाचार्य का है, जैन साहित्य में वही स्थान आचार्य मलयगिरि सूरि का है।

अन्य सप्ततिकाएँ

प्रस्तुत सप्ततिका के सिवाय एक सप्ततिका आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर कृत पंचसंग्रह में संकलित है। पंचसंग्रह एक संग्रहग्रन्थ है और यह पाँच भागों में विभक्त है। उसके अन्तिम प्रकरण का नाम सप्ततिका है।

पंचसंग्रह की सप्ततिका की अधिकतर गाथाएँ प्रस्तुत सप्ततिका से मिलता-जुलती हैं और पंचसंग्रह की रचना प्रस्तुत सप्ततिका के बहुत बाद हुई है तथा उसका नाम सप्ततिका होते हुए भी १५६ गाथाएँ हैं। इससे ज्ञात होता है कि पंचसंग्रह की सप्ततिका का आधार यही सप्ततिका रहा है।

एक अन्य सप्ततिका दिगम्बर परम्परा में भी प्रचलित है, जो प्राकृत पंचसंग्रह में उसके अंगरूप से पायी जाती है। प्राकृत पंचसंग्रह

एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें अन्तिम प्रकरण सप्ततिका है। आचार्य अमितगति ने इसी के आधार से संस्कृत पंचसंग्रह की रचना की है, जो गद्य-पद्य का उभय रूप है और इसमें १३०० से अधिक गाथाएँ हैं।

इसके अतिरिक्त दो प्रकरण शतक और सप्ततिका कुछ पाठ-भेद के साथ श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित शतक और सप्ततिका से मिलते-जुलते हैं। प्रस्तुत सप्ततिका में ७२ और दिगम्बर परम्परा की सप्ततिका में ७१ गाथाए हैं। इनमें से ४० गाथाओं के करीब तो एक जैसी हैं, १४-१५ गाथाओं में कुछ पाठान्तर है और शेष गाथाएं अलग-अलग हैं। इसका कारण मान्यता-भेद और शैली का भेद हो सकता है। फिर भी ये मान्यता-भेद सम्प्रदाय-भेद पर आधारित नहीं हैं। इसी प्रकार कहीं-कहीं वर्णन करने की शैली में भेद होने से गाथाओं में अन्तर आ गया है। यह अन्तर उपशमना और क्षपण प्रकरण में देखने को मिलता है।

इस प्रकार यद्यपि इन दोनों सप्ततिकाओं में भेद पड़ जाता है, तो भी ये दोनों एक उद्गम स्थान से निकल कर और बीच-बीच में दो धाराओं से विभक्त होती हुई अन्त में एक रूप हो जाती हैं।

सप्ततिका के बारे में प्रायः आवश्यक बातों पर प्रकाश डाला जा चुका है, अतः अब और अधिक कहने का प्रसंग नहीं है।

इस प्रकार प्राक्कथनों के रूप में कर्मसिद्धान्त और कर्मग्रन्थों के बारे में अपने विचार व्यक्त किए हैं। विद्वद्वर्ग से सानुरोध आग्रह है कि कर्मसाहित्य का विशेष प्रचार एवं अध्ययन अध्यापन के प्रति विशेष लक्ष्य देने की कृपा करें।

—श्रीचन्द सुराना

—देवकुमार जैन

●

अनुक्रमणिका

	पृ० सं०
प्रस्तावना	
कर्मग्रन्थों का महत्व	११
कर्मग्रन्थों का परिचय	१२
आधार और वर्णन का क्रम	१३
नवीन कर्मग्रन्थों की विशेषता	१४
नवीन कर्मग्रन्थों की टीकाएँ	१५
सप्ततिका परिचय	१६
कर्म साहित्य में सप्ततिका का स्थान	१८
सप्ततिका की गाथा संख्या	१९
ग्रन्थकर्ता	२०
रचनाकाल	२३
सप्ततिका की टीकाएँ	२४
टीकाकार आचार्य मलयगिरि	२४
अन्य सप्ततिकायें	२५
मूलग्रन्थ	
गाथा १	१–५
ग्रन्थ की प्रामाणिकता, वर्ण्य विषय का संकेत	१
सिद्ध पद की व्याख्या	२
सप्ततिका प्रकरण की रचना का आधार, महार्थ पद की सार्थकता	३
बंध, उदय, सत्ता और प्रकृति स्थान का स्वरूप निर्देश	
'श्रुणु' क्रियापद की सार्थकता	४
गाथा २	५–१७
शिष्य द्वारा जिज्ञासा का प्रस्तुतीकरण	५
बंध, उदय और सत्ता प्रकृतियों के संवेध भंगों की प्रतिज्ञा	६

मूल कर्मों के बंधस्थान तथा उनके स्वामी और काल का निर्देश ६
मूलकर्मों के बंधस्थानों आदि का विवरण ८
मूलकर्मों के उदयस्थान तथा उनके स्वामी और काल का निर्देश १०
उदयस्थान आदि का विवरण १२
मूलकर्मों के सत्तास्थान तथा उनके स्वामी और काल का निर्देश १४
सत्तास्थान आदि का विवरण १७
गाथा ३ १७–२२
मूल कर्मों के बंध, उदय और सत्ता स्थानों के संवेध भंगों का निर्देश १८
मूल कर्मों के उक्त संवेध भंगों का स्वामी और काल सहित विवरण २०
गाथा ४ २२–२७
मूल कर्मों के जीवस्थानों में संवेध भंग २२
आदि के तेरह जीवस्थानों के भंगों का विवरण २४
संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान के संवेध भंगों का विवरण तथा उनका स्पष्टीकरण २५
चौदह जीवस्थानों के संवेध भंगों का विवरण २६
गाथा ५ २७–३०
मूल कर्मों के गुणस्थानों में संवेध भंग २८
मूल प्रकृतियों के गुणस्थानों में बंध उदय सत्ता संवेध भंगों का विवरण २८
गाथा ६ ३०–३४
ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म की उत्तर प्रकृतियों के संवेध भंग ३२

उक्त दोनों कर्मों के संवेध भंगों का गुणस्थान, जीवस्थान और काल सहित विवरण ३४
गाथा ७ ३४–३६
दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियों के बन्ध, उदय और सत्ता स्थान ३५
दर्शनावरण कर्म के बन्ध, उदय और सत्तास्थान दर्शक विवरण ३६
गाथा ८, ६ (प्रथम पंक्ति) ३६–४६
दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियों के संवेध भंग ४०
दर्शनावरण कर्म के संवेध भंगों सम्बन्धी मतान्तर ४२
दर्शनावरण कर्म के संवेध भंगों का दर्शक विवरण ४५
गाथा ६ (द्वितीय पंक्ति) ४६–६४
वेदनीय, आयु और गोत्रकर्म की उत्तर प्रकृतियों के संवेध भंगों के कहने की प्रतिज्ञा ४७
वेदनीयकर्म की उत्तर प्रकृतियों के संवेध भंग ४६
आयुकर्म की उत्तर प्रकृतियों के संवेध भंग के कथन की पूर्व भूमिका ५०
नरकायु के संवेध भंग ५१
नरकगति की आयुबन्ध सम्बन्धी विशेषता ५२
नरकगति में आयुकर्म के संवेध भंगों का दर्शक विवरण ५२
देवायु के संवेध भंग ५२
देवगति में आयुकर्म के संवेध भंगों का दर्शक विवरण ५३
तिर्यंचायु के संवेध भंग ५३
तिर्यंचगति में आयुकर्म के संवेध भंगों का दर्शक विवरण ५५
मनुष्यायु के संवेध भंग ५५
मनुष्यगति के उपरतबन्ध के भंगों की विशेषता ५७
मनुष्यगति में आयुकर्म के संवेध भंगों का दर्शक विवरण ५८
प्रत्येक गति में आयुकर्म के भंग लाने का नियम ५६

गोत्रकर्म की उत्तर प्रकृतियों के संवेध भंग ६०
गोत्रकर्म के संवेध भंगों का दर्शक विवरण ६३
गाथा १० ६४–६६
मोहनीयकर्म की उत्तर प्रकृतियों के बन्धस्थान ६५
बन्धस्थानों के समय और स्वामी ६७
मोहनीयकर्म के बन्धस्थानों का स्वामी और काल सहित विवरण ६६
गाथा ११ ६६–७३
मोहनीयकर्म की उत्तर प्रकृतियों के उदयस्थान ७०
स्वामी और काल सहित उक्त उदयस्थानों का दर्शक विवरण ७२
गाथा १२, १३ ७४–८७
मोहनीयकर्म की उत्तर प्रकृतियों के सत्तास्थान, स्वामी और काल ७४
अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना : जयधवला ७६
अट्ठाइस प्रकृतिक सत्तास्थान का उत्कृष्ट काल : मत-भिन्नता ७६
सत्तास्थानों के स्वामी और काल सम्बन्धी दिगम्बर साहित्य का मत ७७
स्वामी और काल सहित मोहनीयकर्म के सत्तास्थानों का दर्शक विवरण ८६
गाथा १४ ८७–९०
मोहनीयकर्म की उत्तर प्रकृतियों के बन्धस्थानों के भंग ८७
गाथा १५, १६, १७ ९०–१०६
मोहनीय कर्म के बन्धस्थानों में उदयस्थानों का निर्देश ९०
मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी के उदय से रहित उदयस्थान की सम्भवता का निर्देश ९७

श्रेणिगत और अश्रेणिगत सासादन सम्यग्दृष्टि का न होने का विवेचन १००
दो प्रकृतिक उदयस्थानों में भंगों की मतभिन्नता १०३
गाथा १८ ११०–११४
मोहनीयकर्म के उदयस्थानों के भंग ११०
बंधस्थान, उदयस्थान के संवेध भंगों का दर्शक विवरण ११४
गाथा १९ ११४–११७
उदयस्थानों के कुल भंगों एवं पदवृन्दों की संख्या ११५
गाथा २० ११७–१२२
उदयस्थान व पदसंख्या ११७
उदयस्थानों का काल १२०
मोहनीय कर्म के उदयविकल्पों और पदविकल्पों का दर्शक विवरण १२०
गाथा २१, २२ १२२–१४२
मोहनीयकर्म के सत्तास्थानों के साथ बंधस्थानों का संवेध निरूपण १२३
मोहनीयकर्म के बंध, उदय और सत्ता स्थानों के भंगों का दर्शक विवरण १४०
गाथा २३ १४२
मोहनीयकर्म के बंध आदि स्थानों का निर्देश करने वाली उपसंहार गाथा १४२
नामकर्म के बन्ध आदि स्थानों का कथन करने की प्रतिज्ञा १४२
गाथा २४ १४२–१५५
नामकर्म की उत्तर प्रकृतियों के बन्धस्थान १४२
नामकर्म के बन्धस्थानों के स्वामी और उनके भंगों का निर्देश १४४

गाथा २५ १५६–१५८
नामकर्म के प्रत्येक बंधस्थान के भंग १५६
नामकर्म के बन्धस्थानों के भंगों का दर्शक विवरण १५६
गाथा २६ १५८–१७९
नामकर्म के उदयस्थान १६०
नामकर्म के उदयस्थानों के स्वामी और उनके भंगों का निर्देश १६३
गाथा २७, २८ १७९–१८४
नामकर्म के उदयस्थानों के भंग १८०
उदयस्थानों के भंगों का दर्शक विवरण १८३
गाथा २९ १८४–१८७
नामकर्म के सत्तास्थान १८४
नामकर्म के सत्तास्थान और गो० कर्मकाण्ड का अभिमत १८६
गाथा ३० १८७–१८८
नामकर्म के बन्ध आदि स्थानों के संवेध कथन की प्रतिज्ञा १८८
गाथा ३१, ३२ १८८–२०९
ओघ से नामकर्म के संवेध का विचार १९०
नामकर्म के बंधादि स्थान व उनके भंगों का दर्शक विवरण २०५
गाथा ३३ २०९–२१०
जीवस्थानों और गुणस्थानों में उत्तरप्रकृतियों के बंधादि स्थानों के भंगों का विचार प्रारम्भ करने की प्रतिज्ञा २१०
गाथा ३४ २१०–२१३
जीवस्थान में ज्ञानावरण और अन्तरायकर्म के बंधादि स्थानों के संवेध भंगों का विचार २११
गाथा ३५ २१३–२२१
जीवस्थानों में दर्शनावरण कर्म के बंधादि स्थानों के संवेध भंगों का विचार २१३

जीवस्थानों में वेदनीय, आयु और गोत्रकर्म के बंधादि स्थानों के संवेध भंगों का विचार २१४
जीवस्थानों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, आयु, गोत्र और अन्तराय कर्मों के भंगों का दर्शक विवरण २२१
मोहनीय कर्म के भंगों का कथन करने की प्रतिज्ञा २२१
गाथा ३६ २२१–२२८
जीवस्थानों में मोहनीयकर्म के बंधादि स्थानों के संवेध भंगों का विचार २२२
जीवस्थानों में मोहनीयकर्म में संवेध भंगों का दर्शक विवरण २२७
गाथा ३७, ३८ २२८–२५४
जीवस्थानों में नामकर्म के बंधादि स्थानों के भंगों का निर्देश २२८
जीवस्थानों में बंधस्थान और उनके भंगों का दर्शक विवरण २४८
जीवस्थानों में उदयस्थान और उनके भंगों का दर्शक विवरण २५१
जीवस्थानों में नामकर्म की प्रकृतियों के बंध, उदय और सत्ता स्थानों के भंगों का दर्शक विवरण २५३
गाथा ३९ (प्रथम पंक्ति) २५४–२५५
गुणस्थानों में ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म के बंधादि-स्थानों के भंगों का विचार २५४
गाथा ३९ (द्वितीय पंक्ति), ४०, ४१ (प्रथम पंक्ति) २५५–२६०
गुणस्थानों में दर्शनावरण कर्म के बंधादिस्थानों के भंगों का विचार २५७
गाथा ४१ (द्वितीय पंक्ति) २६०–२६९
गुणस्थानों में वेदनीयकर्म के बंधादिस्थानों के भंगों का विचार २६१
गुणस्थानों में गोत्रकर्म के बंधादिस्थानों के भंगों का विचार २६२

गुणस्थानों में आयुकर्म के बंधादिस्थानों के भंगों का विचार २६५
गुणस्थानों में मोहनीय और नामकर्म के सिवाय शेष कर्मों के बंधादि स्थानों के भंगों का दर्शक विवरण २६८

गाथा ४२ २६६–२७१

गुणस्थानों में मोहनीयकर्म के बंधस्थानों का विचार २७०

गाथा ४३, ४४, ४५ २७२–२७६

गुणस्थानों में मोहनीयकर्म के उदयस्थानों का विचार २७२

गाथा ४६ २७६–२८३

गुणस्थानों की अपेक्षा उदयस्थानों के भंग २७६
गुणस्थानों की अपेक्षा उदयविकल्पों और पदवृन्दों का दर्शक विवरण २८२

गाथा ४७ २८३–३०३

योग, उपयोग और लेश्याओं में संवेध भंगों की सूचना २८४
योग की अपेक्षा गुणस्थानों में उदयविकल्पों का विचार २८८
योग की अपेक्षा उदयविकल्पों का दर्शक विवरण २८६
योग की अपेक्षा गुणस्थानों में पदवृन्दों का विचार २६०
योग की अपेक्षा पदवृन्दों का दर्शक विवरण २६४
उपयोगों की अपेक्षा गुणस्थानों में उदयस्थानों का विचार २६५
उपयोगों की अपेक्षा उदयविकल्पों का दर्शक विवरण २६६
उपयोगों की अपेक्षा पदवृन्दों का विचार २६७
उपयोगों की अपेक्षा पदवृन्दों का दर्शक विवरण २६६
लेश्याओं की अपेक्षा गुणस्थानों में उदयस्थानों का विचार २६६
लेश्याओं की अपेक्षा उदयविकल्पों का दर्शक विवरण ३००
लेश्याओं की अपेक्षा पदवृन्दों का विचार ३०१
लेश्याओं की अपेक्षा पदवृन्दों का दर्शक विवरण ३०२

गाथा ४८ ३०३–३०७
गुणस्थानों में मोहनीयकर्म के सत्तास्थान ३०३
गुणस्थानों में मोहनीयकर्म के बंधादि स्थानों के संवेध भंगों का विचार ३०४
गाथा ४९, ५० ३०७–३४७
गुणस्थानों में नामकर्म के बंधादि स्थान का विचार ३०९
मिथ्यात्व गुणस्थान में नामकर्म के बंधादि स्थान व संवेध भंगों का विचार ३११
मिथ्यात्व गुणस्थान में नामकर्म के संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३१९
सासादन गुणस्थान में नामकर्म के बंधादि स्थान व संवेध भंगों का विचार ३२१
सासादन गुणस्थान में नामकर्म के संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३२६
मिश्र गुणस्थान में नामकर्म के बंधादि स्थानों व संवेध भंगों का विचार ३२७
मिश्र गुणस्थान में नामकर्म के संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३२८
अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में नामकर्म के बंधादि स्थानों व संवेध भंगों का विचार ३२८
अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३३३
देशविरति गुणस्थान में नामकर्म के बंधादि स्थानों व संवेध भंगों का विचार ३३४
देशविरति गुणस्थान में संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३३६
प्रमत्तविरत गुणस्थान में नामकर्म के बंधादि स्थानों और संवेध भंगों का विचार ३३९

प्रमत्तविरत गुणस्थान में नामकर्म के संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३३८
अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में नामकर्म के बंधादि स्थानों और संवेध भंगों का विचार ३३८
अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३४०
अपूर्वकरण गुणस्थान में नामकर्म के बंधादिस्थानों व संवेध भंगों का विचार ३४१
अपूर्वकरण गुणस्थान में संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३४३
अनिवृत्तिबादर, सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानों में नामकर्म के बंधादि स्थानों व संवेध भंगों का विचार ३४३
उपशान्तमोह, क्षीणमोह गुणस्थानों में नामकर्म के बंधादि स्थानों व संवेध भंगों का विचार ३४५
सयोगिकेवली गुणस्थान में नामकर्म के उदय व सत्ता स्थानों का विचार व उनके संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३४६
अयोगिकेवली गुणस्थान में नामकर्म के उदय व सत्ता स्थानों के संवेध का विचार व उनका दर्शक विवरण ३४७
गाथा ५१ ३४८–३६१
गतिमार्गणा में नामकर्म के बंधादि स्थानों का विचार ३४८
नरक आदि गतियों में बन्धस्थान ३४९
नरकगति में संवेध भंगों का विचार ३५०
नरकगति में संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३५१
तिर्यंचगति में संवेध भंगों का विचार ३५२
तिर्यंचगति में संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३५३
मनुष्यगति में संवेध भंगों का विचार ३५६
मनुष्यगति में संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३५७
देवगति में संवेध भंगों का विचार ३६०
देवगति में संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३६०

गाथा ५२ ३६१–३७०
इन्द्रिय मार्गणा में नामकर्म के बंधादिस्थान ३६२
एकेन्द्रिय मार्गणा में संवेध भंगों का विचार ३६३
एकेन्द्रिय मार्गणा में संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३६३
विकलत्रयों में संवेध भंगों का विचार ३६४
विकलत्रयों में संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३६५
पंचेन्द्रियों में संवेध भंगों का विचार ३६६
पंचेन्द्रियों में संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३६८
गाथा ५३ ३७०–३७५
बंधादि स्थानों की आठ अनुयोगद्वारों में कथन करने की सूचना ३७०
मार्गणाओं में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, आयु, गोत्र और अन्तराय कर्म के बंधादि स्थानों का दर्शक विवरण ३७३
मार्गणाओं में मोहनीयकर्म के बन्ध, उदय, सत्ता स्थानों व उनके संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३७५
मार्गणाओं के नाम कर्म के बंध, उदय, सत्ता स्थानों और उनके संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३७५
गाथा ५४ ३७५–३७८
उदय उदीरणा में विशेषता का निर्देश ३७६
गाथा ५५ ३७८–४८१
४१ प्रकृतियों के नामों का निर्देश, जिनके उदय और उदीरणा में विशेषता है ३७८
गाथा ५६ ३८१–३८२
गुणस्थानों में प्रकृतियों के बंध के निर्देश की सूचना ३८१
मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थान की बंधयोग्य प्रकृतियाँ और कारण ३८२

गाथा ५७ ३८३–३८६
मिश्र आदि प्रमत्तविरत पर्यन्त चार गुणस्थानों की बंधयोग्य प्रकृतियों की संख्या और कारण ३८४
गाथा ५८ ३८६–३८८
अप्रमत्तसंयत गुणस्थान की बंधयोग्य प्रकृतियाँ और उसका कारण ३८६
अपूर्वकरण गुणस्थान की बन्धयोग्य प्रकृतियों की संख्या व कारण ३८७
गाथा ५९ ३८८–३९२
अनिवृत्तिबादर से लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक की बन्धयोग्य प्रकृतियां और उनका कारण ३८९
गुणस्थानों में बन्ध प्रकृतियों का दर्शक विवरण ३९१
गाथा ६० ३९२–३९३
मार्गणाओं में बन्धस्वामित्व को जानने की सूचना ३९२
गाथा ६१ ३९३–३९५
गतियों में प्रकृतियों की सत्ता का विचार ३९३
गाथा ६२ ३९५–४२०
उपशम श्रेणी के विचार का प्रारम्भ ३९५
अनन्तानुबन्धी चतुष्क की उपशम विधि ३९६
अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना विधि ४०४
दर्शनमोहनीय की उपशमना विधि ४०८
चारित्रमोहनीय की उपशमना विधि ४०९
उपशमश्रेणि से च्युत होकर जीव किस-किस गुणस्थान को प्राप्त होता है, इसका विचार ४१९
एक भव में कितनी बार उपशमश्रेणि पर आरोहण हो सकता है ४२०

गाथा ६३ ४२०–४३३

क्षपकश्रेणि के विचार का प्रारम्भ ४२५
क्षपकश्रेणि का आरम्भक कौन होता है ४२७
क्षपकश्रेणि में क्षय होने वाली प्रकृतियों का निर्देश व तत्सम्बन्धी मतान्तर ४२७
पुरुषवेद के आधार से क्षपकश्रेणि का वर्णन ४२८

गाथा ६४ ४३३–४३८

संज्वलन चतुष्क के क्षय के क्रम का वर्णन ४३३
समुद्घात की व्याख्या और उसके भेद ४३६
केवली समुद्घात का विवेचन ४३६
योग निरोध की प्रक्रिया ४३७
सयोगिकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय में सत्ता-विच्छेद को प्राप्त होने वाली प्रकृतियों का निर्देश ४३८
अयोगिकेवली गुणस्थान के कार्य विशेष ४३८

गाथा ६५ ४३८–४४०

अयोगिकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय में क्षय होने वाली प्रकृतियों का निर्देश ४३९

गाथा ६६ ४४०–४४२

अयोगिकेवली गुणस्थान में उदयप्राप्त प्रकृतियों का निर्देश ४४१

गाथा ६७ ४४२

अयोगिकेवली गुणस्थान में उदयप्राप्त नामकर्म की नौ प्रकृतियाँ ४४२

गाथा ६८ ४४२–४४४

मनुष्यानुपूर्वी की सत्ता सम्बन्धी मतभेद का निर्देश ४४३

गाथा ६६ ४४४–४४६

अन्य आचार्य अयोगिकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय में मनुष्यानुपूर्वी की सत्ता क्यों मानते हैं ? ४४४

गाथा ७० ४४६–४५०

कर्मक्षय के अनन्तर निष्कर्म शुद्ध आत्मस्वरूप का वर्णन ४४७

गाथा ७१ ४५०–४५१

ग्रंथ का उपसंहार ४५०

गाथा ७२ ४५१–४५२

लघुता प्रदर्शित करते हुए ग्रंथ की समाप्ति ४५२

परिशिष्ट

परिशिष्ट १—षष्ठ कर्मग्रंथ की मूल गाथायें १

परिशिष्ट २—छह कर्मग्रंथों में आगत पारिभाषिक शब्दों का कोष ६

परिशिष्ट ३—कर्मग्रंथों की गाथाओं एवं व्याख्या में आगत पिण्डप्रकृति-सूचक शब्दों का कोष ६८

परिशिष्ट ४—सप्ततिका प्रकरण की गाथाओं का अकारादि अनुक्रम ७७

परिशिष्ट ५—कर्मग्रंथों की व्याख्या में प्रयुक्त सहायक ग्रंथों की सूची। ८१

तालिकाएं

मार्गणाओं में मोहनीयकर्म के बन्ध, उदय, सत्ता स्थानों व उनके संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३७५

मार्गणाओं में नाम कर्म के बंध, उदय सत्ता स्थानों और उनके संवेध भंगों का दर्शक विवरण ३७५

६

कर्मग्रन्थ

[सप्ततिका प्रकरण : भाग छठा]

अबाधित होती है। विद्वानों को निश्चिन्त होकर ऐसे ग्रन्थों का अध्ययन, मनन और चिन्तन करना चाहिये। इसीलिए आचार्य मलयगिरि ने गाथागत 'सिद्धपएहिं' सिद्धपद के निम्नलिखित दो अर्थ किये हैं—

जिन ग्रन्थों के सब पद सर्वज्ञोक्त अर्थ का अनुसरण करने वाले होने से सुप्रतिष्ठित हैं, जिनमें निहित अर्थगाम्भीर्य को किसी भी प्रकार से विकृत नहीं किया जा सकता है, अथवा शंका पैदा नहीं होती है, वे ग्रन्थ सिद्धपद कहे जाते हैं।[1] अथवा जिनागम में जीवस्थान, गुणस्थान रूप पद प्रसिद्ध हैं, अतएव जीवस्थानों, गुणस्थानों का बोध कराने के लिये गाथा में 'सिद्धपद' दिया गया है।[2]

उक्त दोनों अर्थों में से प्रथम अर्थ के अनुसार 'सिद्धपद' शब्द कर्मप्रकृति आदि प्राभृतों का वाचक है, क्योंकि इस सप्ततिका नामक प्रकरण का विषय उन ग्रन्थों के आधार से ग्रन्थकार ने संक्षेप रूप में निबद्ध किया है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए गाथा के चौथे चरण में संकेत दिया गया है—'नीसंदं दिट्ठिवायस्स'—दृष्टिवादरूपी महार्णव की एक बूँद के समान है। दृष्टिवादरूपी महार्णव की एक बूँद जैसा बतलाने का कारण यह है कि दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग के परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका यह पाँच भेद हैं। उनमें से पूर्वगत के उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद हैं। उनमें दूसरे पूर्व का नाम अग्रायणीय है और उसके मुख्य चौदह अधिकार हैं, जिन्हें वस्तु

---

१. सिद्धं—प्रतिष्ठितं चालयितुमशक्यमित्येकोऽर्थः। ततः सिद्धानि पदानि येषु ग्रन्थेषु ते सिद्धपदाः।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १३९

२. स्वसमये सिद्धानि—प्रसिद्धानि यानि जीवस्थान-गुणस्थानरूपाणि पदानि तानि सिद्धपदानि, तेभ्यः तान्याश्रित्य तेषु विषय इत्यर्थः।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १३९

श्री वीतरागाय नमः

सप्ततिका प्रकरण

[षष्ठ कर्मग्रन्थ]

सप्ततिका प्रकरण के आधार, अभिधेय एवं अर्थगांभीर्य को प्रदर्शित करने वाली प्रतिज्ञा गाथा—

सिद्धपएहि महत्थं बन्धोदयसन्तपयडिठाणाणं ।
वोच्छं सुण संखेवं नीसंदं दिट्ठिवायस्स ॥१॥

शब्दार्थ—**सिद्धपएहि**—सिद्धपद वाले ग्रन्थों से, **महत्थं**—महान अर्थ वाले, **बंधोदयसंतपयडिठाणाणं**—बंध, उदय और सत्ता प्रकृतियों के स्थानों को, **वोच्छं**—कहूँगा, **सुण**—सुनो, **संखेव**—संक्षेप में, **नीसंदं**—निस्यन्द रूप, बिन्दु रूप, **दिट्ठिवायस्स**—दृष्टिवाद अंग का ।

गाथार्थ—सिद्धपद वाले ग्रन्थों के आधार से बंध, उदय और सत्ता प्रकृतियों के स्थानों को संक्षेप में कहूँगा, जिसे सुनो । यह संक्षेप कथन महान् अर्थ वाला और दृष्टिवाद अंग रूपी महार्णव के निस्यन्द रूप—एक बिन्दु के समान है ।

विशेषार्थ—गाथा में ग्रन्थ की प्रामाणिकता, वर्ण्य-विषय आदि का संकेत किया है । सर्वप्रथम ग्रन्थ की प्रामाणिकता का बोध कराने के लिए पद दिया है 'सिद्धपएहि' यानी यह ग्रन्थ सिद्ध अर्थ के आधार से रचा गया है । इस ग्रन्थ में वर्णित विषय में किसी प्रकार से पूर्वापर विरोध नहीं है ।

जिस ग्रन्थ, शास्त्र या प्रकरण का मूल आधार सर्वज्ञ वाणी होती है, वही ग्रन्थ विद्वानों ने लिए आदरणीय है और उसकी प्रामाणिकता

कहते हैं। उनमें से पांचवीं वस्तु के बीस उप-अधिकार हैं जिन्हें प्राभृत कहते हैं और इनमें से चौथे प्राभृत का नाम कर्मप्रकृति है। इसी कर्म-प्रकृति का आधार लेकर इस सप्ततिका प्रकरण की रचना हुई है।

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह प्रकरण सर्वज्ञदेव द्वारा कहे गये अर्थ का अनुसरण करने वाला होने से प्रामाणिक है। क्योंकि सर्वज्ञदेव अर्थ का उपदेश देते हैं, तदनन्तर उसकी अवधारणा करके गणधरों द्वारा वह द्वादश अंगों में निबद्ध किया जाता है। अन्य आचार्य उन बारह अंगों को साक्षात् पढ़कर या परम्परा से जानकर ग्रन्थ रचना करते हैं। यह प्रकरण भी गणधर देवों द्वारा निबद्ध सर्वज्ञ देव की वाणी के आधार से रचा गया है।

'सिद्धपद' का दूसरा अर्थ गुणस्थान, जीवस्थान लेने का तात्पर्य यह है कि इनका आधार लिए बिना कर्मप्रकृतियों के बंध, उदय और सत्ता का वर्णन नहीं किया जा सकता है। अतः उनका और उनमें बंध, उदय, सत्ता स्थानों एवं उनके संवेध भंगों का बोध कराने के लिए 'सिद्धपद' का अर्थ जीवस्थान और गुणस्थान भी माना जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यद्यपि हम यह जान लेते हैं कि इस सप्ततिका नामक प्रकरण में कर्मप्रकृति प्राभृत आदि के विषय का संक्षेप किया गया है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि इसमें अर्थगाम्भीर्य नहीं है। यद्यपि ऐसे बहुत से आख्यान, आलापक और संग्रहणी आदि ग्रंथ हैं जो संक्षिप्त होकर भी अर्थगौरव से रहित होते हैं, किन्तु यह ग्रन्थ उनमें से नहीं है। अर्थात् ग्रन्थ को संक्षिप्त अवश्य किया गया है लेकिन इस संक्षेप रूप में अर्थगांभीर्य पूर्णरूप से भरा हुआ है। विशेषताओं में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आई है। इसी बात का ज्ञान कराने के लिए ग्रन्थकार ने गाथा में विशेषण रूप से 'महत्थं' महार्थ पद दिया है।

ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की विशेषताओं को बतलाने के बाद विषय का

निर्देश करते हुए कहा है—'बन्धोदयसंतपयडिठाणाणं वोच्छ'—बंध, उदय और सत्ता प्रकृति स्थानों का कथन किया जा रहा है। जिनके लक्षण इस प्रकार हैं—लोहपिंड के प्रत्येक कण में जैसे अग्नि प्रविष्ट हो जाती है, वैसे ही कर्म-परमाणुओं का आत्मप्रदेशों के साथ परस्पर जो एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध होता है, उसे बंध कहते हैं।[1] विपाक अवस्था को प्राप्त हुए कर्म-परमाणुओं के भोग को उदय कहते हैं।[2] बंध-समय से या संक्रमण-समय से लेकर जब तक उन कर्म-परमाणुओं का अन्य प्रकृतिरूप से संक्रमण नहीं होता या जब तक उनकी निर्जरा नहीं होती, तब तक उनका आत्मा के साथ संबद्ध रहने को सत्ता कहते हैं।[3]

स्थान शब्द समुदायवाची है, अतः प्रकृतिस्थान पद से दो, तीन, आदि प्रकृतियों के समुदाय को ग्रहण करना चाहिए।[4] ये प्रकृतिस्थान बंध, उदय और सत्त्व के भेद से तीन प्रकार से हैं। जिनका इस ग्रन्थ में विवेचन किया जा रहा है।

गाथा में आगत 'सुण' क्रियापद द्वारा ग्रन्थकार ने यह ध्वनित किया है कि आचार्य शिष्यों को सम्बोधित एवं सावधान करके शास्त्र का व्याख्यान करें। क्योंकि बिना सावधान किये ही अध्ययन

---

१. तत्र बंधो नाम—कर्मपरमाणूनामात्मप्रदेशैः सह क्षीरोदकवदन्योऽन्यानुगमः। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १४०

२. कर्मपरमाणूनामेव विपाकप्राप्तानामनुभवनमुदयः।
—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १४०

३. बन्धसमयात् संक्रमणसमयाद्वा आरभ्य यावत् ते कर्मपरमाणवो नान्यत्र संक्रम्यन्ते यावद् वा न क्षयमुपगच्छन्ति तावत् तेषां स्वस्वरूपेण यः सद्भावः सा सत्ता। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १४०

४. प्रकृतीनां स्थानानि—समुदायाः प्रकृतिस्थानानि द्वित्र्यादिप्रकृतिसमुदाया इत्यर्थः, स्थानशब्दोऽत्र समुदायवाची।—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १४०

पठन-पाठन किये जाने की स्थिति में उसका लाभ शिष्य न उठा सकें और स्वयं आचार्य खेदखिन्न हो जायें। अतः वैसी स्थिति न बने और शिष्य आचार्य के व्याख्यान को यथाविधि हृदयंगम कर सकें, इसी बात को बतलाने के लिए गाथा में 'सुण' यह क्रियापद दिया गया है।

इस प्रकार से ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय आदि का बोध कराने के पश्चात् अब ग्रन्थ प्रारम्भ करते हैं। ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय बन्ध, उदय और सत्व प्रकृतिस्थानों के संवेध रूप संक्षेप में कहना है। अतः शिष्य आचार्य के समक्ष अपनी जिज्ञासा पूर्ति के लिये प्रश्न करते हैं कि—

कइ बंधंतो वेयइ कइ कइ वा पयडिसंतठाणाणि।
मूलुत्तरपगईसुं भंगविगप्पा उ बोधव्वा ॥२॥

शब्दार्थ—**कइ**—कितनी प्रकृतियों का, **बंधंतो**—बंध करने वाला, **वेयइ**—वेदन करता है, **कइ-कइ**—कितनी-कितनी; **वा**—अथवा, **पयडिसंतठाणाणि**—प्रकृतियों का सत्तास्थान, **मूलुत्तरपगईसुं**—मूल और उत्तर प्रकृतियों के विषय में, **भंगविगप्पा**—भंगों के विकल्प, **उ**—और, **बोधव्वा**—जानना चाहिये।

गाथार्थ—कितनी प्रकृतियों का बंध करने वाले जीव के कितनी प्रकृतियों का वेदन होता है तथा कितनी प्रकृतियों का बंध और वेदन करने वाले जीव के कितनी प्रकृतियों का सत्व होता है? तो मूल और उत्तर प्रकृतियों के विषय में अनेक भंग-विकल्प जानना चाहिए।

विशेषार्थ—ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय बंध आदि प्रकृतिस्थानों का कथन करना है। अतः शिष्य शंका प्रस्तुत करता है कि कितनी प्रकृतियों का बंध होते समय कितनी प्रकृतियों का उदय होता है आदि। शिष्य की उक्त शंका का समाधान करते हुए आचार्य उत्तर देते हैं कि मूल और उत्तर प्रकृतियों के विषय में अनेक भंग जानना चाहिए। अर्थात् कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृतियों में अनेक प्रकार के भंग-

विकल्प बनते हैं, किन्तु वाचाशक्ति की मर्यादा होने के कारण जिनका पूर्णरूपेण कथन किया जाना सम्भव नहीं होने से क्रमशः मूल और उत्तर प्रकृतियों में सामान्यतया उन विकल्पों का कथन करते हैं।

इस प्रकार इस गाथा के वाच्यार्थ पर विचार करने पर दो बातों की सूचना मिलती है। प्रथम यह कि इस प्रकरण में मुख्यतया पहले मूल प्रकृतियों और इसके बाद उत्तर प्रकृतियों के बन्ध-प्रकृतिस्थानों, उदय-प्रकृतिस्थानों और सत्व-प्रकृतिस्थानों का तथा उनके परस्पर संवेध[1] और उनसे उत्पन्न हुए भंगों का विचार किया गया है। दूसरी बात यह है कि उन भंग-विकल्पों को यथास्थान जीवस्थानों और गुणस्थानों में घटित करके बतलाया गया है।

इस विषय-विभाग को ध्यान में रखकर टीका में सबसे पहले आठ मूल प्रकृतियों के बंध-प्रकृतिस्थानों, उदय-प्रकृतिस्थानों, और सत्व-प्रकृतिस्थानों का कथन किया गया है। क्योंकि इनका कथन किये बिना आगे की गाथा में बतलाये गये इन स्थानों के संवेध का सरलता से ज्ञान नहीं हो सकता है। साथ ही प्रसंगानुसार इन स्थानों के स्वामी और काल का निर्देश किया गया है, जिनका स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है।

बंधस्थान, स्वामी और उनका काल

कर्मों की मूल प्रकृतियों के निम्नलिखित आठ भेद हैं—१. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र और ८. अंतराय। इनके स्वरूप, लक्षण बतलाये जा चुके हैं। मूल कर्म प्रकृतियों के आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, छह

---

१. संवेधः परस्परमेककालामागमविरोधेन योजनम्।

कर्मप्रकृति बन्धोदय०, पृ० ६५.

प्रकृतिक और एक प्रकृतिक इस प्रकार कुल चार बंधस्थान होते हैं।[1]

इनमें से आठ प्रकृतिक बंधस्थान में सब मूल प्रकृतियों का, सप्त प्रकृतिक बंधस्थान में आयुकर्म के बिना सात का, छह प्रकृतिक बंधस्थान में आयु और मोहनीय कर्म के बिना छह का और एक प्रकृतिक बंधस्थान में सिर्फ एक वेदनीय कर्म का ग्रहण होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आयुकर्म का बंध करने वाले जीव के आठों कर्मों का, मोहनीय कर्म को बांधने वाले जीव के आठों का या आयु के बिना सात का; ज्ञानावरण, दर्शनावरण, नाम, गोत्र और अंतराय कर्म का बंध करने वाले जीव के आठ का, सात का या छह का तथा एक वेदनीय कर्म का बंध करने वाले जीव के आठ का, सात का छह का या एक वेदनीय कर्म का बंध होता है।[2]

अब उक्त प्रकृतिक बंध करने वालों का कथन करते हैं।

आयुकर्म का बंध सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होता है किन्तु मिश्र गुणस्थान में आयुबंध नहीं होने का नियम होने से मिश्र गुणस्थान के बिना शेष छह गुणस्थान वाले आयुबंध के समय आठ प्रकृतिक बंधस्थान के स्वामी होते हैं। मोहनीय कर्म का बंध नौवें गुणस्थान तक होता है अतः पहले से लेकर नौवें गुणस्थान तक के जीव सात प्रकृतिक बंधस्थान के स्वामी हैं। किन्तु जिनके आयुकर्म का भी बंध होता हो वे सात प्रकृतिक बंधस्थान के स्वामी नहीं होते

---

१ तत्र मूलप्रकृतीनामुक्तस्वरूपाणां बंधं प्रतीत्य चत्वारि प्रकृतिस्थानानि तद्यथा—अष्टौ, सप्त, षड्, एका च।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १४१

२ आउम्मि अट्ठ मोहेऽट्ठसत्त एक्कं च छाइ वा तइए।
बज्झंतयम्मि बज्झंति सेसएसुं छ सत्तट्ठ॥

—पंचसंग्रह सप्ततिका, गा० २

हैं, आठ प्रकृतिक बंधस्थान के स्वामी माने जाते हैं। आयु और मोहनीय कर्म के बिना शेष छह कर्मों का बन्ध केवल दशवें गुणस्थान-सूक्ष्मसंपराय में होता है। अतः सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान वाले जीव छह प्रकृतिक बंधस्थान के स्वामी हैं। वेदनीय कर्म का बंध ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में होता है, अतः उक्त तीन गुणस्थान वाले जीव एक प्रकृतिक बंधस्थान के स्वामी हैं।[1]

इन बंधस्थानों का काल इस प्रकार है कि आठ प्रकृतिक बंधस्थान आयुकर्म के बंध के समय होता है और आयुकर्म का जघन्य व उत्कृष्ट बंधकाल अन्तर्मुहूर्त है। अतः आठ प्रकृतिक बंधस्थान का जघन्य व उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जानना चाहिए।

सात प्रकृतिक बंधस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। क्योंकि जो अप्रमत्तसंयत जीव आठ मूल प्रकृतियों का बन्ध करके सात प्रकृतियों के बंध का प्रारम्भ करता है, वह यदि उपशम श्रेणि पर आरोहण करके अन्तर्मुहूर्त काल में सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान को प्राप्त हो जाता है तो उसके सात प्रकृतिक बंधस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त होता है। इसका कारण यह है कि सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में छह प्रकृतिक स्थान का बंध होने लगता है तथा सात प्रकृतिक बंधस्थान

---

१ छसु सगविहमट्ठविहं कम्मं बंधंति तिसु य सत्तविहं।
छव्विहमेक्कट्ठाणे तिसु एक्कमबंधगो एक्को ॥—गो० कर्मकाण्ड ४५२
—मिश्र गुणस्थान के बिना अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त छह गुणस्थानों में जीव आयु के बिना सात और आयु सहित आठ प्रकार के कर्मों को बाँधते हैं। मिश्र, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन गुणस्थानों में आयु के बिना सात प्रकार के ही कर्म बाँधते हैं। सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में आयु मोह के बिना छह प्रकार के कर्मों का बन्ध होता है। उपशान्तकषाय आदि तीन गुणस्थानों में एक वेदनीयकर्म का ही बन्ध होता है और अयोगि गुणस्थान बन्धरहित है अर्थात् उसमें किसी प्रकृति का बंध नहीं होता है।

का उत्कृष्ट काल छह माह और अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि वर्ष का त्रिभाग अधिक तेतीस सागर है। क्योंकि जब एक पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण आयु वाले किसी मनुष्य या तिर्यंच के आयु का एक त्रिभाग शेष रहने पर अन्तर्मुहूर्त काल तक परभव सम्बन्धी आयु का बंध होता है, अनन्तर भुज्यमान आयु के समाप्त हो जाने पर वह जीव तेतीस सागर प्रमाण उत्कृष्ट आयु वाले देवों में या नारकों में उत्पन्न होकर और वहाँ आयु के छह माह शेष रहने पर पुनः परभव सम्बन्धी आयु का बंध करता है, तब उसके सात प्रकृतिक बंधस्थान का उत्कृष्ट काल प्राप्त होता है।

छह प्रकृतिक बंधस्थान का जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। इसका कारण यह है कि छह प्रकृतिक बंधस्थान का स्वामी सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थानवर्ती जीव है। अतः उक्त गुणस्थान वाला जो उपशामक जीव उपशम श्रेणि पर चढ़ते समय या उतरते समय एक समय तक सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान में रहता है और मर कर दूसरे समय में अविरत सम्यग्दृष्टि देव हो जाता है, उसके छह प्रकृतिक बंधस्थान का जघन्यकाल एक समय होता है तथा छह प्रकृतिक बंधस्थान का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उत्कृष्ट काल सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान के उत्कृष्ट काल की अपेक्षा बताया है। क्योंकि सूक्ष्म-सम्पराय गुणस्थान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

एक प्रकृतिक बंधस्थान का जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्ट काल कुछ कम पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण है। जिसका स्पष्टीकरण यह है कि जो उपशम श्रेणि वाला जीव उपशान्तमोह गुणस्थान में एक समय तक रहता है और मरकर दूसरे समय में देव हो जाता है, उस उप-शान्तमोह वाले जीव के एक प्रकृतिक बंधस्थान का जघन्यकाल एक समय प्राप्त होता है तथा एक पूर्व कोटि वर्ष की आयु वाला जो मनुष्य सात माह गर्भ में रहकर और तदनन्तर जन्म लेकर आठ वर्ष प्रमाण

काल व्यतीत होने पर संयम धारण करके एक अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर क्षीणमोह होकर सयोगिकेवली हो जाता है, उसके एक प्रकृतिक बंधस्थान का उत्कृष्ट काल आठ वर्ष, सात माह और अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण प्राप्त होता है। बंधस्थानों के भेद, स्वामी और काल प्रदर्शक विवरण इस प्रकार है—

बंधस्थान	मूल प्रकृति	स्वामी	काल	
			जघन्य	उत्कृष्ट
आठ प्रकृतिक	सब	मिश्र गुण. के बिना अप्रमत्त गुणस्थान तक	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
सात प्रकृतिक	आयु के बिना	आदि के नौ गुणस्थान	अन्तर्मुहूर्त	एक अन्तर्मुहूर्त और छह माह कम तथा पूर्व कोटि का त्रिभाग अधिक तेतीस सागर
छह प्रकृतिक	मोह व आयु के बिना	सूक्ष्म-सम्पराय	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
एक प्रकृतिक	वेदनीय	११, १२, १३वां गुणस्थान	एक समय	देशोन पूर्वकोटि

उदयस्थान, स्वामी और उनका काल

बंध प्रकृतिस्थानों का कथन करने के पश्चात् अब उदय की अपेक्षा से प्रकृतिस्थानों का निरूपण करते हैं कि आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक और चार प्रकृतिक, इस प्रकार मूल प्रकृतियों की अपेक्षा तीन उदय-स्थान होते हैं।[1]

१ उदयं प्रति त्रीणि प्रकृतिस्थानानि, तद्यथा—अष्टौ सप्त चतस्रः।
—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १४२

आठ प्रकृतिक उदयस्थान में सब मूल प्रकृतियों का, सात प्रकृतिक उदयस्थान में मोहनीय कर्म के बिना सात मूल प्रकृतियों का और चार प्रकृतिक उदयस्थान में चार अघाती कर्मों का ग्रहण होता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मोहनीय के उदय रहते आठों कर्मों का उदय होता है। मोहनीय के बिना शेष तीन घाती कर्मों का उदय रहते आठ या सात कर्मों का उदय होता है। आठ कर्मों का उदय सूक्ष्मसंपराय नामक दसवें गुणस्थान तक होता है और सात का उदय उपशान्तमोह या क्षीणमोह गुणस्थान में होता है। चार अघाती कर्मों का उदय रहते आठ, सात या चार का उदय होता है। इनमें से आठ का उदय सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक, सात का उदय उपशान्तमोह या क्षीणमोह गुणस्थान में और चार का उदय सयोगिकेवली तथा अयोगिकेवली गुणस्थान में होता है।[1]

उक्त उदयस्थानों के स्वामी इस प्रकार समझना चाहिये कि मोहनीय कर्म का उदय दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक होता है अतः आठ प्रकृतिक उदयस्थान के स्वामी प्रारम्भ से दस गुणस्थान तक के जीव हैं। मोहनीय के सिवाय शेष तीन घाती कर्मों का उदय बारहवें गुणस्थान तक होता है अतः सात प्रकृतिक उदयस्थान के

---

१. (क) मोहस्सुदए अट्ठ वि सत्त या लहन्ति सेसयाणुदए।
सन्तोइण्णाणि अघाइयाणं अट्ठ सत्त चउरो य॥

—पंचसंग्रह सप्ततिका, गा० ३

(ख) तत्र मोहनीयस्योदयेऽष्टानामप्युदयः, मोहनीयवर्जानां त्रयाणां घातिकर्मणामुदये अष्टानां सप्तानां वा। तत्राष्टानां सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावत्, सप्तानामुपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा, वेदनीयाऽऽयुर्नामगोत्राणामुदयेऽष्टानां सप्तानां चतसृणां वा उदयः। तत्राष्टानां सूक्ष्मसंपरायं यावत्, सप्तानामुपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा, चतसृणामेतासामेव वेदनीयादीनां सयोगिकेवलिनि अयोगिकेवलिनि च।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १८३

स्वामी ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान के जीव हैं। चार अघाती कर्मों का उदय तेरहवें सयोगिकेवली और चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान तक होता है। अतएव चार प्रकृतिक उदयस्थान के स्वामी सयोगिकेवली और अयोगिकेवली जीव हैं।[1]

इन तीन उदयस्थानों में से आठ प्रकृतिक उदयस्थान के काल के तीन विकल्प हैं—१. अनादि-अनन्त, २. अनादि-सान्त और ३. सादि-सान्त। इनमें से अभव्यों के अनादि-अनन्त, भव्यों के अनादि-सान्त और उपशान्तमोह गुणस्थान से गिरे हुए जीवों की अपेक्षा सादि-सांत काल होता है।[2]

सादि-सान्त विकल्प की अपेक्षा आठ प्रकृतिक उदयस्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल कुछ कम अपार्धपुद्गल परावर्त प्रमाण है। जो जीव उपशमश्रेणि से गिरकर पुनः अन्तर्मुहूर्त काल के अनन्तर उपशमश्रेणि पर चढ़कर उपशममोही हो जाता है, उस जीव के आठ प्रकृतिक उदयस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त होता है और जो जीव अपार्ध पुद्गल परावर्त काल के प्रारम्भ में उपशान्तमोही और अन्त में क्षीणमोही हुआ है, उसके आठ प्रकृतिक

---

१. अट्ठुदओ सुहुमो त्ति य मोहेण विणा हु सत्तखीणेसु।
चादिदराण चउक्कस्सुदओ केवलिदुये णियमा॥
—गो० कर्मकांड, गा० ४५४

—सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक आठ प्रकृतियों का उदय है। उपशान्तकषाय और क्षीणकषाय इन दो गुणस्थानों में मोहनीय के बिना सात का उदय है तथा सयोगि और अयोगि इन दोनों में चार अघातिया कर्मों का उदय नियम से जानना चाहिए।

२. तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ, तासां चोदयोऽभव्यानधिकृत्य अनाद्यपर्यवसितः, भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानः, उपशान्तमोहगुणस्थानकात् प्रतिपतितानधिकृत्य पुनः सादिसपर्यवसानः। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १४२

उदयस्थान का उत्कृष्टकाल कुछ कम अपार्ध पुद्गल परावर्त होता है।

सात प्रकृतिक उदयस्थान का जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। सात मूल प्रकृतियों का उदय उपशान्त-मोह और क्षीणमोह इन दो गुणस्थानों में होता है। परन्तु क्षीणमोह गुणस्थान में न तो मरण होता है और न उससे पतन होता है और क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती जीव नियम से तीन घाती कर्मों का क्षय करके सयोगकेवली हो जाता है। लेकिन उपशान्तमोह गुणस्थान में जीव का मरण भी होता है और उससे प्रतिपात भी होता है। अतः जो जीव एक समय तक उपशान्तमोह गुणस्थान में रहकर और दूसरे समय में मरकर अविरत सम्यग्दृष्टि देव हो जाता है, उसके सात प्रकृतिक उदयस्थान का जघन्यकाल एक समय माना जाता है तथा उपशान्तमोह या क्षीणमोह गुणस्थान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, अतः सात प्रकृतिक उदयस्थान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त माना जाता है।

चार प्रकृतिक उदयस्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल कुछ कम एक पूर्व कोटि प्रमाण है। जो जीव सयोगि-केवली होकर एक अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है, उसकी अपेक्षा चार प्रकृतिक उदयस्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त कहा है और उत्कृष्टकाल एक प्रकृति बंधस्थान काल की तरह देशोन पूर्व कोटि प्रमाण समझना चाहिए।[1] अर्थात् जैसे एक प्रकृतिक बंधस्थान का उत्कृष्टकाल बतलाया है कि एक पूर्व कोटि वर्ष की आयु वाला मनुष्य सात माह गर्भ में रहकर और तदनन्तर

---

१ घातिकर्मबन्धश्चतसः प्रकृतयः तासामुदयो जघन्येनान्तर्मौहूर्तिकः उत्कर्षेण तु देशोनपूर्वकोटिप्रमाणः। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १४२

जन्म से लेकर आठ वर्ष प्रमाण काल के व्यतीत होने पर संयम प्राप्त करके एक अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर क्षीणमोह, सयोगकेवली हो जाता है तो वैसे ही आठ वर्ष, सात माह कम एक पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण समझना चाहिए। यहाँ इतनी विशेषता है कि इसमें क्षीणमोह गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त घटाकर उत्कृष्ट काल लेना चाहिए।

उदयस्थानों के स्वामी, काल आदि का विवरण इस प्रकार है—

उदयस्थान	मूल प्रकृति	स्वामी	काल	
			जघन्य	उत्कृष्ट
आठ प्रकृति	सभी	आदि के दस गुणस्थान	अन्तर्मुहूर्त	कुछ कम अपार्ध पुद्गल परावर्त
सात प्रकृति	मोह के बिना	११वाँ, १२वाँ गुणस्थान	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
चार प्रकृति	चार अघाती	१३वाँ, १४वाँ गुणस्थान	अन्तर्मुहूर्त	देशोन पूर्वकोटि

सत्तास्थान, स्वामी और काल

बन्ध और उदयस्थानों को बतलाने के बाद अब सत्तास्थानों को बतलाते हैं। सत्ता प्रकृतिक स्थान तीन हैं—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक और चार प्रकृतिक।[1] आठ प्रकृतिक सत्तास्थान में ज्ञानावरण आदि अन्तरायपर्यन्त सब मूल प्रकृतियों का, सात प्रकृतिक सत्तास्थान में मोहनीय के सिवाय शेष सात प्रकृतियों और चार प्रकृतिक सत्तास्थान में चार अघाती कर्मों का ग्रहण किया जाता है। इसका विशेष स्पष्टीकरण यह है कि मोहनीय कर्म के सद्भाव में आठों कर्मों की, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय की विद्यमानता में आठों

---

१ सत्ता प्रति त्रीणि प्रकृतिस्थानानि। तद्यथा—अष्टौ, सप्त, चतस्रः।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १४३

कर्मों की या मोहनीय के बिना सात कर्मों की तथा वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार अघाती कर्मों के रहते हुए आठों की, मोहनीय के बिना सात की या चार अघाती कर्मों की सत्ता पाई जाती है।[1]

इन सत्तास्थानों के स्वामी इस प्रकार हैं—

चार अघाती कर्मों की सत्ता सयोगि और अयोगि केवलियों के होती है अतः चार प्रकृतिक सत्तास्थान के स्वामी सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थानवर्ती होते हैं।[2] मोहनीय के बिना शेष सात कर्मों की सत्ता बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में पाई जाती है, अतः सात प्रकृतिक सत्तास्थान के स्वामी क्षीणमोह गुणस्थान वाले जीव हैं। आठ कर्मों की सत्ता पहले से लेकर ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान तक पाई जाती है, अतः आठ प्रकृतिक सत्तास्थान के स्वामी आदि के ग्यारह गुणस्थान वाले जीव हैं।[3]

---

१. मोहनीये सत्यष्टानामपि सत्ता, ज्ञानावरणदर्शनावरणाऽन्तरायाणां सत्तायां अष्टानां सप्तानां च सत्ता। वेदनीयाऽऽयुर्नामगोत्राणां सत्तायामष्टानां सप्तानां चतसृणां वा सत्ता। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १४३

२. चतसृणां सत्ता वेदनीयादीनामेव सा, च सयोगिकेवलिगुणस्थानके अयोगिकेवलिगुणस्थानके च द्रष्टव्या। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १४३

३. (क) तत्राष्टानामुपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत् मोहनीये क्षीणे सप्तानां, सा च क्षीणमोहगुणस्थानके। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १४३

(ख) संतो त्ति अट्ठसत्ता खीणे सत्तेव होंति सत्ताणि।
जोगिम्मि अजोगिम्मि य चत्तारि हवंति सत्ताणि॥

—गो० कर्मकांड, गा० ४५७

उपशान्तकषाय गुणस्थान पर्यन्त आठों प्रकृतियों की सत्ता है। क्षीणकषाय गुणस्थान में मोहनीय के बिना सात कर्मों की ही सत्ता है और सयोगिकेवली व अयोगिकेवली इन दोनों में चार अघातिया कर्मों की सत्ता है।

इन तीन सत्तास्थानों में से आठ प्रकृतिक सत्तास्थान का काल अभव्य की अपेक्षा अनादि-अनन्त है, क्योंकि अभव्य के सिर्फ एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है और मिथ्यात्व गुणस्थान में किसी भी मूल प्रकृति का क्षय नहीं होता है। भव्य जीवों की अपेक्षा आठ प्रकृतिक सत्तास्थान का काल अनादि-सान्त है, क्योंकि क्षपक सूक्ष्म-संपराय गुणस्थान में ही मोहनीय कर्म का समूल उच्छेद कर देता है और उसके बाद क्षीणमोह गुणस्थान में सात प्रकृतिक सत्तास्थान की प्राप्ति होती है और क्षीणमोह गुणस्थान से प्रतिपात नहीं होता है। जिससे यह सिद्ध हुआ कि भव्य जीवों की अपेक्षा आठ प्रकृतिक सत्तास्थान अनादि-सांत है।[1]

सात प्रकृतिक सत्तास्थान बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में होता है और क्षीणमोह गुणस्थान का जघन्य व उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। अतः सात प्रकृतिक सत्तास्थान का जघन्य व उत्कृष्ट काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही है।[2]

चार प्रकृतिक सत्तास्थान सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थानों में पाया जाता है और इन गुणस्थानों का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण है। अतः चार प्रकृतिक सत्तास्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल कुछ कम एक पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण समझना चाहिए।

---

१. तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ, एतासां चाष्टानां सत्ता अभव्यानधिकृत्य अनाद्यपर्यवसाना, भव्यानधिकृत्य अनादिसपर्यवसाना।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १४२

२. मोहनीये क्षीणे सप्तानां सत्ता, सा च जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्तप्रमाणा, सा हि क्षीणमोहे, क्षीणमोहगुणस्थानकं चान्तर्मुहूर्तप्रमाणमिति।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १४३

यहाँ कुछ कम का मतलब आठ वर्ष, सात मास और अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।[1] सत्तास्थानों के स्वामी, काल आदि का विवरण इस प्रकार है—

सत्तास्थान	मूलप्रकृति	स्वामी	काल	
			अघन्य	उत्कृष्ट
आठ प्रकृतिक	सभी	आदि के ११ गुणस्थान	अनादि-सान्त	अनादि-अनन्त
सात प्रकृतिक	मोहनीय के बिना	क्षीणमोह गुणस्थान	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
चार प्रकृतिक	४ अघाति	१३वां, १४वां गुणस्थान	अन्तर्मुहूर्त	देशोन पूर्वकोटि

इस प्रकार मूल प्रकृतियों के पृथक्-पृथक् बन्ध, उदय और सत्ता प्रकृति स्थानों को समझना चाहिए। अब आगे की गाथा में मूलकर्मों के संवेध भंगों का कथन करते हैं।

मूलकर्मों के संवेध भंग

अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयसंताइं।
एगविहे तिविगप्पो एगविगप्पो अबंधम्मि ॥३॥[2]

---

१. घातिकर्मचतुष्टयक्षये च चतसृणां सत्ता, सा च जघन्येनान्तर्मुहूर्तप्रमाणा, उत्कर्षेण पुनर्देशोनपूर्वकोटिमाना। —सप्ततिका प्रकरण टीका, १४३

२. तुलना कीजिये—
अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयकम्मंसा।
एयविहे तिवियप्पो एय वियप्पो अबंधम्मि ॥ —गो० कर्मकाण्ड, ६२८
—मूल प्रकृतियों में से ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार के बन्ध वाले अथवा सात प्रकार के बन्ध वाले या छह प्रकार के बन्ध वाले जीवों के उदय और सत्त्व आठ-आठ प्रकार का जानना। जिसके एक प्रकार मूल प्रकृति का बन्ध है उसके तीन भेद होते हैं। जिसके एक प्रकृति का भी बन्ध नहीं होता उसके उदय और सत्त्व चार-चार प्रकार के होने से एक ही विकल्प है।

शब्दार्थ—**अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु**—अष्टविध, सप्तविध, षड्-विध बंध के समय, **अट्ठेव**—आठों कर्म की, **उदयसंताइं**—उदय और सत्ता, **एगविहे**—एकविध बंध के समय, **तिविगप्पो**—तीन विकल्प, **एगविगप्पो**—एक विकल्प, **अबंधम्मि**—अबन्ध दशा में, बंध न होने पर।

गाथार्थ—आठ, सात और छह प्रकार के कर्मों का बंध होने के समय उदय और सत्ता आठों कर्म की होती है। एक-विध (एक का) बंध होते समय उदय व सत्ता की अपेक्षा तीन विकल्प होते हैं तथा बंध न होने पर उदय और सत्ता की अपेक्षा एक ही विकल्प होता है।

विशेषार्थ—इस गाथा में मूल प्रकृतियों के बंध, उदय और सत्ता के संवेध भंगों का कथन किया गया है।

आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक और छह प्रकृतिक बंध होने के समय आठों कर्मों का उदय और आठों कर्मों की सत्ता होती है—'अट्ठेव उदयसंताइं'। अर्थात् सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक के जीव मिश्र गुणस्थान को छोड़कर आयुबंध के समय आठों कर्मों का बंध कर सकते हैं अतः उनके आठ प्रकृतिक बंध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्ता होती है। अनिवृत्तिबादर संपराय गुणस्थान तक के जीव आयुकर्म के बिना शेष सात कर्मों का बंध करते हैं किन्तु उनके उदय और सत्ता आठ कर्मों की हो सकती है और सूक्ष्मसंपराय संयत आयु व मोहनीय कर्म के बिना छह कर्मों का बंध करते हैं लेकिन इनके भी आठ कर्मों का उदय और सत्ता होती है।

इस प्रकार से कर्मों की बंध प्रकृतियों में भिन्नता होने पर उदय और सत्ता एक जैसी मानने का कारण यह है कि उपर्युक्त सभी जीव सराग होते हैं और सरागता का कारण मोहनीय कर्म का उदय है और जब मोहनीय कर्म का उदय है तब उसकी सत्ता अवश्य ही

होगी। इसीलिये आठ, सात और छह प्रकार के कर्मों का बंध होते समय आठों कर्मों का उदय और सत्ता होती है।[1]

इस कथन से निम्नलिखित तीन भंग प्राप्त होते हैं—

१. आठ प्रकृतिक बंध, आठ प्रकृतिक उदय, आठ प्रकृतिक सत्ता।
२. सात प्रकृतिक बंध, आठ प्रकृतिक उदय, आठ प्रकृतिक सत्ता।
३. छह प्रकृतिक बंध, आठ प्रकृतिक उदय, आठ प्रकृतिक सत्ता।

इन भंगों का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

पहला भंग आयुकर्म के बंध के समय पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक पाया जाता है। शेष गुणस्थानों में नहीं; क्योंकि अन्य गुणस्थानों में आयुकर्म का बंध नहीं होता है। किन्तु मिश्र गुणस्थान में आयु का बंध नहीं होने से उसको यहाँ ग्रहण नहीं करना चाहिये। अर्थात् मिश्र गुणस्थान में आयु का बंध नहीं होता अतः वहाँ पहला भंग सम्भव नहीं है। इसका काल जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

दूसरा भंग पहले गुणस्थान से लेकर नौवें अनिवृत्तिबादर संपराय गुणस्थान तक होता है। यद्यपि तीसरे मिश्र, आठवें अपूर्वकरण,

---

१ इहाष्टविधबन्धका अप्रमत्तान्ताः, सप्तविधबन्धका अनिवृत्तिबादरसंपरायपर्यवसानाः षड्विधबंधकाश्च सूक्ष्मसंपरायाः, एते च सर्वेऽपि सरागाः। सरागत्वं च मोहनीयोदयाद् उपजायते, उदये च सत्यवश्यं सत्ता, ततो मोहनीयोदये सत्तासम्भवाद् अष्टविध—सप्तविध—षड्विधबन्धकेष्ववश्यमुदये सत्तायां चाष्टौ प्राप्यन्ते। एतेन च त्रयो भंगा दर्शिताः तद्यथा—अष्टविधो बन्धा अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता। एष विकल्प आयुर्बन्धकाले। सप्तविधो बन्धोऽष्टविध उदयोऽष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धाभावे। तथा षड्विधो बन्धोऽष्टविध उदयोऽष्टविधा सत्ता, एष विकल्पः सूक्ष्मसंपरायाणाम्।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १४३

नौवें अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में आयुकर्म का बंध नहीं होता अतः वहाँ तो यह दूसरा भंग ही होता है किन्तु मिथ्यादृष्टि आदि अन्य गुणस्थानवर्ती जीवों के भी सर्वदा आयुकर्म का बंध नहीं होता, अतः वहाँ भी जब आयुकर्म का बंध नहीं होता है तब दूसरा भंग बन जाता है। इस भंग का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट छह माह और अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि का त्रिभाग अधिक तेतीस सागर है।

तीसरा भंग सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानवर्ती जीव को ही होता है। क्योंकि इनके आयु और मोहनीय कर्म के बिना शेष छह कर्मों का ही बंध होता है। इसका काल जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

यह तीनों भंग बंधस्थानों की प्रधानता से बनते हैं। अतः इनका जघन्य और उत्कृष्ट काल पूर्व में बताये बंधस्थानों के काल के अनुरूप बतलाया है।

एक प्रकार के अर्थात् एक वेदनीय कर्म का बंध होने पर तीन विकल्प होते हैं—'एगविहे तिविगप्पो'। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

वेदनीय कर्म का बंध ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें—उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगिकेवली, इन तीन गुणस्थानों में होता है। किन्तु उपशान्तमोह गुणस्थान में सात का उदय और आठ की सत्ता, क्षीणमोह गुणस्थान में सात का उदय और सात की सत्ता, सयोगिकेवली गुणस्थान में एक का बन्ध और चार का उदय, चार की सत्ता पाई जाती है। अतः एक—वेदनीय कर्म का बंध होने की स्थिति में उदय और सत्ता की अपेक्षा तीन भंग इस प्रकार प्राप्त होते हैं—

१. एक प्रकृतिक बंध, सात प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्ता।

२. एक प्रकृतिक बंध, सात प्रकृतिक उदय और सात प्रकृतिक सत्ता।

३. एक प्रकृतिक बंध, चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्ता।

इनमें से पहला भंग उपशान्तमोह गुणस्थान में होता है, क्योंकि वहाँ मोहनीय कर्म के बिना सात कर्मों का उदय होता है, किन्तु सत्ता आठों कर्मों की होती है। इसका काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

दूसरा भंग क्षीणमोह गुणस्थान में होता है। क्योंकि मोहनीय कर्म का समूल क्षय क्षपक सूक्ष्मसंपराय संयत के हो जाता है। जिससे क्षीणमोह गुणस्थान में उदय और सत्ता सात कर्मों की पाई जाती है। इसका काल जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

तीसरा भंग सयोगिकेवली गुणस्थान में होता है। क्योंकि वहाँ बंध तो सिर्फ एक वेदनीय कर्म का ही होता है किन्तु उदय और सत्ता चार अघाती कर्मों की पाई जाती है। इसका काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि प्रमाण समझना चाहिये।

इस प्रकार उक्त तीन भंग क्रमशः ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान की प्रधानता से होते हैं।

'एगविगप्पो अबंधम्मि' अर्थात् अबन्धदशा में सिर्फ एक ही विकल्प—भंग होता है। वह इस प्रकार समझना चाहिए कि अयोगिकेवली गुणस्थान में किसी भी कर्म का बन्ध नहीं होता है किन्तु वहाँ उदय और सत्ता चार अघाती कर्मों की पाई जाती है। इसीलिये वहाँ चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्ता, यह एक ही भंग होता है।[1]

---

१ 'अबन्धे' बन्धाभावे एक एव विकल्पः, तद्यथा—चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता, एष चायोगिकेवलिगुणस्थानके प्राप्यते, तत्र हि योगाभावाद् बन्धो न भवति, उदय-सत्ते चाघातिकर्मणां भवतः।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १४४

इस भंग का जघन्य और उत्कृष्ट काल अयोगिकेवली गुणस्थान के समान अन्तर्मुहूर्त प्रमाण समझना चाहिए।

इस प्रकार मूल प्रकृतियों के बन्ध, उदय और सत्ता प्रकृतिस्थानों की अपेक्षा संवेध भंग सात होते हैं। स्वामी, काल, सहित उनका विवरण पृष्ठ २३ की तालिका में दिया गया है।

मूल प्रकृतियों की अपेक्षा बन्ध, उदय और सत्ता प्रकृतिस्थानों के परस्पर संवेध भंगों को बतलाने के पश्चात् अब इन विकल्पों को जीवस्थानों में बतलाते हैं।

सत्तट्ठबंधअट्ठुदयसंत तेरससु जीवठाणेसु।
एगम्मि पंच भंगा दो भंगा हुंति केवलिणो ॥४॥

शब्दार्थ—**सत्तट्ठबंध**—सात और आठ का बंध, **अट्ठुदयसंत**—आठ का उदय, आठ की सत्ता, **तेरससु**—तेरह में, **जीवठाणेसु**—जीवस्थानों में, **एगम्मि**—एक (पर्याप्त संज्ञी) जीवस्थान में, **पंचभंगा**—पाँच भंग, **दो भंगा**—दो भंग, **हुंति**—होते हैं, **केवलिणो**—केवली के।

गाथार्थ—आदि के तेरह जीवस्थानों में सात प्रकृतिक और आठ प्रकृतिक बंध में आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्व यह दो-दो भंग होते हैं। एक—संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में आदि के पाँच भंग तथा केवलज्ञानी के अन्त के दो भंग होते हैं।

विशेषार्थ—संवेध भंगों को जीवस्थानों में बतलाया है। जीवस्थान का स्वरूप और भेद चौथे कर्मग्रन्थ में बतलाये जा चुके हैं। जिनका संक्षिप्त सारांश यह है कि जीव अनन्त हैं और उनकी जातियाँ बहुत हैं, लेकिन उनका समान पर्याय रूप धर्मों के द्वारा संग्रह करने को जीवस्थान कहते हैं और उसके चौदह भेद किये हैं—

१. अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, २. पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, ३. अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, ४. पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, ५. अपर्याप्त

क्रम संख्या	बंधस्थान	उदयस्थान	सत्ता-स्थान	स्वामी	काल	
					जघन्य	उत्कृष्ट
१	आठ प्रकृ०	आठ प्रकृ०	आठ प्रकृ०	मिश्र के सिवाय अप्र० गुणस्थान तक ६ गुणस्थान	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
२	सात प्रकृ०	आठ प्रकृ०	आठ प्रकृ०	आदि के ६ गुणस्थान	अन्तर्मुहूर्त	छह माह और अन्त० कम पूर्व-कोटि का त्रिभाग अधिक तेंतीस सागर
३	छह प्रकृ०	आठ प्रकृ०	आठ प्रकृ०	सूक्ष्म-सम्पराय	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
४	एक प्रकृ०	सात प्रकृ०	आठ प्रकृ०	उपशान्त-मोह	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
५	एक प्रकृ०	सात प्रकृ०	सात प्रकृ०	क्षीणमोह	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
६	एक प्रकृ०	चार प्रकृ०	चार प्रकृ०	सयोगि-केवली	अन्तर्मुहूर्त	देशोन पूर्व-कोटि
७	०	चार प्रकृ०	चार प्रकृ०	अयोगि-केवली	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त

द्वीन्द्रिय, ६. पर्याप्त द्वीन्द्रिय, ७. अपर्याप्त त्रीन्द्रिय, ८. पर्याप्त त्रीन्द्रिय, ९. अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, १०. पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, ११. अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय, १२. पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय, १३. अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय, १४. पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय।

जीवस्थान के उक्त चौदह भेदों में से आदि के तेरह जीवस्थानों में दो-दो भंग होते हैं—१. सात प्रकृतिक बंध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्ता, २. आठ प्रकृतिक बंध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्ता। इन दोनों भंगों को बताने के लिए गाथा में कहा है—'सत्तट्ठबंधअट्ठुदयसंत तेरससु जीवठाणेसु'।

इन तेरह जीवस्थानों में दो भंग इस प्रकारण होते हैं कि इन जीवों के दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय की उपशमना अथवा क्षपणा की योग्यता नहीं पाई जाती है और अधिकतर मिथ्यात्व गुणस्थान ही सम्भव है। यद्यपि इनमें से कुछ जीवस्थानों में दूसरा गुणस्थान भी हो सकता है, लेकिन उससे भंगों में अन्तर नहीं पड़ता है।

उक्त दो भंग-विकल्पों में से सात प्रकृतिक बंध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्ता वाला पहला भंग जब आयुकर्म का बन्ध नहीं होता है तब पाया जाता है तथा आठ प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्ता वाला दूसरा भंग आयुकर्म के बन्ध के समय होता है। इनमें से पहले भंग का काल प्रत्येक जीवस्थान के काल के बराबर यथायोग्य समझना चाहिये और दूसरे भंग का जघन्य व उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, क्योंकि आयुकर्म के बन्ध का जघन्य व उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।[1]

---

१. सप्तविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकाले मुक्त्वा शेषकालं सर्वदैव लभ्यते, अष्टविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बन्धकाले, एष चान्तर्मौहूर्तिकः, आयुर्बन्धकालस्य जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तप्रमाणत्वात्।—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ.१४४

आदि के तेरह जीवस्थानों के दो-दो भंगों का विवरण इस प्रकार समझना चाहिये—

जीवस्थान	बन्ध	उदय	सत्ता
सू० ए० अ०	७/८	८	८
सू० ए० प०	७/८	८	८
बा० ए० अप०	७/८	८	८
बा० ए० प०	७/८	८	८
द्वी० अप०	७/८	८	८
द्वी० प०	७/८	८	८
त्री० अप०	७/८	८	८
त्री० प०	७/८	८	८
च० अप०	७/८	८	८
च० प०	७/८	८	८
असं० पं० अप०	७/८	८	८
असं० पं० प०	७/८	८	८
सं० पं० अप०	७/८	८	८

'एगम्मि पंचभंगा' अर्थात् पूर्वोक्त तेरह जीवस्थानों से शेष रहे एक चौदहवें जीवस्थान में पाँच भंग होते हैं। इन पाँच भंगों में पूर्वोक्त दो भंग—१. सात प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय व सत्ता, २. आठ प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्ता तो होते ही हैं। साथ में १. छह प्रकृतिक बन्ध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्ता, २. एक प्रकृतिक बन्ध, सात प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्ता, ३. एक प्रकृतिक बन्ध, सात प्रकृतिक उदय और सात प्रकृतिक सत्ता यह तीन भंग और होते हैं। इस प्रकार पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय के कुल पाँच भंग समझने चाहिये।

पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रियों के पाँच भंग इस प्रकार होते हैं—

बन्ध	८	७	६	१	१
उदय	८	८	८	७	७
सत्ता	८	८	८	८	७

इन पाँच भंगों में से पहला भंग अनिवृत्ति गुणस्थान तक, दूसरा भंग अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक, तीसरा भंग उपशमश्रेणि या क्षपकश्रेणि में विद्यमान सूक्ष्मसंपराय संयत के, चौथा भंग उपशान्तमोह गुणस्थान में और पांचवाँ भंग क्षीणमोह गुणस्थान में होता है।

यद्यपि केवली जिन भी पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय हैं और उनके भी पाँच भंग मानना चाहिये। लेकिन उनके भंग अलग से बताने का कारण यह है कि केवली जीवों के क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रहते हैं अतः वे संज्ञी नहीं होते हैं। इसीलिये उनके संज्ञित्व का निषेध करने के लिये गाथा में उनके भंगों का पृथक् से निर्देश किया है—'दो भंगा हुंति केवलिणो'। उनके एक प्रकृतिक बन्ध, चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्ता—यह एक भंग तथा चार प्रकृतिक उदय व चार प्रकृतिक सत्ता, लेकिन बंध एक भी प्रकृति का नहीं, यह दूसरा भंग ही होता है। पहला भंग सयोगिकेवली के पाया जाता है, वहाँ सिर्फ एक वेदनीय कर्म का ही बंध होता है, किन्तु उदय और सत्ता चार अघाति कर्मों की रहती है। दूसरा भंग अयोगिकेवली के होता है। क्योंकि इनके एक भी कर्म का बंध न होकर सिर्फ चार अघाति कर्मों का उदय व सत्ता पाई जाती है।

जीवस्थानों में भंगों का विवरण इस प्रकार समझना चाहिए—

बंध प्रकृति	उदय प्रकृति	सत्ता प्रकृति	जीवस्थान	काल	
				जघन्य	उत्कृष्ट
८	८	८	१४	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
७	८	८	१४	,,	यथायोग्य
६	८	८	संज्ञी पर्याप्त	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
१	७	८	संज्ञी पर्याप्त	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
१	७	७	,,	,,	,,
१	४	४	सयोगि केवली	अन्तर्मुहूर्त	देशोन पूर्व कोटि
०	४	४	अयोगि केवली	पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण कालप्रमाण	पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण कालप्रमाण

इस प्रकार से जीवस्थानों में मूल कर्मों के संवेध भंग समझना चाहिए। अब गुणस्थानों में संवेध भंगों को बतलाते हैं।

गुणस्थानों में मूलकर्मों के संवेध भंग

अट्ठसु एगविगप्पो छस्सु वि गुणसंनिएसु दुविगप्पो।
पत्तेयं पत्तेयं बंधोदयसंतकम्माणं॥ ॥५॥

शब्दार्थ—**अट्ठसु**—आठ गुणस्थानों में, **एगविगप्पो**—एक विकल्प, **छस्सु**—छह में, **वि**—और, **गुणसंनिएसु**—गुणस्थानों में, **दुविगप्पो**—दो विकल्प, **पत्तेयं-पत्तेयं**—प्रत्येक के, **बंधोदयसंतकम्माणं**—बंध, उदय और सत्ता प्रकृति स्थानों के।

गाथार्थ—आठ गुणस्थानों में प्रत्येक का बंध, उदय और सत्ता रूप कर्मों का एक-एक भंग होता है और छह गुणस्थानों में प्रत्येक के दो-दो भंग होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में चौदह गुणस्थानों में पाये जाने वाले संवेध भंगों का कथन किया है।

मोह और योग के निमित्त से ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप आत्मा के गुणों की जो तरतमरूप अवस्थाविशेष होती है, उसे गुणस्थान कहते हैं। अर्थात् गुण+स्थान से निष्पन्न शब्द गुणस्थान है और गुण का मतलब है आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुण और स्थान यानि उन गुणों की मोह के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के कारण होने वाली तरतम रूप अवस्थायें विशेष।

गुणस्थान के चौदह भेद होते हैं; जिनके नाम इस प्रकार हैं—१. मिथ्यात्व, २. सासादन सम्यग्दृष्टि, ३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र), ४. अविरत सम्यग्दृष्टि, ५. देशविरत, ६. प्रमत्तविरत, ७. अप्रमत्तविरत, ८. अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिबादर, १०. सूक्ष्मसंपराय, ११. उपशान्तमोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगिकेवली, १४. अयोगिकेवली। इन चौदह भेदों में आदि के बारह भेद मोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम आदि के निमित्त से होते हैं तथा तेरहवाँ सयोगिकेवली और चौदहवां अयोगिकेवली यह दो अन्तिम गुणस्थान योग के निमित्त से होते हैं। सयोगिकेवली गुणस्थान योग के सद्भाव की अपेक्षा से और अयोगिकेवली गुणस्थान योग के अभाव की अपेक्षा से होता है।

उक्त चौदह गुणस्थानों में से आठ गुणस्थानों में बंध, उदय और सत्ता रूप कर्मों का अलग-अलग एक-एक भंग होता है—'अट्ठसु एगविगप्पो'। जिसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र), अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादर, सूक्ष्मसंपराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवली, अयोगिकेवली, इन आठ गुणस्थानों में बन्ध, उदय और सत्ता प्रकृतिस्थानों का एक-एक विकल्प होता है। इनमें एक-एक विकल्प होने का कारण यह है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिबादर इन तीन गुणस्थानों में आयुकर्म के योग्य अध्यवसाय नहीं होने के कारण सात प्रकृतिक बंध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्ता यह एक ही भंग होता है।

सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में छह प्रकृतिक बंध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्ता यह एक भंग होता है। क्योंकि इस गुणस्थान में बादर कषाय का उदय न होने से आयु और मोहनीय कर्म का बंध नहीं होता है किन्तु शेष कर्मों का ही बन्ध होता है।

उपशान्तमोह गुणस्थान में मोहनीय कर्म के उपशान्त होने से सात कर्मों का ही उदय होता है और एक प्रकृतिक बन्ध, सात प्रकृतिक उदय व आठ प्रकृतिक सत्ता, यह एक भंग पाया जाता है।

क्षीणमोह गुणस्थान में एक प्रकृतिक बंध, सात प्रकृतिक उदय और सात प्रकृतिक सत्ता यह एक ही भंग होता है। क्योंकि सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में ही मोहनीय कर्म का समूलोच्छेद हो जाने से इसका उदय और सत्व नहीं है।

सयोगिकेवली गुणस्थान में एक प्रकृतिक बंध, चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्ता, यह एक भंग होता है। क्योंकि इस गुणस्थान में चार घातिकर्मों का उदय व सत्ता नहीं रहती है।

अयोगिकेवली गुणस्थान में योग का अभाव हो जाने से किसी भी कर्म का बंध नहीं होता है, किन्तु चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्ता रूप एक भंग होता है।

इस प्रकार से आठ गुणस्थानों में भंग-विकल्पों को बतलाने के बाद अब शेष रहे छह गुणस्थानों के भंग-विकल्पों को कहते हैं कि—'छस्सुवि गुणसंनिएसु दुविगप्पो—छह गुणस्थानों में दो-दो विकल्प होते हैं। उन छह गुणस्थानों के नाम इस प्रकार हैं—मिथ्यात्व, सासादन, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत। इनमें पाये जाने वाले विकल्प यह हैं—१. आठ प्रकृतिक बंध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्ता तथा २. सात प्रकृतिक बंध, आठ प्रकृतिक उदय और आठ प्रकृतिक सत्ता। इन दोनों भंगों में से

पहला भंग आयुकर्म के बंधकाल में होता है तथा दूसरा विकल्प आयुकर्म के बंधकाल के अतिरिक्त सर्वदा पाया जाता है।[1]

चौदह गुणस्थानों के भंगों की संग्राहक गाथायें निम्न हैं एवं विवरण पृष्ठ ३१ की तालिका में दिया गया है :

मिस्स अपुव्वा बायर सगबंधा छच्च बंधए सुहुमो।
उवसंताई एगं अबंधगोऽजोगि एगेगं ॥
मिच्छासायणअविरय देसपमत्तं अपमत्तया चेव।
अट्ठट्ठ बंधगा इह, उदया, संता या पुण एए ॥
जा सुहुमो ता अट्ठ उ उदए संते य होंति पयडीओ।
सत्तट्ठउवसंते खीणि सत्त चत्तारि सेसेसु ॥[2]

इस प्रकार मूल प्रकृतियों की अपेक्षा बंध, उदय और सत्ता प्रकृतिस्थानों के संवेध भंगों और उनके स्वामियों का कथन करने के पश्चात् अब उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा बंध, उदय और सत्ता प्रकृतिस्थानों के संवेध भंगों का कथन करते हैं। पहले ज्ञानावरण और अंतराय कर्म के संवेध भंग बतलाते हैं।

उत्तर प्रकृतियों के संवेध भंग

ज्ञानावरण, अन्तराय कर्म

बंधोदयसंतंसा नाणावरणंतराइए पंच।
बंधोवरमे वि तहा उवसंता हुंति पंचेव ॥६॥

---

१. अष्टविधो बंधः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता, एष विकल्प आयुर्बंधकाले, एतेषां ह्यायुर्बन्धयोग्याध्यवसायस्थानसम्भवाद् आयुर्बन्ध उपपद्यते। तथा सप्तविधो बंधः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता एष विकल्प आयुर्बन्धकालं मुक्त्वा शेषकालं सर्वदा लभ्यते।—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १४५

२. रामदेवगणि रचित सप्ततिका टिप्पण, सा० ८, ९, १०।

३. तुलना कीजिए—
बंधोदयकम्मंसा णाणावरणंतरायिए पंच ॥
बंधोपरमेवि तहा उदयंसा होंति पंचेव ॥ —गो० कर्मकांड ६३०

गुण०	मि०		सा०		मि०	अवि०		देश०		प्रमत्त		अप्रमत्त		अपूर्व०	अनि०	सूक्ष्म०	उपशा०		क्षीण	स०के०	अ०के०
बन्ध	८	७	८	७	७	८	७	८	७	८	७	८	७	७	७	६	१		१	१	०
उदय	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	७		७	४	४
सत्ता	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८	८		७	४	४
विकल्प	२		२		१	२		२		२		२		१	१	१	१		१	१	१

मूल प्रकृतियों के गुणस्थानों में पाये जाने वाले बन्ध, उदय, सत्ता के संवेध भंगों का ज्ञापक विवरण इस प्रकार है—

संगक्रम	बन्ध	उदय	सत्ता	गुणस्थान	काल	
					जघन्य	उत्कृष्ट
१	८	८	८	१,२,३,४,५,६, ७	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
२	७	८	८	१,२,३,४,५,६,७,८,९	अन्तर्मुहूर्त	छह माह कम तेतीस सागर अन्तर्मु० न्यून पूर्वकोटि त्रिभाग अधिक
३	६	८	८	दसवाँ	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
४	१	७	८	ग्यारहवाँ	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
५	१	७	७	बारहवाँ	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
६	१	४	४	समोगिकेवली	अन्तर्मुहूर्त	नववर्षोन पूर्वकोटि
७	०	४	४	अयोगिकेवली	पंच ह्रस्व स्वर उच्चारण प्रमाण	पंच ह्रस्व स्वर उच्चारण प्रमाण

शब्दार्थ—**बंधोदयसंतंसा**—बंध, उदय और सत्ता रूप अंश, **नाणावरणंतराइए**—ज्ञानावरण और अंतराय कर्म में, **पंच**—पाँच, **बंधोवरमे**—बंध के अभाव में, **वि**—भी, **तहा**—तथा, **उदसंता**—उदय और सत्ता, **हुंति**—होती है, **पंचेव**—पाँच की।

गाथार्थ—ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म में बंध, उदय और सत्ता रूप अंश पाँच प्रकृतियों के होते हैं। बंध के अभाव में भी उदय और सत्ता पाँच प्रकृत्यात्मक ही होती है।

विशेषार्थ—पूर्व में मूल प्रकृतियों के सामान्य तथा जीवस्थान व गुणस्थानों की अपेक्षा संवेध भंगों को बतलाया गया है। अब इस गाथा से उन मूल कर्मों की उत्तर प्रकृतियों के संवेध भंगों का कथन प्रारम्भ करते हैं।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय यह आठ मूल कर्मप्रकृतियाँ हैं। इनके क्रमशः पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, ब्यालीस, दो और पांच भेद होते हैं। जो उन मूल कर्मप्रकृतियों की उत्तर प्रकृतियाँ कहलाती हैं। इनके नाम आदि का विवेचन प्रथम कर्मग्रन्थ में किया गया है।

इस गाथा में ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म की उत्तर प्रकृतियों के भंगों को बतलाया है।

ज्ञानावरण की पांचों उत्तर प्रकृतियाँ तथा अन्तराय की पांचों उत्तर प्रकृतियां कुल मिलाकर इन दस प्रकृतियों का बंध दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक होता है तथा इनका बंध-विच्छेद दसवें गुणस्थान के अंत में तथा उदय व सत्ता का विच्छेद बारहवें गुणस्थान में अन्त में होता है।

ज्ञानावरण और अंतराय कर्म की पाँच पाँच प्रकृति रूप बंध, उदय और सत्व सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान पर्यन्त है और बंध का अभाव होने पर भी उन दोनों की उपशान्तमोह में और क्षीणमोह में उदय तथा सत्व रूप प्रकृतियाँ पाँच-पाँच ही हैं।

अतः इन दोनों कर्मों में से प्रत्येक का दसवें गुणस्थान तक पांच प्रकृतिक बंध, पांच प्रकृतिक उदय और पांच प्रकृतिक सत्ता, यह एक भंग होता है तथा ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में पांच प्रकृतिक उदय, पांच प्रकृतिक सत्ता यह एक भंग होता है। इस प्रकार पांचों ज्ञानावरण, पांचों अन्तराय की अपेक्षा कुल दो संवेध भंग होते हैं।

उक्त दो भंगों में से पांच प्रकृतिक बंध, पांच प्रकृतिक उदय और पांच प्रकृतिक सत्ता इस भंग के काल के अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त ये तीन विकल्प प्राप्त होते हैं। इनमें से अनादि-अनन्त विकल्प अभव्यों की अपेक्षा है; जो अनादि मिथ्यादृष्टि या उपशान्तमोह गुणस्थान को प्राप्त नहीं हुआ। सादि मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दर्शन और चारित्र को प्राप्त करके तथा श्रेणि पर आरोहण करके उपशान्तमोह या क्षीणमोह हो जाते हैं, उनके अनादि-सान्त विकल्प होता है। उपशान्तमोह गुणस्थान से पतित जीवों की अपेक्षा सादि-सान्त विकल्प है।

पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्ता, इस दूसरे विकल्प का जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। क्योंकि यह भंग उपशान्तमोह गुणस्थान में होता है और उपशान्तमोह गुणस्थान का जघन्य काल एक समय है, अतः इस भंग का भी जघन्य काल एक समय माना है। उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थान का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है, अतः इस भंग का भी उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त माना गया है।

ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म के संवेध भंगों का विवरण जीवस्थान और गुणस्थान व काल सहित इस प्रकार समझना चाहिये—

भंग क्रम	बंध	उदय	सत्ता	गुणस्थान	जीवस्थान	काल	
						जघन्य	उत्कृष्ट
१	५	५	५	१ से १० गुणस्थान	१४	अन्तर्मुहूर्त	देशोन अपार्ध पुद्गल परावर्त[1]
२	०	५	५	११ वाँ १२ वाँ	१ संज्ञी पर्याप्त	एक समय	अन्तर्मुहूर्त

ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म की उत्तर प्रकृतियों के संवेध भंग बतलाने के बाद अब दर्शनावरण कर्म के संवेध भंगों को बतलाते हैं।

दर्शनावरण कर्म

बंधस्स य संतस्स य पगइट्ठाणाइं तिन्नि तुल्लाइं।
उदयट्ठाणाइं दुवे चउ पणगं दंसणावरणं॥ ७॥

शब्दार्थ—**बंधस्स**—बंध के, **य**—और, **संतस्स**—सत्ता के, **य**—और, **पगइट्ठाणाइं**—प्रकृतिस्थान, **तिन्नि**—तीन, **तुल्लाइं**—समान, **उदयट्ठाणाइं**—उदयस्थान, **दुवे**—दो, **चउ**—चार, **पणगं**—पाँच, **दंसणावरणे**—दर्शनावरण कर्म में।

१ पहले भंग का जो उत्कृष्ट काल देशोन अपार्ध पुद्गल परावर्त बतलाया है, वह काल के सादि-सान्त विकल्प की अपेक्षा बताया है। क्योंकि जो जीव उपशान्तमोह गुणस्थान से च्युत होकर अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर उपशान्तमोह या क्षीणमोह हो जाता है, उसके उक्त भंग का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है तथा जो अपार्ध पुद्गल परावर्त काल के प्रारंभ में सम्यग्दृष्टि होकर और उपशमश्रेणि चढ़कर उपशान्तमोह हो जाता है, अनन्तर जब संसार में रहने का काल अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है तब क्षपकश्रेणि पर चढ़कर क्षीणमोह हो जाता है, उसके उक्त भंग का उत्कृष्ट काल देशोन अपार्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण प्राप्त होता है।

गाथार्थ—दर्शनावरण कर्म के बंध और सत्ता के प्रकृति-स्थान तीन एक समान होते हैं। उदयस्थान चार तथा पाँच प्रकृतिक इस प्रकार दो होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियों के संवेध भंग बतलाये हैं। दर्शनावरण कर्म की कुल उत्तर प्रकृतियाँ नौ हैं। जिनके बंधस्थान तीन होते हैं—नौ प्रकृतिक, छह प्रकृतिक और चार प्रकृतिक। इसी प्रकार सत्तास्थान के भी उक्त तीन प्रकार होते हैं—नौ प्रकृतिक, छह प्रकृतिक, चार प्रकृतिक। जिसका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

नौ प्रकृतिक बंधस्थान में दर्शनावरण कर्म की सब प्रकृतियों का बंध होता है। छह प्रकृतिक बंधस्थान में स्त्यानर्द्धित्रिक को छोड़कर शेष छह प्रकृतियों का तथा चार प्रकृतिक बंधस्थान में पाँच निद्राओं को छोड़कर शेष चक्षुदर्शनावरण आदि केवलदर्शनावरण पर्यन्त चार प्रकृतियों का बंध होता है।[1]

उक्त तीन बंधस्थानों में से नौ प्रकृतिक बंधस्थान पहले और दूसरे—मिथ्यात्व, सासादन—गुणस्थान में होता है। छह प्रकृतिक बंध-स्थान तीसरे सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के पहले भाग तक तथा चार प्रकृतिक बंधस्थान अपूर्वकरण गुणस्थान के दूसरे भाग से लेकर दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक होता है।[2]

---

१ तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायो नव, ता एव नव स्त्यानर्द्धित्रिकहीनाः षट्, एताश्च निद्रा-प्रचलाहीनाश्चतस्रः। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १५६

२ तत्र नवप्रकृत्यात्मकं बंधस्थानं मिथ्यादृष्टौ सासादने वा। षट्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्याऽपूर्वकरणस्य प्रथमं भागं यावत्। चतुष्प्रकृत्यात्मकं तु बंधस्थानमपूर्वकरणद्वितीयभागादारभ्य सूक्ष्म-संपरायं यावत्। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १५६

नौ प्रकृतिक बंधस्थान के काल की अपेक्षा तीन विकल्प हैं—अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त। इनमें अनादि-अनन्त विकल्प अभव्यों में होता है, क्योंकि अभव्यों के नौ प्रकृतिक बंधस्थान का कभी भी विच्छेद नहीं पाया जाता है। अनादि-सान्त विकल्प भव्यों में होता है, क्योंकि भव्यों के नौ प्राकृतिक बंधस्थान का कालान्तर में विच्छेद पाया जाता है तथा सादि-सान्त विकल्प सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व को प्राप्त हुए जीवों के पाया जाता है। इस सादि-सान्त विकल्प का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोन अपार्ध पुद्गल परावर्त है। जिसे इस प्रकार समझना चाहिए कि सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ जो जीव अन्तर्मुहूर्त काल के पश्चात् सम्यग्दृष्टि हो जाता है, उसके नौ प्रकृतिक बंधस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त पाया जाता है तथा जो जीव अपार्ध पुद्गल परावर्त काल के प्रारम्भ में सम्यग्दृष्टि होकर और अन्तर्मुहूर्त काल तक सम्यक्त्व के साथ रहकर मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है, अनन्तर अपार्ध पुद्गल परावर्त काल में अन्तर्मुहूर्त शेष रहने पर जो पुनः सम्यग्दृष्टि हो जाता है, उसके उत्कृष्ट काल देशोन अपार्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण प्राप्त होता है।

छह प्रकृतिक बंधस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल एक सौ बत्तीस सागर है। वह इस प्रकार है कि जो जीव सकल संयम के साथ सम्यक्त्व को प्राप्त कर अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर उपशम या क्षपक श्रेणि पर चढ़कर अपूर्वकरण के प्रथम भाग को व्यतीत करके चार प्रकृतिक बंध करने लगता है, उसके छह प्रकृतिक बंधस्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त होता है, अथवा जो उपशम सम्यग्दृष्टि स्वल्पकाल तक उपशम सम्यक्त्व में रहकर पुनः मिथ्यात्व में चला जाता है, उसके भी जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त देखा जाता है। उत्कृष्ट काल एक सौ बत्तीस सागर इस प्रकार समझना चाहिए कि

मध्य में सम्यग्मिथ्यात्व से अन्तरित होकर सम्यक्त्व के साथ रहने का उत्कृष्टकाल इतना ही है, अनन्तर वह जीव या तो मिथ्यात्व को प्राप्त हो जाता है या क्षपकश्रेणि पर आरोहण कर सयोगिकेवली होकर सिद्ध हो जाता है।

चार प्रकृतिक बंधस्थान का जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। जिस जीव ने अपूर्वकरण के द्वितीय भाग में प्रविष्ट होकर एक समय तक चार प्रकृतियों का बंध किया और मरकर दूसरे समय में देव हो गया, उसके चार प्रकृतिक बंध का जघन्यकाल एक समय देखा जाता है। उपशमश्रेणि या क्षपकश्रेणि के पूरे काल का योग अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है, अतः इसका भी उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं होता है।

दर्शनावरण के तीन बंधस्थानों को बतलाने के बाद अब तीन सत्तास्थानों को स्पष्ट करते हैं—

नौ प्रकृतिक सत्तास्थान में दर्शनावरण कर्म की सभी प्रकृतियों की सत्ता होती है। यह स्थान उपशान्तमोह गुणस्थान तक होता है। छह प्रकृतिक सत्तास्थान में स्त्यानर्द्धित्रिक को छोड़कर शेष छह प्रकृतियों की सत्ता होती है। यह सत्तास्थान क्षपक अनिवृत्तिबादरसंपराय के दूसरे भाग से लेकर क्षीणमोह गुणस्थान के उपान्त्य समय तक होता है। चार प्रकृतिक सत्तास्थान क्षीणमोह गुणस्थान के अंतिम समय में होता है।

नौ प्रकृतिक सत्तास्थान के काल की अपेक्षा अनादि-अनन्त और अनादि-सान्त, यह दो विकल्प हैं। इनमें पहला विकल्प अभव्यों की अपेक्षा है और दूसरा विकल्प भव्यों में देखा जाता है, क्योंकि कालान्तर में इनके उक्त स्थान का विच्छेद हो जाता है। सादि-सान्त विकल्प यहाँ सम्भव नहीं, क्योंकि नौ प्रकृतिक सत्तास्थान का विच्छेद

क्षपकश्रेणि में होता है और क्षपकश्रेणि से जीव का प्रतिपात नहीं होता है।

छह प्रकृतिक सत्तास्थान का जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। क्योंकि यह स्थान क्षपक अनिवृत्ति के दूसरे भाग से लेकर क्षीणमोह गुणस्थान के उपान्त्य समय तक होता है और उसका जघन्य व उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

चार प्रकृतिक सत्तास्थान का जघन्य व उत्कृष्ट काल एक समय है। क्योंकि यह स्थान क्षीणमोह गुणस्थान के अंतिम समय में पाया जाता है।

दर्शनावरण कर्म के उदयस्थान दो हैं—चार प्रकृतिक और पाँच प्रकृतिक—'उदयट्ठाणाइं दुवे चउ पणगं'। चार प्रकृतिक उदयस्थान चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल दर्शनावरण—का उदय क्षीणमोह गुणस्थान तक सदैव पाया जाता है। इसीलिए इन चारों का समुदाय रूप एक उदयस्थान है। इन चार में निद्रा आदि पांचों में से किसी एक प्रकृति के मिला देने पर पांच प्रकृतिक उदयस्थान होता है। निद्रादिक ध्रुवोदया प्रकृतियां नहीं हैं, क्योंकि उदययोग्य काल के प्राप्त होने पर उनका उदय होता है। अतः यह पाँच प्रकृतिक उदयस्थान कदाचित् प्राप्त होता है।

दर्शनावरण के चार और पाँच प्रकृतिक, यह दो ही उदयस्थान होने तथा छह, सात आदि प्रकृतिक उदयस्थान न होने का कारण यह है कि निद्राओं में दो या दो से अधिक प्रकृतियों का एक साथ उदय नहीं होता है, किन्तु एक काल में एक ही प्रकृति का उदय होता है।[1]

---

१ न हि निद्रादयो द्वित्रादिका युगपदुदयमायान्ति किन्त्वेकस्मिन् काले एकैवान्यतमा काचित्। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १५७

दर्शनावरण कर्म के बन्ध, उदय, सत्ता स्थानों का विवरण इस प्रकार समझना चाहिये—

बंध	९	६	४
उदय	४		५
सत्ता	९	६	४

अब दर्शनावरण कर्म के बंध, उदय और सत्ता स्थानों के परस्पर संवेध से उत्पन्न भंगों का कथन करते हैं—

बीयावरणे नवबंधगेसु चउ पंच उदय नव संता।
छच्चउबंधे एवं चउ बन्धुदए छलंसा य॥ ८॥
उवरयबंधे चउ पण नवंस चउरुदय छच्च चउसंता।[1]

---

१ तुलना कीजिए—

तिदियावरणे णवबंधगेसु चदुपंचउदय णवसत्ता।
छब्बंधगेसु एवं तह चदुबंधे छडंसा य॥
उवरदबंधे चदुपंचउदय णव छच्च सत्त चदु जुगलं।

—गो० कर्मकांड गा० ६३१, ६३२

दूसरे आवरण (दर्शनावरण) की ९ प्रकृतियों के बंध करने वाले के उदय ५ का या ४ का और सत्ता ९ की होती है। इसी प्रकार ६ प्रकृतियों के बन्धक के भी उदय और सत्व जानना। चार प्रकृतियों के बन्ध करने वाले के पूर्वोक्त प्रकार उदय चार या पांच का, सत्व नौ का तथा छह का भी सत्व पाया जाता है। जिसके बन्ध का अभाव है, उसके उदय तो चार व पाँच का है और सत्व नौ का व छह का है तथा उदय-सत्व दोनों ही चार-चार के भी हैं।

शब्दार्थ—**बीयावरणे**—दूसरे आवरण—दर्शनावरण में, **नव-बंधगेसु**—नौ के बंध के समय, **चउपंच**—चार या पाँच का, **उदय**—उदय, **नवसंता**—नौ प्रकृतियों की सत्ता, **छच्चउबंधे**—छह और चार का बंध में, **चेवं**—पूर्वोक्त प्रकार से उदय और सत्ता, **चउबंधुदए**—चार के बंध और चार के उदय में, **छलंसा**—छह की सत्ता, य—और, **उवरयबंधे**—बंध का विच्छेद होने पर, **चउपण**—चार अथवा पाँच का उदय, **नवंस**—नौ की सत्ता, **चउरुदय**—चार का उदय, **छ**—छह, **च**—और, **चउसंता**—चार की सत्ता।

गाथार्थ—दर्शनावरण की नौ प्रकृतियों का बंध होते समय चार या पाँच प्रकृतियों का उदय तथा नौ प्रकृतियों की सत्ता होती है। छह और चार प्रकृतियों का बंध होते समय उदय और सत्ता पूर्ववत् होती है। चार प्रकृतियों का बंध और उदय रहते सत्ता छह प्रकृतियों की होती है एवं बंधविच्छेद हो जाने पर चार या पाँच प्रकृतियों का उदय रहते सत्ता नौ की होती है। चार प्रकृतियों का उदय रहने पर सत्ता छह और चार की होती है।

विशेषार्थ—गाथा में दर्शनावरण कर्म के संवेध भंगों का विवेचन किया गया है।

दर्शनावरण की नौ उत्तर प्रकृतियों का बंध पहले और दूसरे—मिथ्यात्व व सासादन—गुणस्थान में होता है, तब चार या पाँच प्रकृतियों का उदय तथा नौ प्रकृतियों की सत्ता होती है—'बीयावरणे नव बंधगेसु चउ पंच उदय नव संता'। चार प्रकृतिक उदयस्थान में चक्षुदर्शनावरण आदि केवलदर्शनावरण पर्यन्त चार ध्रुवोदयी प्रकृतियों का ग्रहण किया गया है तथा पाँच प्रकृतिक उदयस्थान उक्त चार प्रकृतियों के साथ किसी एक निद्रा को मिला देने से प्राप्त होता है। इस प्रकार दर्शनावरण कर्म के नौ प्रकृतिक बंध, नौ प्रकृतिक सत्ता रहते उदय की अपेक्षा दो भंग प्राप्त होते हैं—

१. नौ प्रकृतिक बंध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता। यह भंग पांच निद्राओं में से किसी के उदय के बिना होता है।

२. नौ प्रकृतिक बंध, पांच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता। यह भंग निद्रादिक में से किसी एक निद्रा के उदय के सद्भाव में होता है।

छह प्रकृतिक बंध और चार प्रकृतिक बंध के समय भी उदय और सत्ता पूर्ववत् समझना चाहिए। अर्थात् छह प्रकृतिक बंध, चार या पांच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता तथा चार प्रकृतिक बंध, चार या पांच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता। इनमें से छह प्रकृतिक बंध, चार या पांच प्रकृतिक उदय, नौ प्रकृतिक सत्तास्थान, तीसरे सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर उपशामक अपूर्वकरण (आठवें) गुणस्थान के पहले भाग तक के जीवों में होता है और दूसरा चार प्रकृतिक बंध, चार या पाँच प्रकृतिक उदय, नौ प्रकृतिक सत्तास्थान उपशामक अपूर्वकरण गुणस्थान के दूसरे भाग से लेकर सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक के जीवों के होता है। इन दोनों स्थानों की अपेक्षा कुल चार भंग इस प्रकार होते हैं—

१—छह प्रकृतिक बंध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता।

२—छह प्रकृतिक बंध, पांच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता।

३—चार प्रकृतिक बंध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता।

४—चार प्रकृतिक बंध, पांच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता।

उक्त चार भंगों में से क्षपकश्रेणि में कुछ विशेषता है। क्योंकि

क्षपक जीव अत्यन्त विशुद्ध होता है, अतः उसके निद्रा और प्रचला प्रकृति का उदय नहीं होता है, जिससे उसमें पहला और तीसरा यह दो भंग प्राप्त होते हैं। पहला भंग—छह प्रकृतिक बंध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता—क्षपक जीवों के अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम भाग तक होता है तथा तीसरा भंग—चार प्रकृतिक बंध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता—क्षपक जीवों के नौवें अनिवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थान के संख्यात भागों तक होता है।

क्षपक जीवों के लिए एक और विशेषता समझना चाहिए कि अनिवृत्तिबादर संपराय गुणस्थान में स्त्यानर्द्धित्रिक का क्षय हो जाने से आगे नौ प्रकृतियों का सत्व नहीं रहता है। अतः अनिवृत्तिबादर-संपराय गुणस्थान के संख्यात भागों से लेकर सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अन्तिम समय तक चार प्रकृतिक बंध, चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्ता, यह एक और भंग होता है—'चउबंधुदए छलंसा य'। यह भंग उपर्युक्त चार भंगों से पृथक् है।

इस प्रकार दर्शनावरण की उत्तर प्रकृतियों का यथासंभव बंध रहते हुए कितने भंग संभव हैं, इसका विचार किया। अब उदय और सत्ता की अपेक्षा दर्शनावरण कर्म के संभव भंगों का विचार करते हैं।

'उवरयबंधे चउ पण नवंस'—बंध का विच्छेद हो जाने पर विकल्प से चार या पाँच का उदय तथा नौ की सत्ता वाले दो भंग होते हैं। उक्त दो भंग इस प्रकार हैं—

१—चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता।

२—पांच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता।

इन दोनों भंगों के बनने का कारण यह है कि उपशान्तमोह गुण-स्थान में दर्शनावरण की सभी नौ प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है। और उदय विकल्प से चार या पांच प्रकृतियों का पाया जाता है।

किन्तु क्षीणमोह गुणस्थान में स्त्यानर्द्धित्रिक का अभाव है, क्योंकि इनका क्षय क्षपक अनिवृत्तिकरण में हो जाता है तथा क्षीणमोह गुणस्थान के उपान्त्य समय में निद्रा और प्रचला का भी क्षय हो जाता है, जिससे अन्तिम समय में चार प्रकृतियों की सत्ता रहती है। क्षपकश्रेणि में निद्रा आदि का उदय नहीं होता है। अतः यहाँ निम्नलिखित दो भंग होते हैं।

१—चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्ता। यह भंग क्षीणमोह गुणस्थान के उपान्त्य समय में पाया जाता है।

२—चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्ता। यह भंग क्षीणमोह गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है।

इन दोनों भंगों का संकेत करने के लिए गाथा में कहा है—'चउरुदय छच्च चउसंता'।

दर्शनावरण कर्म के भंगों सम्बन्धी मतान्तर

यहां दर्शनावरण कर्म के उत्तर प्रकृतियों के ग्यारह संवेध भंग बतलाये हैं। उनमें निम्नलिखित तीन भंग भी सम्मिलित हैं—

(१) चार प्रकृतिक बंध, चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्ता।

(२) चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्ता।

(३) चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्ता।

इन तीनों भंगों में से पहला भंग क्षपकश्रेणि के नौवें और दसवें अनिवृत्तिबादर, सूक्ष्मसंपराय—गुणस्थान में होता है तथा दूसरा व तीसरा भंग क्षीणमोह गुणस्थान में होता है। इससे यह प्रतीत होता है—इस ग्रन्थ के कर्त्ता का यही मत रहा है कि क्षपकश्रेणि में निद्रा और प्रचला का उदय नहीं होता है। आचार्य मलयगिरि ने सप्ततिका प्रकरण की टीका में सत्कर्म ग्रन्थ का यह गाथांश उद्धृत किया है—

निद्दादुगस्स उदओ खीणखवगे परिच्चयइ।

क्षपकश्रेणि और क्षीणमोह गुणस्थान में निद्रादिक का उदय नहीं होता है। कर्मप्रकृति[1] तथा पंचसंग्रह के कर्ताओं का भी यही मत है। किन्तु पंचसंग्रह के कर्ता क्षपक श्रेणि और क्षीणमोह गुणस्थान में पाँच प्रकृति का भी उदय होता है, इस मत से परिचित थे और उसका उल्लेख उन्होंने 'पंचण्ह वि केइ इच्छंति'[2] इस पद से किया है। आचार्य मलयगिरि ने इसे कर्मस्तवकार का मत बताया है।[3] इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि कर्मस्तवकार के सिवाय प्रायः सभी कार्मग्रन्थिकों का यही मत रहा है कि क्षपकश्रेणि और क्षीणमोह गुणस्थान में निद्रादिक का उदय नहीं होता है।

दिगम्बर परम्परा में सर्वत्र विकल्प वाला मत पाया जाता है। कषायपाहुड चूर्णि में इतना संकेत किया गया है कि 'क्षपकश्रेणि पर चढ़ने वाला जीव आयु और वेदनीय कर्म को छोड़कर उदय प्राप्त शेष सब कर्मों की उदीरणा करता है।'[4] इस पर टीका करते हुए वीरसेन स्वामी ने जयधवला क्षपणाधिकार में लिखा है कि क्षपकश्रेणि वाला जीव पाँच ज्ञानावरण और चार दर्शनावरण का नियम से वेदक है किन्तु निद्रा और प्रचला का कदाचित् वेदक है, क्योंकि इनका कदाचित् अव्यक्त उदय होने में कोई विरोध नहीं आता है।[5] अमिति-

---

१ निद्दापयलाणं खीणरागखवगे परिच्चयज्ज। —कर्मप्रकृति उ० गा० १०

२ पंचसंग्रह सप्ततिका गा० १४

३ कर्मस्तवकारमतेन पञ्चानामप्युदयो भवति।

—पंचसंग्रह सप्ततिका टीका, गा० १४

४ आउगवेदणीयवज्जाणं वेदिज्जमाणाणंकम्माणं पवेसगो।

—कषायपाहुड चूर्णि (यतिवृषभ)

५ पंचण्हं णाणावरणीयाणं चदुण्हं दंसणावरणीयाणं णियमा वेदगो, णिद्दापयलाणं सिया, तासिमवत्तोदयस्स कदाहे संभवे विरोहाभावादो।

—जयधवला (क्षपणाधिकार)

गति आचार्य ने भी अपने पंचसंग्रह में यही मत स्वीकार किया है कि क्षपकश्रेणि और क्षीणमोह में दर्शनावरण की चार या पांच प्रकृतियों का उदय होता है।[1] गो० कर्मकांड में भी इसी मत को स्वीकार किया गया है।[2]

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार चार प्रकृतिक बंध, पांच प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्ता यह एक भंग नौवें, दसवें गुणस्थान में तथा पाँच प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्ता यह एक भंग क्षीणमोह गुणस्थान में बढ़ जाता है। इसलिये दर्शनावरण कर्म के संवेध भंग बतलाने के प्रसंग में इन दोनों भंगों को मिलाने से तेरह भंग दिगम्बर परम्परा में माने जाते हैं, लेकिन श्वेताम्बर परम्परा में ग्यारह तथा मतान्तर से तेरह भंगों के दो विकल्प हैं।

दर्शनावरण कर्म के बंध, उदय, सत्ता के संवेध ११ अथवा १३ भंगों का विवरण इस प्रकार समझना चाहिये—

क्रम	बंध	उदय	सत्ता	गुणस्थान
१	९	४	४	१,२
२	९	५	९	१,२
३	६	४	९	३,४,५,६,७,८
४	६	५	९	३,४,५,६,७,८
५	४	४	९	८,९,१०[3]

१. द्वयोर्नव द्वयोः षड्क चतुर्षु च चतुष्टयम्।
पञ्च पञ्चसु शून्यानि भङ्गाः सन्ति त्रयदश॥

—पंचसंग्रह, अमितिगति, श्लोक ३८८

२. गो० कर्मकांड गा० ६३१, ६३२, जो पृ० ३९ पर उद्धृत है।

३. पांचवां भंग उपशम क्षपक दोनों श्रेणि में होता है, लेकिन इतनी विशेषता है कि क्षपकश्रेणि में इसे नौवें गुणस्थान के संख्यात भागों तक ही जानना। आगे क्षपकश्रेणि में सातवां भंग प्रारम्भ हो जाता है।

६	४	५	६	८,९,१० उपशमश्रेणि
७	४	४	६	९,१० क्षपक
८	४	५	६	९,१० मतान्तर से[1]
९	०	४	६	११ उपशामक
१०	०	५	६	११ उपशामक
११	०	४	६	१२ द्विचरम समय पर्यन्त
१२	०	५	६	मतान्तर से
१३	०	४	४	१२ चरम समय में

दर्शनावरण कर्म के संवेध भंगों का कथन करने के अनन्तर अब वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म के संवेध भंग बतलाते हैं—

वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म
वेयणियाउयगोए विभज्ज[2] मोहं परं वोच्छं ॥ ९ ॥

---

१. इन भंगों में आठवाँ और बारहवाँ भंग कर्मस्तव के अभिप्राय के अनुसार बतलाया है और शेष ग्यारह भंग इस ग्रन्थ के अनुसार समझना चाहिए।

२. किन्हीं विद्वान ने वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म के भंगों की संख्या बतलाने के लिये मूल प्रकरण के अनुसंधान में निम्नलिखित गाथा प्रक्षिप्त की है—

(क) गोयम्मि सत्त भंगा अट्ठ य भंगा हवंति वेयणिए।
पण नव नव पण भंगा आउचउक्के वि कमसो उ ॥

यह गाथा मूल प्रकरण में नहीं है।

(ख) वेयणिये अडभंगा गोदे सत्तेव होंति भंगा हु।
पण णव णव पण भंगा आउचउक्केसु विसरित्था ॥
—गो० कर्मकांड ६५१

वेदनीय के आठ और गोत्र के सात भंग होते हैं तथा चारों आयुओं के क्रम से पाँच, नौ, नौ और पाँच भंग होते हैं।

शब्दार्थ—वेयणियाउयगोए—वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म के, **विभज्ज**—बंधादिस्थान और उनके संवेध भंग कहकर, **मोहं**—मोहनीय कर्म के, **परं**—पश्चात्, **वोच्छं**—कथन करेंगे।

गाथार्थ—वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म के बंधादि स्थान और उनके संवेध भंग कहकर बाद में मोहनीय कर्म के बन्धादि स्थानों का कथन करेंगे।

विशेषार्थ—गाथा में वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म में विभाग करने की सूचना दी है, लेकिन किस कर्म के अपनी उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा कितने बंधादि स्थान और उनके कितने संवेध भंग होते हैं, इसको नहीं बताया है। किन्तु टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने अपनी टीका में इनके भंगों का विस्तृत विचार किया है। अतः टीका के अनुसार वेदनीय, आयु और गोत्र के भंगों को यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

वेदनीय कर्म के संवेध भंग

वेदनीय कर्म के दो भेद हैं—साता और असाता। ये दोनों प्रकृतियाँ परस्पर विरोधिनी हैं; अतः इनमें से एक काल में से किसी एक का बंध और किसी एक का उदय होता है। एक साथ दोनों का बंध और उदय संभव नहीं है। लेकिन किसी एक प्रकृति की सत्ता का विच्छेद होने तक सत्ता दोनों प्रकृतियों की पाई जाती है तथा किसी एक प्रकृति की सत्ता व्युच्छिन्न हो जाने पर किसी एक ही प्रकृति की सत्ता पाई जाती है।[1] अर्थात् वेदनीय कर्म का उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा

---

१ तत्र वेदनीयस्य सामान्येनैकं बंधस्थानम्, तद्यथा—सातमसातं वा, द्वयोः परस्परविरुद्धत्वेन युगपद्बन्धाभावात्। उदयस्थानमपि एकम्, तद्यथा—सातमसातं वा, द्वयोर्युगपदुदयाभावात् परस्परविरुद्धत्वात्। सत्तास्थाने द्वे, तद्यथा—द्वे एकं च। तत्र यावदेकमन्यतरद् न क्षीयते तावद् द्वे अपि सती, अन्यतरस्मिंश्च क्षीणे एकमिति।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १५६

बंधस्थान और उदयस्थान सर्वत्र एक प्रकृतिक होता है किन्तु सत्ता-स्थान दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक, इस प्रकार दो होते हैं।

वेदनीय कर्म के संवेध भंग इस प्रकार है—१. असाता का बंध, असाता का उदय और दोनों की सत्ता, २. असाता का बंध, साता का उदय और दोनों की सत्ता, ३. साता का बंध, साता का उदय और दोनों की सत्ता और ४. साता का बंध, असाता का उदय और दोनों की सत्ता।

उक्त चार भंग बंध रहते हुए होते हैं। इनमें से आदि के दो पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होते हैं। क्योंकि प्रमत्तसंयत गुणस्थान में असाता का बंधविच्छेद हो जाने के आगे इसका बंध नहीं होता है। जिससे सातवें अप्रमत्तसंयत आदि गुणस्थानों में आदि के दो भंग पाये नहीं होते हैं। अंत के दो भंग अर्थात् तीसरा और चौथा भंग मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर सयोगि-केवली गुणस्थान तक होते हैं। क्योंकि साता वेदनीय का बंध तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान तक ही होता है। बंध का अभाव होने पर उदय व सत्ता की अपेक्षा निम्नलिखित चार भंग होते हैं—

१. असाता का उदय और दोनों की सत्ता।
२. साता का उदय और दोनों की सत्ता।
३. असाता का उदय और असाता की सत्ता।
४. साता का उदय और साता की सत्ता।

इनमें से आदि के दो भंग अयोगिकेवली गुणस्थान के द्विचरम समय तक होते हैं। क्योंकि अयोगिकेवली के द्विचरम समय तक दोनों की सत्ता पाई जाती है। अन्त के दो भंग—तीसरा और चौथा—चरम समय में होता है। जिसके द्विचरम समय में साता का क्षय होता है उसके अन्तिम समय में तीसरा भंग—असाता का उदय, असाता की सत्ता—पाया जाता है तथा जिसके द्विचरम समय में असाता का क्षय

हो गया है, उसके अन्तिम समय में—साता का उदय, साता की सत्ता यह चौथा भंग पाया जाता है। इस प्रकार वेदनीय कर्म के कुल आठ भंग होते हैं।[1] जिनका विवरण इस प्रकार समझना चाहिये—

भंग क्रम	बंध	उदय	सत्ता	गुणस्थान
१	अ०	अ०	सा० असा० २	१, २, ३, ४, ५, ६,
२	अ०	सा०	२	१, २, ३, ४, ५, ६,
३	सा०	अ०	२	१ से १३ तक
४	सा०	सा०	२	१ से १३ तक
५	०	असा०	२	१४ द्विचरम समयपर्यन्त
६	०	सा०	२	१४ द्विचरम समयपर्यन्त
७	०	अ०	अ०	१४ चरम समय में
८	०	सा०	सा०	१४ चरम समय में

आयुकर्म के संवेध भंग

अब गाथा में बताये गये क्रम के अनुसार आयुकर्म के बंधादि स्थान और उनके संवेध भंगों का विचार करते हैं। आयुकर्म के चार भेदों में क्रम से पाँच, नौ, नौ, पाँच भंग होते हैं। अर्थात् नरकायु के

---

१ (क) तेरसमछट्ठएएसुं सायासायाण बंधवोच्छेओ।
संतउइण्णाइ पुणो सायासायाइ सव्वेसु॥
बंधइ उइण्णयं चिय इयरं वा दो वि संत चउभंगो।
संत मुइण्णमबंधे दो दोण्णि दुसंत इह अट्ठ॥
—पंचसंग्रह सप्ततिका गा० १७, १८

(ख) सादासादेक्कदरं बंधुदया होंति संभवट्ठाणे।
दोसत्तं जोगित्ति य चरिमे उदयागदं सत्तं॥
छट्ठोत्ति चारि भंगा दो भंगा होंति आव जोगिजिणे।
चउभंगाऽजोगिजिणे ठाणं पडि वेयणीयस्स॥
—गो० कर्मकांड, गा० ६३३, ६३४

पाँच, तिर्यंचायु के नौ, मनुष्यायु के नौ और देवायु के पांच संवेध भंग होते हैं। जिनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

एक पर्याय में किसी एक आयु का उदय और उसके साथ में बँधने योग्य किसी एक आयु का ही बंध होता है, दो या दो से अधिक का नहीं। इसलिये बंध और उदय की अपेक्षा आयु का एक प्रकृतिक बंधस्थान और एक प्रकृतिक उदयस्थान होता है किन्तु सत्तास्थान दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक इस प्रकार दो होते हैं। क्योंकि जिसने परभव की आयु का बंध कर लिया है, उसके दो प्रकृतिक तथा जिसने परभव की आयु का बंध नहीं किया है, उसके एक प्रकृतिक सत्तास्थान होता है।[1]

अब आयुकर्म के संवेध भंगों को बतलाते हैं। आयुकर्म की तीन अवस्थाएँ होती हैं—

१. परभव सम्बन्धी आयुकर्म के बंधकाल से पूर्व की अवस्था।

२. परभव सम्बन्धी आयु के बंधकाल की अवस्था।

३. परभव सम्बन्धी आयुबंध के उत्तर-काल की अवस्था।[2]

इन तीनों अवस्थाओं को क्रमशः अबन्धकाल, बंधकाल और उपरतकाल कहते हैं। सर्वप्रथम नरकायु के संवेध भंगों का विचार करते हैं।

---

१ आयुषि सामान्येनैकं बंधस्थानं चतुर्णामन्यतमत्, परस्परविरुद्धत्वेन युगपद द्वित्रायुषां बन्धाभावात्। उदयस्थानमप्येकम्, तदपि चतुर्णामन्यतमत्, युगपद् द्वित्रायुषां उदयाभावात्। द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्वे एकं च। तत्रैकं चतुर्णामन्यतमत् यावदन्यत् परभवायुर्न बध्यते, परभवायुषि च बद्धे यावदन्यत्र परभवे नोत्पद्यते तावद् द्वे सती।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १५६

२ तत्रायुषस्तिस्रोऽवस्थाः, तद्यथा—परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वावस्था परभवायुर्बन्धकालावस्था परभवायुर्बन्धोत्तरकालावस्था च।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १५६

नरकायु के संवेध भंग—नारकियों के अबन्धकाल में नरकायु का उदय और नरकायु का सत्त्व, यह एक भंग होता है। नारकों में पहले चार गुणस्थान होते हैं, शेष गुणस्थान नहीं होने से यह भंग प्रारम्भ के चार गुणस्थानों में सम्भव है।

बंधकाल में १. तिर्यंचायु का बंध, नरकायु का उदय तथा तिर्यंच-नरकायु का सत्त्व एवं २. मनुष्य-आयु का बंध, नरकायु का उदय और मनुष्य-नरकायु का सत्त्व, यह दो भंग होते हैं। नारक जीव के देव आयु के बंध का नियम नहीं होने से[1] उक्त दो विकल्प ही सम्भव हैं। इनमें से पहला भंग मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थान में होता है, क्योंकि तिर्यंचायु का बंध दूसरे गुणस्थान तक ही होता है तथा दूसरा भंग मिश्र गुणस्थान में आयु बंध का नियम न होने से, उसको छोड़कर मिथ्यात्व, सासादन और अविरत सम्यग्दृष्टि इन तीन गुणस्थानों में होता है। क्योंकि नारकों के उक्त तीन गुणस्थानों में मनुष्य-आयु का बंध पाया जाता है।

उपरतबंधकाल में १. नरकायु का उदय और नरक-तिर्यंचायु का सत्त्व तथा २. नरकायु का उदय, नरक-मनुष्यायु का सत्त्व, यह दो भंग होते हैं। नारकों के यह दोनों भंग आदि के चार गुणस्थानों में सम्भव हैं। क्योंकि तिर्यंचायु के बंधकाल के पश्चात् नारक अविरत सम्यग्-दृष्टि या सम्यग्मिथ्यादृष्टि हो सकता है। अविरत सम्यग्दृष्टि नारक के भी मनुष्यायु का बंध होता है और बंध के पश्चात ऐसा जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को भी प्राप्त हो सकता है, जिससे दूसरा भंग भी प्रारम्भ के चार गुणस्थानों में सम्भव है।

---

१ इह नारका देवायुः नारकायुश्च भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति तत्रोत्पत्त्यभावात्।
—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १५६

इस प्रकार नरकगति में आयु के अबन्ध में एक, बंध में दो और उपरतबंध में दो, कुल मिलाकर पाँच भंग होते हैं।

नरकगति की आयुबंध सम्बन्धी विशेषता

नारक जीवों के उक्त पाँच भंग होने के संबंध में इतना विशेष जानना चाहिये कि नारक भवस्वभाव से ही नरकायु और देवायु का बंध नहीं करते हैं। क्योंकि नारक मर कर नरक और देव पर्याय में उत्पन्न नहीं होते हैं, ऐसा नियम है।[1] आशय यह है कि तिर्यंच और मनुष्य गति के जीव, तो मरकर चारों गतियों में उत्पन्न होते हैं किन्तु देव और नारक मरकर पुनः देव और नरक गति में उत्पन्न नहीं होते हैं, वे तो केवल तिर्यंच और मनुष्य गति में ही उत्पन्न होते हैं। नरकगति के आयुकर्म के संवेध भंगों का विवरण इस प्रकार है—

भंग क्रम	काल	बंध	उदय	सत्ता	गुणस्थान
१	अबंधकाल	०	नरक	नरक	१, २, ३, ४
२	बंधकाल	तिर्यंच	नरक	न० ति०	१, २
३	बंधकाल	मनुष्य	नरक	न० म०	१, २, ४
४	उप० बंधकाल	०	नरक	न० ति०	१, २, ३, ४
५	उप० बंधकाल	०	नरक	न० म०	१, २, ३, ४

देवायु के संवेध भंग—यद्यपि नरकगति के पश्चात तिर्यंचगति के आयुकर्म के संवेध भंगों का कथन करना चाहिये था। लेकिन जिस प्रकार नरकगति में अबन्ध, बन्ध और उपरतबंध की अपेक्षा पाँच भंग व उनके गुणस्थान बतलाये हैं, उसी प्रकार देवगति में भी होते

---

१ "देवा नारगा वा देवेसु नारगेसु वि न उववज्जंति इति"। ततो नारकाणां परभवायुर्बन्धकाले बन्धोत्तरकाले च देवायुः-नारकायुर्भ्याम् विकल्पाभावात् सर्वसंख्यया पंचैव विकल्पा भवन्ति।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १६०

हैं। परन्तु इतनी विशेषता है कि नरकायु के स्थान में सर्वत्र देवायु कहना चाहिये। जैसे देवायु का उदय, देवायु की सत्ता आदि।[1] देवायु के पाँच भंगों का कथन इस प्रकार होगा—

१. देवायु का उदय और देवायु की सत्ता (अबन्धकाल)।
२. तिर्यंचायु का बंध, देवायु का उदय और तिर्यंच-देवायु की सत्ता (बंधकाल)।
३. मनुष्यायु का बंध, देवायु का उदय और मनुष्य-देवायु की सत्ता (बंधकाल)।
४. देवायु का उदय और देव-तिर्यंचायु का सत्त्व (उपरत-बंधकाल)।
५. देवायु का उदय और देव-मनुष्यायु का सत्त्व (उपरत-बंधकाल) उक्त भंगों का विवरण इस प्रकार है—

भंगक्रम	काल	बंध	उदय	सत्ता	गुणस्थान
१	अबन्धकाल	०	देव	देव	१,२,३,४
२	बंधकाल	तिर्यंच	देव	ति०, देव	१,२
३	बंधकाल	मनुष्य	देव	देव, म०	१,२,४
४	उप० बंधकाल	०	देव	दे० ति०	१,२,३,४
५	उप० बंधकाल	०	देव	दे० म०	१,२,३,४

तिर्यंचायु के संवेध भंग—तिर्यंचगति में आयुकर्म के संवेध भंग-विकल्प नौ होते हैं। जिनका कथन इस प्रकार है कि अबन्धकाल में तिर्यंचायु का उदय और तिर्यंचायु की सत्ता यह एक भंग होता है, जो

---

१ एवं देवानामपि पंच विकल्पा भावनीयाः। नवरं नारकायुः स्थाने देवायुरिति वक्तव्यम्। तद्यथा—देवायुष उदयो, देवायुषः सत्ता इत्यादि।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १६०

प्रारंभ के पाँच गुणस्थानों में पाया जाता है। क्योंकि तिर्यंचगति में आदि के पाँच गुणस्थान ही होते हैं, शेष गुणस्थान नहीं होते हैं।

तिर्यंचगति में बन्धकाल के समय निम्नलिखित चार भंग होते हैं—१. नरकायु का बंध, तिर्यंचायु का उदय और नरक-तिर्यंचायु की सत्ता। २. तिर्यंचायु का बंध, तिर्यंचायु का उदय और तिर्यंच-तिर्यंचायु की सत्ता, ३. मनुष्यायु का बन्ध, तिर्यंचायु का उदय और मनुष्य-तिर्यंचायु की सत्ता तथा—४ देवायु का बन्ध, तिर्यंचायु का उदय और देव-तिर्यंचायु की सत्ता।

इनमें से पहला भंग मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में होता है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के सिवाय अन्यत्र नरकायु का बंध नहीं होता है। दूसरा भंग मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानों में होता है, क्योंकि तिर्यंचायु का बंध सासादन गुणस्थान तक ही होता है। तीसरा भंग भी पहले और दूसरे गुणस्थान—मिथ्यात्व और सासादन तक होता है, क्योंकि तिर्यंच जीव मनुष्यायु का बंध मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थान में ही करते हैं, अविरत सम्यग्दृष्टि और देश-विरत गुणस्थान में नहीं। चौथा भंग तीसरे सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान को छोड़कर पाँचवें देशविरत गुणस्थान तक चार गुणस्थानों में होता है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में आयुकर्म का बंध न होने से उसका यहां ग्रहण नहीं किया गया है।

इसी प्रकार उपरतबंधकाल में भी चार भंग होते हैं। जो इस प्रकार हैं—१. तिर्यंचायु का उदय और नरक-तिर्यंचायु की सत्ता, २. तिर्यंचायु का उदय और तिर्यंच-तिर्यंचायु की सत्ता, ३. तिर्यंचायु का उदय और मनुष्य-तिर्यंचायु की सत्ता और ४. तिर्यंचायु का उदय तथा देव-तिर्यंचायु की सत्ता।

ये चारों भंग प्रारम्भ के पाँच गुणस्थानों में होते हैं, क्योंकि जिस तिर्यंच ने नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायु का बंध कर लिया

है, उसके अन्य गुणस्थानों का पाया जाना सम्भव है। इस प्रकार तिर्यंचगति में अबन्ध, बंध और उपरतबंध की अपेक्षा कुल नौ भंग होते हैं। तिर्यंचगति में आयुकर्म के भंगों का विवरण इस प्रकार है—

भंग क्रम	काल	बंध	उदय	सत्ता	गुणस्थान
१	अबन्ध	०	तिर्यंच	तिर्यंच	१,२,३,४,५
२	बंध	नरक	तिर्यंच	न० ति०	१
३	बंधकाल	तिर्यंच	तिर्यंच	तिर्यंच ति०	१,२
४	,,	मनुष्य	तिर्यंच	म० ति०	१,२
५	,,	देव	तिर्यंच	देव ति०	१,२,४,५
६	उप० बंध	०	तिर्यंच	ति० न०	१,२,३,४,५
७	,,	०	तिर्यंच	तिर्यंच ति०	१,२,३,४,५
८	,,	०	तिर्यंच	ति० म०	१,२,३,४,५
९	,,	०	तिर्यंच	ति० दे०	१,२,३,४,५

मनुष्यायु के संवेध भंग—नरक, देव और तिर्यंचायु के संवेध भंगों का कथन किया जा चुका है। अब शेष रही मनुष्यायु के भंगों को बतलाते हैं। मनुष्यायु के भी नौ भंग हैं। जो इस प्रकार समझना चाहिये—

मनुष्यगति में अबन्धकाल में एक ही भंग—मनुष्यायु का उदय और मनुष्यायु की सत्ता—होता है। यह भंग पहले से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक सभी गुणस्थानों में होता है। क्योंकि मनुष्यगति में यथासम्भव सभी चौदह गुणस्थान होते हैं।

बंधकाल में—१. नरकायु का बंध, मनुष्यायु का उदय और नरक-मनुष्यायु की सत्ता। २. तिर्यंचायु का बंध, मनुष्यायु का उदय और तिर्यंच-मनुष्यायु की सत्ता ३. मनुष्यायु का बंध, मनुष्यायु का उदय और मनुष्य-मनुष्यायु की सत्ता तथा ४. देवायु का बंध, मनुष्यायु का उदय और देव-मनुष्यायु की सत्ता, यह चार भंग होते हैं।

इनमें से पहला भंग मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में होता है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के सिवाय अन्यत्र नरकायु का बंध सम्भव नहीं है। तिर्यंचायु का बंध दूसरे गुणस्थान तक होता है, अतः दूसरा भंग मिथ्यात्व, सासादन इन दो गुणस्थानों में होता है। तीसरा भंग भी मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानों में ही पाया जाता है, क्योंकि मनुष्य तिर्यंचायु के समान मनुष्यायु का बन्ध भी दूसरे गुणस्थान तक ही करते हैं। चौथा भंग मिश्र गुणस्थान को छोड़कर अप्रमत्तसंयत सातवें गुणस्थान तक छह गुणस्थानों में होता है। क्योंकि मनुष्यगति में देवायु का बंध अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक पाया जाता है।

उपरतबंधकाल में—१. मनुष्यायु का उदय और नरक-मनुष्यायु का सत्त्व, २. मनुष्यायु का उदय और तिर्यंच-मनुष्यायु का सत्त्व, ३. मनुष्यायु का उदय और मनुष्य-मनुष्यायु का सत्त्व तथा ४. मनुष्यायु का उदय और देव-मनुष्यायु का सत्त्व, यह चार भंग होते हैं।

उक्त चार भंगों में से आदि के तीन भंग सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक पाये जाते हैं। क्योंकि यद्यपि मनुष्यगति में नरकायु का बंध पहले गुणस्थान में, तिर्यंचायु का बंध दूसरे गुणस्थान तक तथा इसी प्रकार मनुष्यायु का बंध भी दूसरे गुणस्थान तक ही होता है, तथापि बंध करने के बाद ऐसे जीव संयम को तो धारण कर सकते हैं, किन्तु श्रेणि-आरोहण नहीं करते हैं। इसलिये उपरतबंध की अपेक्षा नरक, तिर्यंच और मनुष्य आयु इन तीन आयुओं का सत्त्व अप्रमत्त गुणस्थान तक बतलाया है। चौथा भंग प्रारम्भ के ग्यारह गुणस्थानों तक पाया जाना सम्भव है, क्योंकि देवायु का जिस मनुष्य ने बंध कर लिया है, उसके उपशमश्रेणि पर आरोहण सम्भव है। इस प्रकार मनुष्यगति में अबन्ध, बंध और उपरतबंध की अपेक्षा आयुकर्म के कुल नौ भंग होते हैं।

मनुष्यगति के उपरतबंध भंगों की विशेषता

तिर्यंचगति में उपरतबंध की अपेक्षा नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायु की सत्ता पाँचवें गुणस्थान तक तथा मनुष्यगति में उपरतबंध की अपेक्षा नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायु की सत्ता सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक बतलाई है। इस सम्बन्ध में मतभिन्नता है।

देवेन्द्रसूरि ने दूसरे कर्मग्रन्थ 'कर्मस्तव' के सत्ताधिकार में लिखा है कि दूसरे और तीसरे गुणस्थान के सिवाय पहले से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक १४८ प्रकृतियों की सत्ता सम्भव है[1] तथा आगे इसी ग्रन्थ में यह भी लिखा है कि चौथे से सातवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में अनन्तानुबंधीचतुष्क की विसंयोजना और दर्शनमोहत्रिक का क्षय हो जाने पर १४१ की सत्ता होती है और अपूर्वकरण आदि चार गुणस्थानों में अनन्तानुबंधीचतुष्क, नरकायु और तिर्यंचायु इन छह प्रकृतियों के बिना १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है।[2]

उक्त कथन का सारांश यह है कि १. उपरतबंध की अपेक्षा चारों आयुओं की सत्ता ग्यारहवें गुणस्थान तक सम्भव है और २. उपरतबंध की अपेक्षा नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायु की सत्ता सातवें गुणस्थान तक पाई जाती है। इस प्रकार दो मत फलित होते हैं।

पंचसंग्रह सप्ततिका-संग्रह नामक प्रकरण की गाथा १०६ तथा बृहत्कर्मस्तव भाष्य से दूसरे मत की पुष्टि होती है, किन्तु पंचसंग्रह के इसी प्रकरण की छठी गाथा में इन दोनों से भिन्न एक अन्य मत भी दिया है कि नरकायु की सत्ता चौथे गुणस्थान तक, तिर्यंचायु की

---

१ गाथा २५, द्वितीय कर्मग्रन्थ।

२ गाथा २६, द्वितीय कर्मग्रन्थ।

सत्ता पाँचवें गुणस्थान तक, देवायु की सत्ता ग्यारहवें गुणस्थान तक और मनुष्यायु की सत्ता चौदहवें गुणस्थान तक पाई जाती है। गो० कर्मकांड में भी इसी मत को माना है तथा दिगम्बर ग्रन्थों में भी यही एक मत पाया जाता है।

यहाँ जो वर्णन किया गया है वह दूसरे मत—उपरतबंध की अपेक्षा नरकायु, तिर्यंचायु और मनुष्यायु की सत्ता सातवें गुणस्थान तक पाई जाती है—के अनुसार किया है। आचार्य मलयगिरि ने इसी मत के अनुसार सप्ततिका प्रकरण टीका में विवेचन किया है—"बन्धे तु व्यवच्छिन्ने मनुष्यायुष उदयो नारक-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्पोऽप्रमत्तगुणस्थानकं यावत्, नारकायुर्बन्धानन्तरं संयमप्रतिपत्तेरपि सम्भवात्। मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ्-मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्पोऽप्रमत्तगुणस्थानकं यावत्। मनुष्यायुष उदयो मनुष्य-मनुष्यायुषी सती, एषोऽपि विकल्पः प्राग्वत्। मनुष्यायुष उदयो देव-मनुष्यायुषी सती, एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत्, देवायुषि बद्धेऽप्युपशमश्रेण्यारोह सम्भवात्।" —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १६०

श्वेताम्बर कर्म साहित्य में इसी मत की मुख्यता है। मनुष्यगति के नौ संवेध भंगों का विवरण निम्न प्रकार समझना चाहिये—

भंग क्रम	काल	बंध	उदय	सत्ता	गुणस्थान
१	अबन्ध	०	मनुष्य	मनुष्य	सभी चौदह गुण०
२	बंधकाल	नरक	,,	नरक, मनुष्य	१
३	,,	तिर्यंच	,,	म० तिर्यं०	१,२
४	,,	मनुष्य	,,	म० म०	१,२
५	,,	देव	,,	म० दे०	१,२,४,५,६,७
६	उप० बन्ध	०	,,	म० न०	१,२,३,४,५,६,७
७	,,	०	,,	म० ति०	१,२,३,४,५,६,७
८	,,	०	,,	म० म०	१,२,३,४,५,६,७
९	,,	०	,,	म० दे०	१ से ११ गुण० तक

इस प्रकार चारों गतियों के ५+९+९+५=२८, कुल मिलाकर आयुकर्म के अट्ठाईस भंग होते हैं।[1] प्रत्येक गति में आयु के भंग लाने के लिये गो० कर्मकांड गा० ६४५ में एक नियम सूत्र दिया है—

एक्काउस्स तिभंगा सम्भवआउहि ताडिदे णाणा।
जीवे इगिभवभंगा रूऊणगुणूणमसरित्थे॥

इसका सारांश यह है कि जिस गति में जितनी आयुओं का बंध होता है, उस संख्या को तीन से गुण कर दें और जहाँ जो लब्ध आये उसमें से एक कम बंधने वाली आयुओं की संख्या घटा दें तो प्रत्येक गति में आयु के अबन्ध, बंध और उपरतबंध की अपेक्षा कुल भंग प्राप्त हो जाते हैं। जैसे कि—देव और नारक में दो-दो आयु का ही बंध सम्भव है, अतः उन दोनों में छह-छह भंग होते हैं। अब इनमें एक-एक कम बंधने वाली आयुओं की संख्या को कम कर दिया तो नरकगति के पाँच भंग और देवगति के पाँच भंग आ जाते हैं। मनुष्य और तिर्यंचगति में चार आयुओं का बंध होता है। अतः चार को तीन से गुणा करने पर बारह होते हैं। अब इनमें से एक कम बंधने वाली आयुओं की संख्या तीन को घटा दें तो मनुष्य और तिर्यंचगति के नौ-नौ भंग आ जाते हैं। अतएव देव, नारक में पाँच-पाँच और मनुष्य, तिर्यंच में नौ-नौ भंग अपुनरुक्त समझना चाहिये।

उक्त अपुनरुक्त भंग नरकादि गति में चारों आयुओं के क्रम से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में समझना चाहिये। दूसरे गुणस्थान में नरकायु के बिना बंध रूप भंग होते हैं, अतः वहाँ ५,८,८,५ भंग जानना। पूर्व में जो आयुबंध की अपेक्षा भंग कहे गये हैं, वे सब कम

---

१ नारयसुराउउदओ चउ पंचम तिरि मणुस्स चोद्दसमं।
आसम्मदेसजोगी उवसंता संतयाऊणं॥
अबंधे इगि संतं दो दो बद्धाउ बज्झमाणाणं।
चउसु वि एक्कस्सुदओ पण नव नव पंच इइ भेया॥
—पंचसंग्रह सप्ततिका ८,९

करने पर मिश्र गुणस्थान में नरकादि गतियों में क्रम से ३,५,५,३, भंग होते हैं और चौथे गुणस्थान में देव, नरक गति में तो तिर्यंचायु का बंध रूप भंग नहीं होने से चार-चार भंग हैं तथा मनुष्य-तिर्यंच-गति में आयु बंध की अपेक्षा नरक, तिर्यंच, मनुष्य आयु संबंधी तीन भंग न होने से छह-छह भंग हैं, क्योंकि इनके बंध का अभाव सासादन गुणस्थान में हो जाता है। देशविरत गुणस्थान में तिर्यंच और मनुष्यों के बंध, अबंध और उपरतबंध की अपेक्षा तीन-तीन भंग होते हैं। छठवें, सातवें गुणस्थान में मनुष्य के ही और देवायु के बंध की ही अपेक्षा तीन-तीन भङ्ग होते हैं। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि आदि सात गुणस्थानों में सब मिलाकर अपुनरुक्त भङ्ग क्रम से २८,२६,१६, २०,६,३,३ हैं।[1]

वेदनीय और आयु कर्म के संवेध भङ्गों का विचार करने के अनन्तर अब गोत्रकर्म के भङ्गों का विचार करते हैं।

गोत्रकर्म के संवेध भंग

गोत्र कर्म के दो भेद हैं—उच्चगोत्र, नीचगोत्र। इनमें से एक जीव के एक काल में किसी एक का बंध और किसी एक का उदय होता है। क्योंकि दोनों का बंध या उदय परस्पर विरुद्ध है। जब उच्च गोत्र का बंध होता है तब नीच गोत्र का बंध नहीं और नीच गोत्र के बंध के समय उच्च गोत्र का बंध नहीं होता है।

---

१ इन भंगों के अतिरिक्त गो० कर्मकांड में उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि की अपेक्षा मनुष्यगति में आयुकर्म के कुछ और भंग बतलाये हैं कि उपशमश्रेणि में देवायु का भी बंध न होने से देवायु के अबन्ध, उपरत-बंध की अपेक्षा दो-दो भंग हैं तथा क्षपकश्रेणि में उपरतबंध के भी न होने से अबन्ध की अपेक्षा एक-एक ही भंग है। अतः उपशमश्रेणि वाले चार गुणस्थानों में दो-दो भंग और उसके बाद क्षपकश्रेणि में अपूर्वकरण से लेकर अयोगिकेवलीगुणस्थान तक एक-एक भंग कहा गया है।

इसी प्रकार उदय के बारे में समझना चाहिये। दोनों में से एक समय में एक का बंध या उदय होने का कारण इनका परस्पर विरोधनी प्रकृतियाँ होना है, किन्तु सत्ता दोनों प्रकृतियों की एक साथ पाई जा सकती है। दोनों की एक साथ सत्ता पाये जाने में कोई विरोध नहीं है।[1] लेकिन इतनी विशेषता है कि अग्निकायिक और वायुकायिक जीव उच्चगोत्र की उद्वलना भी करते हैं, अतः उद्वलना करने वाले इन जीवों के अथवा जब ये जीव अन्य एकेन्द्रिय आदि में उत्पन्न हो जाते हैं तब उनके भी कुछ काल के लिये सिर्फ एक नीचगोत्र की ही सत्ता पाई जाती है। उसके बाद उच्चगोत्र को बांधने पर दोनों की सत्ता होती है।[2] अयोगिकेवली भी अपने उपान्त्य समय में नीचगोत्र का क्षय कर देते हैं, उस समय उनके सिर्फ एक उच्चगोत्र की ही सत्ता पाई जाती है।

गोत्रकर्म के बंध, उदय और सत्ता स्थानों के सम्बन्ध में उक्त कथन का सारांश यह है कि अपेक्षा से गोत्रकर्म का बंधस्थान भी एक प्रकृतिक होता है, उदयस्थान भी एक प्रकृतिक होता है, किन्तु सत्तास्थान दो प्रकृतिक भी होता है और एक प्रकृतिक भी होता है।[3]

---

१ णीचुच्चाणेगदरं बंधुदया होंति संभवट्ठाणे।
वोसत्ता जोगित्ति य चरिमे उच्चं हवे सत्तं॥—गो० कर्मकांड, गाथा ६३५

२ उच्चुव्वेल्लिदतेऊ वाउम्मि य णीचमेव सत्तं तु।
सेसिगिवियले सयले णीचं च दुगं च सत्तं तु॥
उच्चुव्वेल्लिदतेऊ वाऊ सेसे य विगलसयलेसु।
उप्पण्णपढमकाले णीचं एयं हवे सत्तं॥
—गो० कर्मकांड गा० ६३६, ६३७,

३ तथा गोत्रे सामान्येनैकं बन्धस्थानम्, तद्यथा—उच्चैर्गोत्रं, नीचैर्गोत्रं वा, द्वयोः परस्पर विरुद्धत्वेन युगपद्बन्धाभावात्। उदयस्थानमप्येकम्, तदपि द्वयोरन्यतरत्, परस्परविरुद्धत्वेन युगपद् द्वयोरुदयाभावात्।

गोत्रकर्म के सामान्य से भंग बतलाने के पश्चात् अब इन स्थानों के संवेध भङ्ग बतलाते हैं। गोत्रकर्म के सात संवेध भङ्ग इस प्रकार हैं—

१. नीचगोत्र का बंध, नीचगोत्र का उदय और नीचगोत्र की सत्ता।
२. नीचगोत्र का बंध, नीचगोत्र का उदय और नीच-उच्च गोत्र की सत्ता।
३. नीचगोत्र का बंध, उच्चगोत्र का उदय और उच्च-नीच गोत्र की सत्ता।
४. उच्चगोत्र का बंध, नीचगोत्र का उदय और उच्च-नीच गोत्र की सत्ता।
५. उच्च गोत्र का बंध, उच्चगोत्र का उदय और उच्च-नीच गोत्र की सत्ता।
६. उच्चगोत्र का उदय और उच्च-नीच गोत्र की सत्ता।
७. उच्चगोत्र का उदय और उच्चगोत्र की सत्ता।

इनमें से पहला भङ्ग उच्चगोत्र की उद्वलना करने वाले अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों के होता है तथा ऐसे जीव एकेन्द्रिय, विकलत्रय और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं तो उनके भी अन्तर्मुहूर्त काल तक के लिये होता है। क्योंकि अन्तर्मुहूर्त काल के पश्चात् इन एकेन्द्रिय आदि जीवों के उच्चगोत्र का बंध नियम से हो जाता है। दूसरा और तीसरा भङ्ग मिथ्यादृष्टि और सासादन इन दो गुणस्थानों में पाया जाता है, क्योंकि नीचगोत्र का बंधविच्छेद

द्वे सत्तास्थाने, तद्यथा—द्वे एकं च। तत्र उच्चैर्गोत्र-नीचैर्गोत्रे समुदिते द्वे, तेजस्कायिक-वायुकायिकावस्थायां उच्चैर्गोत्रे उद्वलिते एकम्, अथवा नीचैर्गोत्रेऽयोगिकेवलिद्विचरमसमये क्षीणे एकम्।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १६१

दूसरे गुणस्थान में हो जाता है। इन दोनों भंगों का सम्बन्ध नीचगोत्र के बंध से है, अतः इनका सद्भाव पहले और दूसरे गुणस्थान में बताया है, आगे तीसरे सम्यग्मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में नहीं बताया है। चौथा भङ्ग आदि के पाँच गुणस्थानों में सम्भव है क्योंकि नीचगोत्र का उदय पाँचवें गुणस्थान तक सम्भव है, अतः प्रमत्तसंयत आदि आगे के गुणस्थानों में इसका अभाव बतलाया है। उच्चगोत्र का बंध दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक होता है, अतः पाँचवां भङ्ग आदि के दस गुणस्थानों में सम्भव है, क्योंकि इस भङ्ग में उच्चगोत्र का बंध विवक्षित है। जिससे आगे के गुणस्थानों में इसका निषेध किया है। छठा भङ्ग—उच्चगोत्र का उदय और उच्च-नीच गोत्र की सत्ता—उपशान्तमोह गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान के द्विचरम समय तक होता है। क्योंकि नीचगोत्र की सत्ता यहीं तक पाई जाती है और इस भङ्ग में नीचगोत्र की सत्ता गर्भित है। सातवाँ भङ्ग अयोगिकेवली गुणस्थान के अंतिम समय में होता है। क्योंकि उच्चगोत्र का उदय और उच्चगोत्र की सत्ता अयोगिकेवली गुणस्थान के अंतिम समय में पाई जाती है और इस भङ्ग में उच्चगोत्र का उदय और सत्ता संकलित है।

गोत्रकर्म के उक्त सात भंगों का विवरण इस प्रकार है—

भंगक्रम	बंध	उदय	सत्ता	गुणस्थान
१	नीच	नीच	नीच	१
२	नीच	नीच	नीच-उच्च	१,२
३	नीच	उच्च	,, ,,	१,२
४	उच्च	नीच	,, ,,	१,२,३,४,५
५	उच्च	उच्च	,, ,,	१ से १० गुणस्थान
६	०	,,	,, ,,	११,१२,१३ व १४ द्विचरम समय
७	०	,,	उच्च	१४ वें का चरम समय

गुणस्थानों की अपेक्षा गोत्रकर्म के भङ्ग मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थान में क्रम से पाँच और चार होते हैं। मिश्र आदि तीन गुणस्थानों में दो-दो भङ्ग हैं। प्रमत्त आदि आठ गुणस्थानों में गोत्र-कर्म का एक-एक भङ्ग है और अयोगिकेवली गुणस्थान में दो भङ्ग होते हैं।[1]

इस प्रकार से वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म के भंगों को बतलाने के पश्चात अब पूर्व सूचनानुसार—मोहं परं वोच्छं—मोहनीय कर्म के बंधस्थानों आदि का कथन करते हैं।

मोहनीय कर्म

बावीस एक्कबीसा, सत्तरसा तेरसेव नव पंच ।
चउ तिग दुगं च एक्कं बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥१०॥[2]

शब्दार्थ—बावीस—बाईस, एक्कबीसा—इक्कीस, सत्तरसा—सत्रह, तेरसेव—तेरह, नव—नौ, पंच—पांच, चउ—चार, तिग—

---

१ (क) बंधइ ऊइण्णयं चि य इयरं वा दो वि संत चउ भंगा ।
नीएसु तिसु वि पढमो अबंधगे दोण्णि उच्चुदए ॥
—पंचसंग्रह सप्ततिका, गा० १६

(ख) मिच्छादि गोदभंगा पण चदु तिसु दोण्णि अट्ठठाणेसु ।
एकेक्का जोगिजिणे दो भंगा होंति णियमेण ॥
—गो० कर्मकांड, गा० ६३८

२ तुलना कीजिये—
(क) बावीसमेक्कवीसं सत्तारस तेरसेव णव पंच ।
चदुतियदुगं च एक्कं बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥
—गो० कर्मकांड ४६३

(ख) दुगइगवीसा सत्तर तेरस नव पंच चउर ति दु एगो ।
बंधो इगि दुग चउत्थय पणउणवमेसु मोहस्स ॥
—पंचसंग्रह सप्ततिका, गा० १६

तीन, दुगं —दो, च—और, इक्कं—एक प्रकृतिक, बंधट्ठाणाणि—बंध-स्थान, मोहस्स—मोहनीय कर्म के।

गाथार्थ—मोहनीय कर्म के बाईस प्रकृतिक, इक्कीस प्रकृतिक, सत्रह प्रकृतिक, तेरह प्रकृतिक, नौ प्रकृतिक, पांच प्रकृतिक, चार प्रकृतिक, तीन प्रकृतिक, दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक, इस प्रकार दस बंधस्थान हैं।

विशेषार्थ—गाथा में 'मोहस्स बंधट्ठाणाणि' मोहनीय कर्म के बंध-स्थानों का वर्णन किया जा रहा है। वे बंधस्थान बाईस, इक्कीस आदि प्रकृतिक कुल मिलाकर दस हैं। जिनका स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है।

मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ अट्ठाईस हैं। इनमें दर्शन मोह-नीय की सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व यह तीन प्रकृतियाँ हैं। इनमें से सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दोनों का बंध नहीं होने से कुल बंधयोग्य छब्बीस प्रकृतियाँ रहती हैं और उनमें से कुछ प्रकृतियों का बंध के समय परस्पर विरोधनी होने तथा गुणस्थानों में विच्छेद होते जाने के कारण बाईस प्रकृतिक आदि दस बंधस्थान[1] मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के होते हैं।

---

१ मोहनीय कर्म के बाईस प्रकृतिक आदि दस बंधस्थानों में प्रकृतियों की संग्राहक गाथायें इस प्रकार हैं—

मिच्छं कसायसोलस भयकुच्छा तिण्हवेयमन्नयरं।
हासरइ इयरजुयलं च बंधपयडी य बावीसं॥
इगवीसा मिच्छविणा नपुंबंधविणा उ सासणे बंधे।
अणरहिया सत्तरस न बन्धि थिइं तुरि अठाणम्मि॥
वियसंपरायऊणा तेरस तह तइयऊण नव बन्धे।
भय-कुच्छ-जुगल चाए पण बंधे बायरे ठाणे॥
तह पुरिस कोहसंकार-मायालोभस्स बंधवोच्छेए।
चउ-ति-दुग एग बंधे कमेण मोहस्स दसठाणा॥

—षष्ठ कर्मग्रन्थ प्राकृत टिप्पण, रामदेवगणि विरचित, गाथा २२ से २५

मोहनीय कर्म के दस बंधस्थानों में से पहला स्थान बाईस प्रकृतिक है। इसका कारण यह है कि तीन वेदों का एक साथ बंध नहीं होता है, किन्तु एक काल में एक ही वेद का बंध होता है। चाहे वह पुरुष-वेद का हो, स्त्रीवेद का हो या नपुंसकवेद का हो तथा हास्य-रति युगल और अरति-शोक युगल, इन दोनों युगलों में से एक समय में एक युगल का बंध होगा। दोनों युगल एक साथ बंध को प्राप्त नहीं होते हैं। अतः छब्बीस प्रकृतियों में से दो वेद और दो युगलों में से किसी एक युगल के कम करने पर बाईस प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। इन बाईस प्रकृतियों का बंध मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में होता है।

उक्त बाईस प्रकृतिक बंधस्थान में से मिथ्यात्व को कम कर देने पर इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान होता है। यह स्थान सासादन गुण-स्थान में होता है। क्योंकि मिथ्यात्व का विच्छेद पहले मिथ्यात्व गुण-स्थान में हो जाता है। यद्यपि दूसरे सासादन गुणस्थान में नपुंसक-वेद का भी बंध नहीं होता है, लेकिन पुरुषवेद या स्त्रीवेद के बंध से उसकी पूर्ति हो जाने से संख्या इक्कीस ही रहती है।

अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क का बन्ध दूसरे गुणस्थान तक ही होता है। अतः इक्कीस प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धी चतुष्क को कम कर देने से मिश्र और अविरत सम्यग्दृष्टि—तीसरे, चौथे—गुणस्थान में सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान प्राप्त होता है। यद्यपि इन गुणस्थानों में स्त्रीवेद का बंध नहीं होता है, तथापि पुरुषवेद का वहाँ बंध होते रहने से सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान बन जाता है।

देशविरति गुणस्थान में तेरह प्रकृतिक बंधस्थान होता है। क्योंकि अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का बन्ध चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक ही होता है। अतः सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान में से अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क को कम कर देने पर पाँचवें देशविरत गुणस्थान में तेरह प्रकृतिक बंधस्थान प्राप्त होता है।

प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का बंध पाँचवें देशविरति गुणस्थान तक होता है। अतः पूर्वोक्त तेरह प्रकृतियों में से प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क को कम कर देने पर छठवें, सातवें और आठवें—प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत और अपूर्वकरण—गुणस्थान में नौ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। यद्यपि अरति-शोक युगल का बंध छठे गुणस्थान तक ही होता है, लेकिन सातवें और आठवें गुणस्थान में इनकी पूर्ति हास्य व रति से हो जाने के कारण नौ प्रकृतिक बंधस्थान ही रहता है।

हास्य, रति, भय और जुगुप्सा इन चार प्रकृतियों का बंध आठवें गुणस्थान के अंतिम समय तक होता है। अतः पूर्वोक्त नौ प्रकृतिक बंधस्थान में से इन चार प्रकृतियों को कम कर देने पर नौवें अनिवृत्तिबादर संपराय गुणस्थान के प्रथम भाग में पाँच प्रकृतिक बंधस्थान होता है। दूसरे भाग में पुरुषवेद का बन्ध नहीं होता, अतः वहाँ चार प्रकृतिक, तीसरे भाग में संज्वलन क्रोध का बंध नहीं होता है अतः वहाँ तीन प्रकृतिक, चौथे भाग में संज्वलन मान का बंध नहीं होने से दो प्रकृतिक और पाँचवें भाग में संज्वलन माया का बंध नहीं होने से एक प्रकृतिक बंधस्थान होता है। इस प्रकार नौवें अनिवृत्तिबादर संपराय गुणस्थान के पाँच भागों में पाँच प्रकृतिक, चार प्रकृतिक, तीन प्रकृतिक, दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक, ये पाँच बंधस्थान होते हैं।

इसके आगे दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में एक प्रकृतिक बंधस्थान का भी अभाव है। क्योंकि वहाँ मोहनीय कर्म के बंध के कारणभूत बादर कषाय नहीं पाया जाता है। इस प्रकार मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों के कुल दस बंधस्थान हैं।

दस बंधस्थानों का समय व स्वामी

बाईस प्रकृतिक बंधस्थान का स्वामी—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती

जीव है। इस बंधस्थान के काल की अपेक्षा तीन भङ्ग हैं—अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त। इनमें से अनादि-अनन्त विकल्प अभव्यों की अपेक्षा होता है। क्योंकि उनके बाईस प्रकृतिक बंधस्थान का कभी अभाव नहीं पाया जाता है। भव्यों की अपेक्षा अनादि-सान्त विकल्प है। क्योंकि कालान्तर में उनके बाईस प्रकृतिक बंधस्थान का बंधविच्छेद सम्भव है तथा जो जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व को प्राप्त हुए हैं और कालान्तर में पुनः सम्यक्त्व को प्राप्त हो जाते हैं, उनके सादि-सान्त विकल्प पाया जाता है। क्योंकि यह विकल्प कादाचित्क है, अतः इसका आदि भी पाया जाता है और अन्त भी। इस सादि-सान्त विकल्प की अपेक्षा बाईस प्रकृतिक बंधस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल देशोन अपार्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण होता है।

इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान का स्वामी सासादन गुणस्थानवर्ती जीव है। सासादन गुणस्थान का जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल छह आवली है, अतः इस बंधस्थान का भी उक्त काल-प्रमाण समझना चाहिये। सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान के स्वामी तीसरे और चौथे गुणस्थानवर्ती जीव हैं। इस स्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल साधिक तेतीस सागर है। तेरह प्रकृतिक बंधस्थान का स्वामी देशविरत गुणस्थानवर्ती जीव है और देश-विरत गुणस्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल देशोन पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण होने से तेरह प्रकृतिक बंधस्थान का जघन्य व उत्कृष्ट काल उतना समझना चाहिये। नौ प्रकृतिक बंधस्थान छठवें, सातवें और आठवें गुणस्थान में पाया जाता है। इस बंधस्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल देशोन पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है। यद्यपि छठे, सातवें और आठवें गुणस्थान का उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं है, फिर भी परिवर्तन क्रम से छठे और

सातवें गुणस्थान में एक जीव देशोन पूर्वकोटि प्रमाण रह सकता है। इसीलिये नौ प्रकृतिक बंधस्थान का उत्कृष्टकाल उक्त प्रमाण है। पाँच, चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक बंधस्थान नौवें अनिवृत्ति-बादर संपराय गुणस्थान के पाँच भागों में होते हैं और इन सभी प्रत्येक बंधस्थान का जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है। क्योंकि नौवें गुणस्थान के प्रत्येक भाग का जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। मोहनीय कर्म के दस बंध-स्थानों का स्वामी व काल सहित विवरण इस प्रकार है—

बंधस्थान	गुणस्थान	काल	
		जघन्य	उत्कृष्ट
२२ प्र०	पहला	अन्तर्मुहूर्त	देशोन अपा.
२१ प्र०	दूसरा	एक समय	छह आवली
१७ प्र०	३,४ था	अन्तर्मुहूर्त	साधिक ३३ सागर
१३ प्र०	५ वाँ	,,	देशोन पूर्वकोटि
९ प्र०	६,७, ८ वाँ	,,	,,
५ ,,	नौवें का पहला भाग	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
४ ,,	,, ,, दूसरा भाग	,,	,,
३ ,,	,, ,, तीसरा भाग	,,	,,
२ ,,	,, ,, चौथा भाग	,,	,,
१ ,,	,, ,, पाँचवाँ भाग	,,	,,

मोहनीय कर्म के दस बंधस्थानों को बतलाने के बाद अब उदय-स्थानों का कथन करते हैं।

एक्कं च दो व चउरो एत्तो एक्काहिया दसुक्कोसा।
ओहेण मोहणिज्जे उदयट्ठाणा नव हवंति ॥११॥[1]

१ तुलना कीजिये—
दस णव अट्ठ य सत्त य छप्पण चत्तारि दोण्णि एक्कं च।
उदयट्ठाणा मोहे णव चेव य होंति णियमेण ॥
—गो० कर्मकांड, गा० ४७५

शब्दार्थ—एक्कं—एक, व—और, दो—दो, व—और, चउरो—चार, एसो—इससे आगे, एक्काहिया—एक-एक प्रकृति अधिक, दस—दस तक, उक्कोसा—उत्कृष्ट से, ओहेण—सामान्य से, मोहणिज्जे—मोहनीय कर्म में, उदयट्ठाणा—उदयस्थान, नव—नौ, हवंति—होते हैं।

गाथार्थ—एक, दो और चार और चार से आगे एक-एक प्रकृति अधिक उत्कृष्ट दस प्रकृति तक के नौ उदयस्थान मोहनीय कर्म के सामान्य से होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में मोहनीय कर्म के उदयस्थानों की संख्या बतलाई है कि वे नौ होते हैं। इन उदयस्थानों की संख्या एक, दो, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ और दस प्रकृतिक है।

ये उदयस्थान पश्चादानुपूर्वी के क्रम से बतलाये हैं। गणनानुपूर्वी के तीन प्रकार हैं—१. पूर्वानुपूर्वी, २. पश्चादानुपूर्वी और ३. यत्रतत्रानुपूर्वी।[1] इनकी व्याख्या इस प्रकार है कि जो पदार्थ जिस क्रम से उत्पन्न हुआ हो या जिस क्रम से सूत्रकार के द्वारा स्थापित किया गया हो, उसकी उसी क्रम से गणना करना पूर्वानुपूर्वी है। विलोमक्रम से अर्थात् अन्त से लेकर आदि तक गणना करना पश्चादानुपूर्वी है और अपनी इच्छानुसार जहाँ कहीं से अपने इच्छित पदार्थ को प्रथम मानकर गणना करना यत्रतत्रानुपूर्वी कहलाता है। यहाँ ग्रन्थकार ने उक्त तीन गणना की आनुपूर्वियों में से पश्चादानुपूर्वी के क्रम से मोहनीय कर्म के उदयस्थान गिनाये हैं।

मोहनीय कर्म का उदय दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक होता है। अतः पश्चादानुपूर्वी गणना क्रम से एक प्रकृतिक उदयस्थान सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में होता है क्योंकि वहाँ संज्वलन लोभ का उदय है। वह इस प्रकार समझना चाहिये कि नौवें गुणस्थान के अपगत वेद

१ गणणाणुपुव्वी तिविहा पण्णत्ता तं जहा—पुव्वाणुपुव्वी, पच्छाणुपुव्वी, अणाणुपुव्वी।
—अनुयोगद्वार सूत्र ११६

के प्रथम समय से लेकर सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अंतिम समय तक संज्वलन लोभ का उदय पाया जाता है, जिससे सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में एक प्रकृतिक उदयस्थान बतलाया है।

उक्त एक प्रकृतिक उदयस्थान में तीन वेदों में से किसी एक वेद को मिला देने पर दो प्रकृतिक उदयस्थान होता है जो नौवें अनिवृत्ति-बादर संपराय गुणस्थान के प्रथम समय से लेकर सवेदभाग के अंतिम समय तक होता है।

इस दो प्रकृतिक उदयस्थान में हास्य-रति युगल अथवा अरति-शोक युगल में से किसी एक युगल को मिलाने से चार प्रकृतिक उदय-स्थान होता है। तीन प्रकृतिक उदयस्थान इसलिये नहीं होता है कि दो प्रकृतिक उदयस्थान में हास्य-रति या अरति-शोक युगलों में से किसी एक युगल के मिलाने से जोड़ (योग) चार होता है। अतः चार प्रकृतिक उदयस्थान बताया है। इस चार प्रकृतिक उदयस्थान में भय प्रकृति को मिलाने से पांच प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसमें जुगुप्सा प्रकृति के मिलाने से छह प्रकृतिक उदयस्थान होता है। ये तीनों उदयस्थान छठे, सातवें और आठवें गुणस्थान में होते हैं।

इस छह प्रकृतिक उदयस्थान में प्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क की किसी एक प्रकृति को मिलाने से सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है। जो पांचवें गुणस्थान में होता है। इसमें अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क की किसी एक प्रकृति को मिलाने पर आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह उदयस्थान चौथे और तीसरे गुणस्थान में होता है। इस आठ प्रकृतिक उदयस्थान में अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क की किसी प्रकृति को मिलाने से नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह स्थान दूसरे गुणस्थान में होता है और इस नौ प्रकृतिक

उदयस्थान में मिथ्यात्व को मिलाने पर दस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह उदयस्थान मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में होता है।[1]

मोहनीय कर्म के उक्त नौ उदयस्थान सामान्य से बतलाये हैं। क्योंकि तीसरे मिश्र गुणस्थान में मिश्र मोहनीय का और चौथे से सातवें गुणस्थान तक वेदक सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व मोहनीय का उदय हो जाता है। इसलिये सभी विकल्पों को न बतलाकर यहाँ तो सूचना मात्र की है। विशेष विस्तार से वर्णन आगे किया जा रहा है। प्रत्येक उदयस्थान का जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है।

मोहनीय कर्म के उदयस्थानों का विवरण इस प्रकार है—

उदयस्थान	गुणस्थान	काल	
		जघन्य	उत्कृष्ट
१ प्र०	नौवें का अवेद भाग व दसवां	एक समय	अन्तर्मुहूर्त
२ ,,	नौवें का सवेद भाग	,,	,,
४ ,,	६, ७, ८	,,	,,
५ ,,	६, ७, ८	,,	,,
६ ,,	६, ७, ८	,,	,,
७ ,,	पांचवां	,,	,,
८ ,,	४, ३	,,	,,
९ ,,	२	,,	,,
१० ,,	१	,,	,,

१ मोहनीय कर्म के नौ उदयस्थानों की संग्रहणीय गाथायें इस प्रकार हैं—

(क) एगयर संपरायं वेयजुयं दोण्णि जुयलजुय चउरो।
पच्चक्खाणेगयरे छट्ठे पंचेव पयडीओ॥

मोहनीय कर्म के उदयस्थानों को बतलाने के पश्चात् अब सत्ता-स्थानों का कथन करते हैं।

अट्ठगसत्तगछच्चउतिगदुगएगाहिया भवे बीसा।
तेरस बारिक्कारस इत्तो पंचाइ एक्कूणा ॥१२॥
संतस्स पगइठाणाइं ताणि मोहस्स हुंति पन्नरस।
बन्धोदयसंते पुण भंगविगप्पा बहू जाण ॥१३॥

शब्दार्थ—**अट्ठग-सत्तग-छच्चउतिग-दुग-एगाहिया**—आठ, सात, छह, चार, तीन, दो, और एक अधिक, **भवे**—होते हैं, **बीसा**—बीस, **तेरस**—तेरह, **बारिक्कारस**—बारह और ग्यारह प्रकृति का, **इत्तो**—इसके बाद, **पंचाइ**—पांच प्रकृति से लेकर, **एक्कूणा**—एक-एक प्रकृति न्यून।

संतस्स—सत्ता के, **पगइठाणाइं**—प्रकृति स्थान, **ताणि**—वे, **मोहस्स**—मोहनीय कर्म के, **हुंति**—होते हैं, **पन्नरस**—पन्द्रह, **बंधोदयसंते**—बंध, उदय और सत्ता स्थान, **पुण**—तथा, **भंगविगप्पा**—भंगविकल्प, **बहू**—अनेक, **जाण**—जानो।

गाथार्थ—मोहनीय कर्म के बीस के बाद क्रमशः आठ, सात, छह, चार, तीन, दो और एक अधिक संख्या वाले तथा तेरह, बारह, ग्यारह और इसके बाद पाँच से लेकर एक-एक प्रकृति के कम, इस प्रकार सत्ता प्रकृतियों के पन्द्रह स्थान होते हैं। इन बंधस्थानों, उदयस्थानों और सत्तास्थानों की अपेक्षा भंगों के अनेक विकल्प होते हैं।

छ विहय एगमरेणं छट्ठे सत्त य दुगुंछि भय अट्ठ।
अणि नव मिच्छे दसगं सामन्नेणं तु नव उदया ॥

—रामदेवगणिकृत षष्ठ कर्मग्रन्थ प्राकृत टिप्पण, गा० २६, २७,

(ख) इगि दुग चउ एगुत्तरआदसगं उदयमाहु मोहस्स।
संजलणवेयहासरइभयदुगुंछतिकसायदिट्ठी य ॥

—पंचसंग्रह सप्ततिका गा० २३

विशेषार्थ—उक्त दो गाथाओं में मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के सत्तास्थानों में प्रकृतियों की संख्या बतलाई है कि अमुक सत्तास्थान इतनी प्रकृतियों का होता है। सत्तास्थानों के भेदों का संकेत करने के बाद बंध, उदय और सत्ता स्थानों के संवेध भंगों की अनेकता की सूचना दी है। जिनका वर्णन आगे यथाप्रसंग किया जा रहा है।

मोहनीय कर्म के कितने सत्तास्थान होते हैं, इसका संकेत करते हुए ग्रंथकार ने बताया है कि 'पंचदस एगट्ठाणाइं ताणि मोहस्स हुंति पन्नरस'—मोहनीय कर्म प्रकृतियों के सत्तास्थान पन्द्रह होते हैं। ये पन्द्रह सत्तास्थान कितनी-कितनी प्रकृतियों के हैं, उनका स्पष्टीकरण क्रमशः इस प्रकार है—अट्ठाईस, सत्ताईस, छब्बीस, चौबीस, तेईस, बाईस, इक्कीस, तेरह, बारह, ग्यारह, पाँच, चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक।[1] कुल मिलाकर ये पन्द्रह सत्तास्थान[2] होते हैं।

---

१ (क) अट्ठगसत्तगछक्कगचउतिगदुगएक्कगाहिया बीसा।
तेरस बारेक्कारस संते पंचाह जा एक्कं॥
—पंचसंग्रह सप्ततिका गा० ३५

(ख) अट्ठयसत्तयछक्कय चदुतिदुगेगाधिगाणि वीसाणि।
तेरस बारेयारं पणादि एगूणयं सत्तं॥
—गो० कर्मकांड गा० ५०८

२ इन पन्द्रह सत्तास्थानों में से प्रत्येक स्थान में ग्रहण की गई प्रकृतियों की संग्रह गाथायें इस प्रकार हैं—

नव नोकसाय सोलस कसाय दंसणतियं ति अट्ठवीसा।
सम्मत्तुव्वलणेणं मिच्छे मीसे य सगवीसा॥
छव्वीसा पुण दुविहा मीसुव्वलणे अणाइ मिच्छत्ते।
सम्मद्दिट्ठिऽट्ठवीसा अणक्खए होइ चउवीसा॥
मिच्छे मीसे सम्मे खीणे ति-दुवीस एक्कवीसा य।
अट्ठकसाए तेरस नपुक्खए होइ बारसगं॥
थीवेयि खीणिगारस हासाइ पंचचउ पुरिसखीणे।
कोहे माणे माया लोभे खीणे य कमसो उ॥
तिगु दुग एग असंतं मोहे पन्नरस संतठाणाणि।
—षष्ठ कर्मग्रन्थ प्राकृत टिप्पण, गा० २८-३२

इनमें से अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान में मोहनीय कर्म की सब प्रकृतियों का ग्रहण किया गया है। यह स्थान मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान तक पाया जाता है। इस स्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल सातिक एकसौ बत्तीस सागर है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता वाला कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव जब उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करके अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता प्राप्त कर लेता है और अन्तर्मुहूर्तकाल के भीतर वेदक सम्यक्त्व पूर्वक अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना करके चौबीस प्रकृति की सत्ता वाला हो जाता है, तब अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है तथा उत्कृष्टकाल सातिक एक सौ बत्तीस सागर इस प्रकार समझना चाहिये कि कोई मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करके अट्ठाईस प्रकृति की सत्ता वाला हुआ, अनन्तर वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त करके प्रथम छियासठ सागर काल तक सम्यक्त्व के साथ परिभ्रमण किया और फिर अन्तर्मुहूर्त काल तक सम्यग्मिथ्यात्व में रहकर फिर वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त करके दूसरी बार छियासठ सागर सम्यक्त्व के साथ परिभ्रमण किया। अन्त में मिथ्यात्व को प्राप्त करके सम्यक्त्व प्रकृति के सबसे उत्कृष्ट पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल के द्वारा सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वलना करके सत्ताईस प्रकृतिक सत्ता वाला हुआ। इस प्रकार अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान का उत्कृष्टकाल पल्य के असंख्यातवें भाग से अधिक एक सौ बत्तीस सागर होता है। ऐसा जीव यद्यपि मिथ्यात्व में न जाकर क्षपक श्रेणि पर भी चढ़ता है और अन्य सत्तास्थानों को प्राप्त करता है। परन्तु इससे उक्त उत्कृष्ट काल प्राप्त नहीं होता है, अतः यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया है।

अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना : मतभिन्नता

अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना करने से जब चौबीस प्रकृतिक सत्ता वाला होता है, तब प्राप्त होता है। वेदक सम्यग्दृष्टि जीव के अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क की विसंयोजना करने में श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्य एकमत हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त जयधवला टीका में एक मत का उल्लेख और किया गया है। वहाँ बताया गया है कि उपशम सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना करते हैं, इस विषय में दो मत हैं। एक मत का यह मानना है कि उपशम सम्यक्त्व का काल थोड़ा है और अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना का काल बड़ा है, अतः उपशम सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना नहीं करता है तथा दूसरा मत है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्क के विसंयोजना काल से उपशम सम्यक्त्व का काल बड़ा है इसलिये उपशम सम्यग्दृष्टि जीव भी अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना करता है। जिन उच्चारणा वृत्तियों के आधार से जयधवला टीका लिखी गई है, उनमें इस दूसरे मत को प्रधानता दी है।

अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान का उत्कृष्ट काल, मतभिन्नता

पंचसंग्रह के सप्ततिका-संग्रह की गाथा ४५ व उसकी टीका में अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान का उत्कृष्टकाल पल्य का असंख्यातवां भाग अधिक एक सौ बत्तीस सागर बतलाया है। लेकिन दिगम्बर परम्परा में उसका उत्कृष्ट काल पल्य के तीन असंख्यातवें भाग अधिक एक सौ बत्तीस सागर बतलाया है। इस मतभेद का स्पष्टीकरण यह है—

श्वेताम्बर साहित्य में बताया है कि छब्बीस प्रकृतिक सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि ही मिथ्यात्व का उपशम करके उपशम सम्यग्दृष्टि होता है। तदनुसार केवल सम्यक्त्व की उद्वलना के अंतिम काल में जीव

उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता है। जिससे २८ प्रकृतिक सत्तास्थान का उत्कृष्टकाल पल्य का असंख्यातवां भाग अधिक १३२ सागर ही प्राप्त होता है। क्योंकि जो २८ प्रकृतियों की सत्ता वाला ६६ सागर तक वेदक सम्यक्त्व के साथ रहा और पश्चात् सम्यग्दृष्टि हुआ, तत्पश्चात् पुनः ६६ सागर तक वेदक सम्यक्त्व के साथ रहा और अंत में जिसने मिथ्यादृष्टि होकर पल्य के असंख्यातवें भाग काल तक सम्यक्त्व की उद्वलना की, उसके २८ प्रकृतिक सत्तास्थान इससे अधिक काल नहीं पाया जाता, क्योंकि इसके बाद वह नियम से २७ प्रकृतिक सत्तास्थान वाला हो जाता है।

लेकिन दिगम्बर साहित्य की यह मान्यता है कि २६ और २७ प्रकृतियों की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि तो नियम से उपशम सम्यक्त्व को ही उत्पन्न करता है, किन्तु २८ प्रकृतियों की सत्ता वाला वह जीव भी उपशम सम्यक्त्व को ही उत्पन्न करता है जिसके वेदक सम्यक्त्व के योग्य काल समाप्त हो गया है। तदनुसार यहाँ २८ प्रकृतिक सत्तास्थान का उत्कृष्टकाल पल्य के तीन असंख्यातवें भाग अधिक १३२ सागर बन जाता है। यथा—कोई एक मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करके २८ प्रकृतियों की सत्ता वाला हुआ। अनन्तर मिथ्यात्व को प्राप्त होकर सम्यक्त्व के सबसे उत्कृष्ट उद्वलना काल पल्य के असंख्यातवें भाग के व्यतीत होने पर वह २७ प्रकृतिक सत्ता वाला होता, पर ऐसा न होकर वह उद्वलना के अंतिम समय में पुनः उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ। तदनन्तर प्रथम ६६ सागर काल तक सम्यक्त्व के साथ परिभ्रमण करके और मिथ्यात्व को प्राप्त होकर पुनः सम्यक्त्व के सबसे उत्कृष्ट पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण उद्वलना काल के अंतिम समय में उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ, तदनन्तर दूसरी बार ६६ सागर काल तक सम्यक्त्व के साथ परिभ्रमण करके और अंत में मिथ्यात्व को प्राप्त होकर पल्य के असंख्यातवें

भाग काल के द्वारा सम्यक्त्व की उद्वलना करके २७ प्रकृतियों की सत्ता वाला हुआ। इस प्रकार २८ प्रकृतिक सत्तास्थान का उत्कृष्ट काल पल्य के तीन असंख्यातवें भाग अधिक १३२ सागर प्राप्त होता है।

इस प्रकार से कुछ मतभिन्नताओं का संकेत करने के बाद मोहनीय कर्म के सत्ताईस प्रकृतिक आदि शेष सत्तास्थानों को स्पष्ट करते हैं।

उक्त अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान में से सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वलना हो जाने पर सत्ताईस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। यह स्थान मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि को होता है तथा इसका काल पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। इसका कारण यह है कि सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वलना हो जाने के पश्चात् सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की उद्वलना में पल्य का असंख्यातवां भाग काल लगता है और जब तक सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति की उद्वलना होती रहती है तब तक वह जीव सत्ताईस प्रकृतिक सत्तास्थान वाला रहता है। इसीलिये सत्ताईस प्रकृतिक सत्तास्थान का काल पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण बताया है।

सत्ताईस प्रकृतिक सत्तास्थान में से उद्वलना द्वारा सम्यग्-मिथ्यात्व प्रकृति को घटा देने पर छब्बीस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। यह स्थान भी मिथ्यादृष्टि जीव को होता है। काल की दृष्टि से इस स्थान के तीन विकल्प हैं—१. अनादि-अनन्त, २. अनादि-सान्त, ३. सादि-सान्त। इनमें से अनादि-अनन्त विकल्प अभव्यों की अपेक्षा है, क्योंकि उनके छब्बीस प्रकृतिक सत्तास्थान का आदि और अन्त नहीं पाया जाता है। अनादि-सान्त विकल्प भव्यों के पाया जाता है। क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य जीव के छब्बीस प्रकृतिक सत्तास्थान आदि रहित अवश्य है, लेकिन जब वह सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है

तब उसके इस स्थान का अन्त देखा जाता है। सादि-सान्त विकल्प सादि मिथ्यादृष्टि जीव के होता है। क्योंकि अट्ठाईस प्रकृतिक सत्ता वाले जिस सादि मिथ्यादृष्टि जीव ने सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वलना करके छब्बीस प्रकृतिक सत्तास्थान को प्राप्त किया है, उसके इस छब्बीस प्रकृतिक सत्तास्थान का पुनः नाश देखा जाता है।

छब्बीस प्रकृतिक सत्तास्थान के काल के उक्त तीन विकल्पों में से सादि-सान्त विकल्प का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल देशोन अपार्ध पुद्गल परावर्त है। जो इस प्रकार फलित होता है—जो छब्बीस प्रकृतिक सत्तास्थान को प्राप्त कर लेने के बाद त्रिकरण द्वारा अन्तर्मुहूर्त में सम्यक्त्व को प्राप्त करके पुनः अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता वाला हो गया, उसके उक्त स्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होता है तथा कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ और मिथ्यात्व में जाकर उसने पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल के द्वारा सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वलना करके छब्बीस प्रकृतियों के सत्त्व को प्राप्त किया, पुनः वह शेष अपार्ध पुद्गल परावर्त काल तक मिथ्यादृष्टि रहा किन्तु जब संसार में रहने का काल अन्तर्मुहूर्त शेष रहा तब पुनः वह सम्यग्दृष्टि हो गया तो इस प्रकार छब्बीस प्रकृतिक सत्तास्थान का उत्कृष्टकाल पल्य का असंख्यातवां भाग कम अपार्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण प्राप्त होता है।

मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क की विसंयोजना हो जाने पर चौबीस प्रकृतिक सत्तास्थान प्राप्त होता है। यह स्थान तीसरे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। इसका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल एक सौ बत्तीस सागर है। जघन्यकाल तब प्राप्त होता है जब जीव ने अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना करके चौबीस प्रकृतिक सत्ता-

स्थान प्राप्त किया और सबसे जघन्य अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर मिथ्यात्व का क्षय कर देता है तो उसके चौबीस प्रकृतिक सत्तास्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त देखा जाता है तथा अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करने के बाद जो वेदक सम्यग्दृष्टि ६६ सागर तक वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व के साथ रहा, फिर अन्तर्मुहूर्त के लिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि हुआ और इसके बाद पुनः ६६ सागर काल तक वेदक सम्यग्दृष्टि रहा। अनन्तर मिथ्यात्व की क्षपणा की। इस प्रकार अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना होने के समय से लेकर मिथ्यात्व की क्षपणा होने तक के काल का योग एक सौ बत्तीस सागर होता है। इसीलिये चौबीस प्रकृतिक सत्तास्थान का उत्कृष्टकाल एक सौ बत्तीस सागर बतलाया है।

चौबीस प्रकृतिक सत्तास्थान में से मिथ्यात्व के क्षय हो जाने पर तेईस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है और यह स्थान चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक पाया जाता है। सम्यग्मिथ्यात्व की क्षपणा का जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त होने से इस स्थान का जघन्य व उत्कृष्ट काल भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

तेईस प्रकृतिक सत्तास्थान में से सम्यग्मिथ्यात्व के क्षय हो जाने से बाईस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। यह स्थान भी चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक पाया जाता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। क्योंकि सम्यक्त्व की क्षपणा में इतना काल लगता है।

बाईस प्रकृतिक सत्तास्थान में से सम्यक्त्व मोहनीय प्रकृति का क्षय हो जाने पर इक्कीस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। यह चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। इसका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल साधिक तेतीस सागर प्रमाण है। जघन्य-काल अन्तर्मुहूर्त इसलिये माना जाता है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन को

प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर क्षपक श्रेणी पर चढ़कर मध्य की आठ कषायों का क्षय होना सम्भव है। उत्कृष्टकाल साधिक तेतीस सागर इसलिये है कि उक्त समयप्रमाण तक जीव इक्कीस प्रकृतिक सत्तास्थान के साथ रह सकता है।

इक्कीस प्रकृतिक सत्तास्थान में से अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण चतुष्क, इन आठ प्रकृतियों का क्षय हो जाने पर तेरह प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। यह स्थान क्षपक श्रेणी के नौवें गुणस्थान में प्राप्त होता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। क्योंकि तेरह प्रकृतिक सत्तास्थान से बारह प्रकृतिक सत्तास्थान प्राप्त करने में अन्तर्मुहूर्त काल लगता है।

इस तेरह प्रकृतिक सत्तास्थान में से नपुंसक वेद के क्षय हो जाने पर बारह प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। यह भी नौवें गुणस्थान में प्राप्त होता है और इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है। क्योंकि बारह प्रकृतिक सत्तास्थान से ग्यारह प्रकृतिक सत्तास्थान के प्राप्त होने में अन्तर्मुहूर्त काल लगता है।

जो जीव नपुंसक वेद के उदय के साथ क्षपक श्रेणी पर चढ़ता है, उसके नपुंसक वेद की क्षपणा के साथ स्त्रीवेद का भी क्षय होता है। अतः ऐसे जीव के बारह प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं पाया जाता है। जिसने नपुंसक वेद के क्षय से बारह प्रकृतिक सत्तास्थान प्राप्त किया, उसके स्त्रीवेद का क्षय हो जाने पर ग्यारह प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। इसकी प्राप्ति नौवें गुणस्थान में होती है। इसका जघन्य व उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। क्योंकि हास्यादि छह नोकषायों के क्षय होने में अन्तर्मुहूर्त समय लगता है।

ग्यारह प्रकृतिक सत्तास्थान से छह नोकषायों के क्षय हो जाने पर पांच प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। इसका जघन्य और उत्कृष्ट काल

दो समय कम दो आवली प्रमाण है। क्योंकि छह नोकषायों के क्षय होने पर पुरुषवेद का दो समय कम दो आवली काल तक सत्त्व देखा जाता है। इसके बाद पुरुषवेद का क्षय हो जाने से चार प्रकृतिक, चार प्रकृतिक में से संज्वलन क्रोध का क्षय होने पर तीन प्रकृतिक और तीन प्रकृतिक में से संज्वलन मान का क्षय हो जाने पर दो प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। ये नौवें गुणस्थान में प्राप्त होते हैं। इनका जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।

दो प्रकृतिक सत्तास्थान में से संज्वलन माया का क्षय होने पर एक प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। यह नौवें और दसवें गुणस्थान में प्राप्त होता है तथा इसका काल जघन्य व उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है।

मोहनीय कर्म के उक्त अट्ठाईस प्रकृतिक आदि पन्द्रह सत्तास्थानों का क्रम आचार्य मलयगिरि ने संक्षेप में बतलाया है। उपयोगी होने से उक्त अंश यहाँ अविकल रूप में प्रस्तुत करते हैं—

'तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टाविंशतिः। ततः सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशतिः। ततोऽपि सम्यग्मिथ्यात्वेउद्वलिते षड्विंशतिः, अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिः। अष्टाविंशतिसत्कर्मणोऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयक्षये चतुर्विंशतिः। ततोऽपि मिथ्यात्वे क्षपिते त्रयोविंशतिः। ततोऽपि सम्यग्मिथ्यात्वे क्षपिते द्वाविंशतिः। ततः सम्यक्त्वे क्षपिते एकविंशतिः। ततोऽष्टस्वप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्ञेषु कषायेषु क्षीणेषु त्रयोदशः। ततो नपुंसकवेदे क्षपिते द्वादश। ततोऽपि स्त्रीवेदे क्षपिते एकादश। ततः षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु पञ्च। ततोऽपि पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः। ततोऽपि संज्वलनक्रोधे क्षपिते तिस्रः। ततोऽपि संज्वलनमाने क्षपिते द्वे। ततोऽपि संज्वलन मायायां क्षपितायामेका प्रकृतिः सतीति।[1]

सत्तास्थानों के स्वामी और काल सम्बन्धी दिगम्बर साहित्य का मत

श्वेताम्बर कार्मग्रन्थिक मत के समान ही दिगम्बर कर्मसाहित्य

---

१ सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १६३

में भी मोहनीय कर्म के अट्ठाईस प्रकृतिक आदि पन्द्रह सत्तास्थान माने हैं। उनके स्वामी और काल के बारे में भी दोनों साहित्य में अधिकतर समानता है। लेकिन कुछ स्थानों के बारे में दिगम्बर साहित्य में भिन्न मत देखने में आता है। जिसको पाठकों की जानकारी के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है।

अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान के काल के बारे में दिगम्बर साहित्य के मत का पूर्व में उल्लेख किया गया है। शेष स्थानों के बारे में यहाँ बतलाते हैं।

श्वेताम्बर साहित्य में सत्ताईस प्रकृतिक सत्तास्थान का स्वामी मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव को बतलाया है। लेकिन दिगम्बर परम्परा के अनुसार कषायप्राभृत की चूर्णि में इस स्थान का स्वामी मिथ्यादृष्टि जीव ही बतलाया है—

सत्तावीसाए विहत्तिओ को होदि ? मिच्छाइट्ठी।

पंचसंग्रह के सप्ततिका संग्रह की गाथा ४५ की टीका में सत्ताईस प्रकृतिक सत्तास्थान का काल पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण बतलाया है। लेकिन जयधवला में संकेत है कि सत्ताईस प्रकृतियों की सत्तावाला भी उपशम सम्यग्दृष्टि हो सकता है। कषायप्राभृत की चूर्णि से भी इसकी पुष्टि होती है। तदनुसार सत्ताईस प्रकृतिक सत्तास्थान का जघन्य काल एक समय भी बन जाता है। क्योंकि सत्ताईस प्रकृतिक सत्तास्थान के प्राप्त होने के दूसरे समय में ही जिसने उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया, उसके सत्ताईस प्रकृतिक सत्तास्थान एक समय तक ही देखा जाता है।

श्वेताम्बर साहित्य में सादि-सान्त छब्बीस प्रकृतिक सत्तास्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त बताया है। लेकिन कषायप्राभृत की चूर्णि में उक्त स्थान का जघन्य काल एक समय बताया है—

'छब्बीसविहत्ती केवचिरं कालादो ? जहण्णेण एगसमओ।'

इसका तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व की उद्वलना में अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहने पर जो त्रिकरण क्रिया का प्रारम्भ कर देता है, और उद्वलना होने के बाद एक समय का अन्तराल देकर जो उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त हो जाता है, उसके छब्बीस प्रकृतिक सत्तास्थान का जघन्य काल एक समय प्राप्त होता है।

कर्मग्रन्थ में चौबीस प्रकृतिक सत्तास्थान का उत्कृष्ट काल एक सौ बत्तीस सागर बताया है, जबकि कषायप्राभृत की चूर्णि में उक्त स्थान का उत्कृष्ट काल साधिक एक सौ बत्तीस सागर बताया है—

'चउवीसविहत्ती केवचिरं कालादो ? जहण्णेण अंतोमुहुत्तं, उक्कस्सेण वे छावट्ठिसागरोवमाणि सादिरेयाणि।'

इसका स्पष्टीकरण जयधवला टीका में किया गया है कि उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करके जिसने अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना की। अनन्तर छियासठ सागर काल तक वेदक सम्यक्त्व के साथ रहा, फिर अन्तर्मुहूर्त तक सम्यग्मिथ्यादृष्टि रहा। अनन्तर मिथ्यात्व की क्षपणा की। इस प्रकार अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना हो चुकने के समय से लेकर मिथ्यात्व की क्षपणा होने तक के काल का योग साधिक एक सौ बत्तीस सागर होता है।

इक्कीस प्रकृतिक सत्तास्थान का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टकाल साधिक तेतीस सागर दोनों परम्पराओं में समान रूप से माना है। कषायप्राभृत चूर्णि में लिखा है—

'एक्कवीसाए विहत्ती केवचिरं कालादो ? जहण्णेण अंतोमुहुत्तं, उक्कस्सेण तेत्तीसं सागरोवमाणि सादिरेयाणि।'

इस उत्कृष्ट काल का जयधवला में स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि कोई सम्यग्दृष्टि देव या नारक मर कर एक पूर्वकोटि की आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ। अनन्तर आठ वर्ष के बाद अन्त-

मुहूर्त में उसने क्षायिक सम्यग्दर्शन को उत्पन्न किया। फिर आयु के अन्त में मर कर वह तेतीस सागर की आयु वाले देवों में उत्पन्न हुआ। इसके बाद तेतीस सागर आयु को पूरा करके एक पूर्वकोटि की आयु वाले मनुष्यों में उत्पन्न हुआ और वहाँ जीवन भर इक्कीस प्रकृतियों की सत्ता के साथ रहकर जब जीवन में अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहा तब क्षायक श्रेणि पर चढ़कर तेरह आदि सत्तास्थानों को प्राप्त हुआ। उसके आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त कम दो पूर्वकोटि वर्ष अधिक तेतीस सागर काल तक इक्कीस प्रकृतिक सत्तास्थान पाया जाता है।

इस प्रकार दिगम्बर साहित्य में साधिक तेतीस सागर प्रमाण का स्पष्टीकरण किया गया है।

श्वेताम्बर साहित्य में बारह प्रकृतिक सत्तास्थान का जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त बतलाया है। जबकि दिगम्बर साहित्य में बारह प्रकृतिक सत्तास्थान का जघन्य काल एक समय बताया है। जैसा कि कषायप्राभृत चूर्णि में उल्लेख किया गया है—

णवरि बारसण्हं विहत्ती केवचिरं कालादो ? जहण्णेण एगसमओ।

इसकी व्याख्या जयधवला टीका में इस प्रकार की गई है कि नपुंसक वेद के उदय से क्षपक श्रेणि पर चढ़ा हुआ जीव उपान्त समय में स्त्रीवेद और नपुंसक वेद के सब सत्कर्म का पुरुषवेद रूप में संक्रमण कर देता है और तदनन्तर एक समय के लिए बारह प्रकृतिक सत्तास्थान वाला हो जाता है, क्योंकि इस समय नपुंसक वेद की उदय स्थिति का विनाश नहीं होता है।

इस प्रकार से कुछ सत्तास्थानों के स्वामी तथा समय के बारे में मतभिन्नता जानना चाहिए। तुलनात्मक अध्ययन करने वालों के लिये यह जिज्ञासा का विषय है।

मोहनीय कर्म के पन्द्रह सत्तास्थानों का गुणस्थान, काल सहित विवरण इस प्रकार है—

सत्ता स्थान	गुणस्थान	जघन्यकाल	उत्कृष्टकाल
२८	१ से ११	अन्तर्मुहूर्त	साधिक १३२ सागर
२७	पहला व तीसरा	पल्य का असं० भाग	पल्य का असंख्यातवां भाग
२६	१	अन्तर्मुहूर्त	देशोन अपार्ध पुद्० परावर्त
२४	३ से ११	अन्तर्मुहूर्त	१३२ सागर
२३	४ से ७	,,	अन्तर्मुहूर्त
२२	४ से ७	,,	,,
२१	४ से ११	,,	साधिक ३३ सागर
१३	९ वाँ	,,	अन्तर्मुहूर्त
१२	,,	,,	,,
११	,,	,,	,,
५	,,	दो समय कम दो आवली	दो समय कम दो आवली
४	,,	अन्तर्मुहूर्त	अन्तर्मुहूर्त
३	,,	,,	,,
२	,,	,,	,,
१	नौवाँ व दसवाँ	,,	,,

इस प्रकार मोहनीय कर्म के पश्चादानुपूर्वी से बन्ध और सत्ता स्थानों तथा पूर्वानुपूर्वी से उदयस्थानों को बतलाने के बाद अब इनके भंग और अवान्तर विकल्पों का निर्देश करते हैं। सबसे पहले बन्ध-स्थानों का निरूपण करते हैं।

छब्बावीस चउ इगवीसे सत्तरस तेरसे दो दो।
नवबंधगे वि दोन्नि उ एक्केक्कमओ परं भंगा ॥१४॥

शब्दार्थ—**छ**—छह, **बावीसे**—बाईस के बन्धस्थान के, **चउ**—चार, **इगवीसे**—इक्कीस के बन्धस्थान के, **सत्तरस**—सत्रह के बंध-स्थान के, **तेरसे**—तेरह के बंधस्थान के, **दो-दो**—दो-दो, **नवबंधगे**—नौ के बन्धस्थान के, **वि**—भी, **दोन्निउ**—दो विकल्प, **एक्केक्कं**—एक-एक, **अओ**—इससे, **परं**—आगे, **भंगा**—भंग।

गाथार्थ—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थान के छह, इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान के चार, सत्रह और तेरह प्रकृतिक बंध-स्थान के दो-दो, नौ प्रकृतिक बंधस्थान के भी दो भंग हैं। इसके आगे पाँच प्रकृतिक आदि बंधस्थानों में से प्रत्येक का एक-एक भंग है।

विशेषार्थ—इस गाथा में मोहनीय कर्म के बंधस्थानों में से प्रत्येक स्थान के यथासंभव बनने वाले भंगों की संख्या का निर्देश किया है।

पूर्व में मोहनीय कर्म के बाईस, इक्कीस, सत्रह, तेरह, नौ, पाँच, चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक, इस प्रकार से दस बंधस्थान बत-लाये हैं। उनमें से यहाँ प्रत्येक स्थान के होने वाले भंग-विकल्पों को बतलाते हुए सर्वप्रथम बाईस प्रकृतिक बंधस्थान के छह भंग बतलाये हैं—छब्बावीसे। अनन्तर क्रमशः इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान के चार भंग, सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान के दो भंग, तेरह प्रकृतिक बंधस्थान

के दो भंग, नौ प्रकृतिक बंधस्थान के दो भंग, पाँच प्रकृतिक बंधस्थान का एक भंग, चार प्रकृतिक बंधस्थान का एक भङ्ग, तीन प्रकृतिक बंधस्थान का एक भंग, दो प्रकृतिक बंधस्थान का एक भंग और एक प्रकृतिक बंधस्थान का एक भंग होता है।[1] जिसका स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है।

बाईस प्रकृतिक बंधस्थान में मिथ्यात्व, सोलह कषाय, तीन वेदों में से कोई एक वेद, हास्य-रति युगल और शोक-अरति युगल, इन दो युगलों में से कोई एक युगल, भय और जुगुप्सा, इन बाईस प्रकृतियों का ग्रहण होता है। यहाँ छह भंग होते हैं। जो इस प्रकार हैं कि हास्य-रति युगल और शोक-अरति युगल, इन दो युगलों में से किसी एक युगल को मिलाने से बाईस प्रकृतिक बंधस्थान होता है। अतः ये दो भंग हुए। एक भंग हास्य-रति युगल सहित वाला और दूसरा भंग अरति-शोक युगल सहित वाला। ये दोनों भंग भी तीनों वेदों के विकल्प से प्राप्त होते हैं, अतः दो को तीन से गुणित कर देने पर छह भंग हो जाते हैं।[2]

उक्त बाईस प्रकृतिक बंधस्थान में से मिथ्यात्व को घटा देने पर इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान होता है। क्योंकि नपुंसक वेद का बंध मिथ्यात्व के उदयकाल में होता है और सासादन सम्यग्दृष्टि को मिथ्यात्व का उदय नहीं होता है। स्त्रीवेद और पुरुषवेद, इन दो

---

१ छब्बावीसे चदु इगिवीसे दो दो हवंति छट्ठो त्ति।
एक्केक्कमदोभंगो बंधट्ठाणेसु मोहस्स॥
—गो० कर्मकाण्ड, गा० ४६७

२ हासरइअरइसोगाण बंधया आणवं दुहा सव्वे।
वेयविभज्जंता पुण दुगइगवीसा छहा चउहा॥
—पंचसंग्रह सप्ततिका, गा० २०

वेदों में से कोई एक वेद कहना चाहिए। अतः यहाँ दो युगलों को दो वेदों से गुणित कर देने पर चार भंग होते हैं।

इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान में से अनन्तानुबंधी चतुष्क को घटा देने पर सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान होता है। इसके बन्धक तीसरे और चौथे गुणस्थानवर्ती जीव हैं। अनन्तानुबंधी कषाय का उदय नहीं होने से इनको स्त्रीवेद का बंध नहीं होता है। अतः यहाँ हास्य-रति युगल और शोक-अरति युगल, इन दो युगलों के विकल्प से दो भंग होते हैं।

तेरह प्रकृतिक बंधस्थान में भी दो भंग होते हैं। यह बंधस्थान सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान में से अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क के कम करने से प्राप्त होता है। यहाँ पुरुषवेद का ही बंध होता है अतः दो युगलों के निमित्त से दो ही भंग प्राप्त होते हैं।

तेरह प्रकृतिक बंधस्थान में से प्रत्याख्यानावरण चतुष्क के कम करने पर नौ प्रकृतिक बंधस्थान होता है। यह स्थान छठे, सातवें और आठवें—प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत और अपूर्वकरण—गुणस्थान में पाया जाता है। यहाँ इतनी विशेषता है कि अरति और शोक का बंध प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ही होता है, आगे नहीं। अतः प्रमत्त-संयत गुणस्थान में इस स्थान के दो भंग होते हैं, जो पूर्वोक्त हैं तथा अप्रमत्तसंयत और अपूर्वकरण में हास्य-रति रूप एक ही भंग पाया जाता है।[1]

पाँच प्रकृतिक बंधस्थान उक्त नौ प्रकृतिक बंधस्थान में से हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, इन चार प्रकृतियों को कम करने से होता है। यहाँ

---

१ नवबंधके द्वौ भंगौ तौ च प्रमत्ते द्वावपि द्रष्टव्यौ, अप्रमत्ताऽपूर्वकरणयो-स्त्वेक एव भंगः तत्रारति-शोकरूपस्य युगलस्य बन्धासम्भवात्।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १६४

एक ही भंग होता है। क्योंकि इसमें बंधने वाली प्रकृतियों के विकल्प नहीं हैं। इसी प्रकार बंधने वाली प्रकृतियों के विकल्प नहीं होने से चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक बंधस्थानों में भी एक-एक ही विकल्प होता है—एक्केक्कमओ परं भंगा।

इस प्रकार मोहनीय कर्म के दस बंधस्थानों के कुल भंग ६+४+२+२+२+१+१+१+१+१=२१ होते हैं।

मोहनीय कर्म के दस बंधस्थानों का निर्देश करने के बाद अब आगे की तीन गाथाओं में इन बंधस्थानों में से प्रत्येक में प्राप्त होने वाले उदयस्थानों को बतलाते हैं।

मोहनीय कर्म के बंधस्थानों में उदयस्थान

दस बावीसे नव इक्कवीस सत्ताइ उदयठाणाइं।
छाई नव सत्तरसे तेरे पंचाइ अट्ठेव ॥१५॥
चत्तारिमाइ नवबंधगेसु उक्कोस सत्त उदयंसा।
पंचविहबंधगे पुण उदओ दोण्हं मुणेयव्वो ॥१६॥
इत्तो चउबंधाई इक्केक्कुदया हवंति सव्वे वि।
बंधोवरमे वि तहा उदयाभावे वि या होज्जा ॥१७॥

शब्दार्थ—**दस**—दस पर्यन्त, **बावीसे**—बाईस प्रकृतिक बंधस्थान में, **नव**—नौ तक, **इक्कवीस**—इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान में, **सत्ताइ**—सात से लेकर, **उदयठाणाइं**—उदयस्थान, **छाई नव**—छह से नौ तक, **सत्तरसे**—सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान में, **तेरे**—तेरह प्रकृतिक बंधस्थान में, **पंचाइ**—पांच से लेकर, **अट्ठेव**—आठ तक।

चत्तारिमाइ—चार से लेकर, **नवबंधगेसु**—नौ प्रकृतिक बंधस्थानों में, **उक्कोस**—उत्कृष्ट, **सत्त**—सात तक, **उदयंसा**—उदयस्थान, **पंचविहबंधगे**—पांच प्रकृतिक बंधस्थान में, **पुण**—तथा, **उदओ**—उदय, **दोण्हं**—दो प्रकृति का, **मुणेयव्वो**—जानना चाहिए।

इत्तो—इसके बाद, **चउबंधाई**—चार आदि प्रकृतिक बंधस्थानों में, **इक्केक्कुदया**—एक-एक प्रकृति के उदय वाले, **हवंति**—होते हैं, **सव्वेवि**—सभी, **बंधोवरमे**—बंध के अभाव में, **वि**—भी, **तहा**—उसी प्रकार, **उदयाभावे**—उदय के अभाव में, **वि**—भी, **वा**—विकल्प, **होज्जा**—होते हैं।

गाथार्थ—बाईस प्रकृतिक बंधस्थान में सात से लेकर दस तक, इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान में सात से लेकर नौ तक, सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान में छह से लेकर नौ तक और तेरह प्रकतिक बंधस्थान में पाँच से लेकर आठ तक—

नौ प्रकृतिक बंधस्थान में चार से लेकर उत्कृष्ट सात प्रकृतियों तक के चार उदयस्थान होते हैं तथा पाँच प्रकृतिक बंधस्थान में दो प्रकृतियों का उदय जानना चाहिये।

इसके बाद (पाँच प्रकृतिक बंधस्थान के बाद) चार आदि (४,३,२,१) प्रकृतिक बंधस्थानों में एक प्रकृति का उदय होता है। बंध के अभाव में भी इसी प्रकार एक प्रकृति का उदय होता है। उदय के अभाव में भी मोहनीय की सत्ता विकल्प से होती है।

विशेषार्थ—पूर्व में मोहनीय कर्म के बाईस, इक्कीस आदि प्रकृतिक दस बंधस्थान बतलाये हैं। यहाँ तीन गाथाओं में उक्त स्थानों में से प्रत्येक में कितनी-कितनी प्रकृतियों का उदय होता है, इसको स्पष्ट किया है।

सर्वप्रथम बाईस प्रकृतिक बंधस्थान में उदयस्थानों का कथन करते हुए कहा है—सात प्रकृतिक, आठ प्रकृतिक, नौ प्रकृतिक और दस प्रकृतिक, ये चार उदयस्थान हैं। जिनका स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है।

सात प्रकृतिक उदयस्थान इस प्रकार है कि एक मिथ्यात्व, दूसरी अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि में से कोई एक, तीसरी प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि में से कोई एक, चौथी संज्वलन क्रोध आदि में से कोई एक पाँचवीं हास्य, छठी रति अथवा हास्य, रति के स्थान पर अरति, शोक और सातवीं तीनों वेदों में से कोई एक वेद, इन सात प्रकृतियों का उदय बाईस प्रकृतियों का बंध करने वाले मिथ्यादृष्टि जीव को नियम से होता है।

यहाँ चौबीस भंग होते हैं। वे इस प्रकार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चारों प्रकृतियाँ उदय की अपेक्षा परस्पर विरोधनी होने से इनका उदय एक साथ नहीं होता है। अतः क्रोधादिक के उदय रहते मानादिक का उदय नहीं होता किन्तु किसी एक प्रकार के क्रोध का उदय रहते, उससे आगे के दूसरे प्रकार के सभी क्रोधों का उदय अवश्य होता है। जैसे कि अनन्तानुबंधी क्रोध का उदय रहते अप्रत्याख्यानावरण आदि चारों प्रकार के क्रोधों का उदय एक साथ होता है। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध के उदय रहते प्रत्याख्यानावरण आदि तीनों प्रकार के क्रोधों का उदय रहता है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध के उदय रहते दोनों प्रकार के क्रोधों का उदय एक साथ रहता है और संज्वलन क्रोध का उदय रहते हुए एक ही क्रोध उदय रहता है। इस तरह यहाँ सात प्रकृतिक उदयस्थान में अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि तीनों क्रोधों का उदय होता है। इसी प्रकार अप्रत्यख्यानावरण मान का उदय रहते तीन मान का उदय होता है, अप्रत्याख्यानावरण माया का उदय रहते तीन माया का उदय होता है तथा अप्रत्याख्यानावरण लोभ का उदय रहते तीन लोभ का उदय होता है।

उक्त क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार भंगों का उदय स्त्रीवेद के साथ होता है और यदि स्त्रीवेद के बजाय पुरुषवेद का

उदय हो तो पुरुषवेद के उदय के साथ होता है और यदि नपुंसक वेद का उदय है तो उसके साथ इन चार का उदय होता है। इस प्रकार प्रत्येक वेद के उदय के साथ चार-चार भंग प्राप्त हो जाते हैं, जो कुल मिलाकर बारह होते हैं। ये बारह भंग हास्य और रति के उदय के साथ भी होते हैं और यदि हास्य और रति के स्थान में शोक और अरति का उदय हुआ तो उनके साथ भी होते हैं। इस प्रकार बारह को दो से गुणा करने पर चौबीस भंग हो जाते हैं।

पूर्व में बताई गई चौवीस भंगों की गणना इस प्रकार भी की जा सकती है कि हास्य-रति युगल के साथ स्त्रीवेद का एक भंग तथा शोक-अरति युगल के साथ स्त्रीवेद का एक भंग, इस प्रकार स्त्रीवेद के साथ दो भंग तथा इसी प्रकार पुरुषवेद और नपुंसक वेद के साथ भी दो-दो भंग होंगे। कुल मिलाकर ये छह भंग हुए। ये छहों भंग, क्रोध के उदय में क्रोध के साथ होंगे। क्रोध के बजाय मान का उदय होने पर मान के साथ होंगे। मान के स्थान पर माया का उदय होने पर माया के साथ भी होंगे और माया के स्थान पर लोभ का उदय होने पर लोभ के साथ भी होंगे। इस प्रकार से पूर्वोक्त छहों भंगों को क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार से गुणित करने पर कुल चौबीस भंग हुए। अर्थात् क्रोध के छह भंग, मान के छह भंग, माया के छह भंग और लोभ के छह भंग। यह एक चौवीसी हुई।

इन सात प्रकृतियों के उदय में भय, जुगुप्सा और अनन्तानुबंधी चतुष्क में से कोई एक कषाय, इस प्रकार इन तीन प्रकृतियों में से क्रमशः एक-एक प्रकृति के उदय को मिलाने पर आठ प्रकृतिक उदय तीन प्रकार से प्राप्त होता है। सात प्रकृतिक उदय में भय को मिलाने से पहला आठ प्रकृतियों का उदय, सात प्रकृतिक उदय में जुगुप्सा को मिलाने से दूसरा आठ प्रकृतियों का उदय और अनन्तानुबंधी क्रोधादि

में से किसी एक को मिलाने से तीसरा आठ प्रकृतियों का उदय, इस तरह आठ प्रकृतिक उदयस्थान के तीन प्रकार समझना चाहिए। अतः इन भंगों की तीन चौवीसियाँ होती हैं। वे इस प्रकार हैं—

पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के उदय में भय का उदय मिलाने पर आठ प्रकृतियों के उदय के साथ भंगों की पहली चौवीसी हुई। पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के उदय में जुगुप्सा का उदय मिलाने पर आठ के उदय के साथ भंगों की दूसरी चौबीसी तथा पूर्वोक्त सात प्रकृतियों के उदय में अनन्तानुबंधी क्रोधादि में से किसी एक प्रकृति के उदय को मिलाने पर आठ के उदय के साथ भंगों की तीसरी चौबीसी प्राप्त होती है।

इस प्रकार आठ प्रकृतिक उदयस्थान के रहते भंगों की तीन चौबीसी होती हैं।

सात प्रकृतिक उदयस्थान में और भय व जुगुप्सा के उदय से प्राप्त होने वाले आठ प्रकृतिक उदयस्थानों में अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क को ग्रहण न करने तथा बन्धावलि के बाद ही अनन्तानुबन्धी के उदय को मानने के सम्बन्ध में जिज्ञासाओं का समाधान करते हैं। उक्त जिज्ञासाओं सम्बन्धी आचार्य मलयगिरि कृत टीका का अंश इस प्रकार है—

"ननु मिथ्यादृष्टेरवश्यमनन्तानुबन्धिनामुदयः सम्भवति तत् कथमिह मिथ्यादृष्टिः सप्तोदये अष्टोदये वा कस्मिंश्चिदनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्रोक्तः ? उच्यते—इह सम्यग्दृष्टिना सता केनचित् प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनो विसंयोजिताः, एतावतैव च स विश्रान्तो न मिथ्यात्वाविक्षयाय. उद्युक्तवान् तथाविध-सामग्र्यभावात्, ततः कालान्तरे मिथ्यात्वं गतः सन् मिथ्यात्वप्रत्ययतो भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति, ततोबन्धावलिका यावत् नाद्याप्यतिक्रामति तावत् तेषामुदयो न भवति, बन्धावलिकायां त्वतिक्रान्तायां भवेदिति।[1]

---

१ सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १६५

प्रश्न—जबकि मिथ्यादृष्टि जीव के अनन्तानुबन्धी चतुष्क का उदय नियम से होता है, तब यहाँ सात प्रकृतिक उदयस्थान में तथा भय या जुगुप्सा में से किसी एक के उदय से प्राप्त होने वाले पूर्वोक्त दो प्रकार के आठ प्रकृतिक उदयस्थानों में उसे अनन्तानुबन्धी के उदय से रहित क्यों बताया है ?

समाधान—जो सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना करके रह गया। क्षपणा के योग्य सामग्री न मिलने से उसने मिथ्यात्व आदि का क्षय नहीं किया। अनन्तर कालान्तर में वह मिथ्यात्व को प्राप्त हुआ अतः वहाँ उसने मिथ्यात्व के निमित्त से पुनः अनन्तानुबन्धी चतुष्क का बन्ध किया। ऐसे जीव के एक आवलिका प्रमाणकाल तक अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होता किन्तु आवलिका के व्यतीत हो जाने पर नियम से होता है। अतः मिथ्यादृष्टि जीव के अनन्तानुबन्धी के उदय से रहित स्थान बन जाते हैं। इसी कारण से सात प्रकृतिक उदयस्थान में और भय या जुगुप्सा के उदय से प्राप्त होने वाले आठ प्रकृतिक उदयस्थान में अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं बताया है।

"ननु कर्म बन्धावलिकातिक्रमेऽप्युदयः संभवति ? यतोऽबाधाकालक्षये सत्युदयः, अबाधाकालश्चानन्तानुबन्धिनां जघन्येनान्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षेण तु चत्वारि वर्ष सहस्राणीति, नैष दोषः, यतो बन्धसमयादारभ्य तेषां तावत् सत्ता भवति, सत्तायां च सत्यां बन्धे प्रवर्तमाने पतद्ग्रहता, पतद्ग्रहतायां च शेष समानजातीयप्रकृतिदलिक सङ्क्रान्तिः संक्रमश्च दलिकं पतद्ग्रहप्रकृतिरूपतया परिणमते, ततः संक्रमावलिकायामतीतायामुदयः, ततो बन्धावलिकायामतीतायामुदयोऽभिधीयमानो न विरुध्यते।[1]

प्रश्न—किसी भी कर्म का उदय अबाधाकाल के क्षय होने पर होता है और अनन्तानुबन्धी चतुष्क का जघन्य अबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त

---

१ सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १६५

तथा उत्कृष्ट अबाधाकाल चार हजार वर्ष है। अतः बंधावलि के बाद ही अनन्तानुबन्धी का उदय कैसे सम्भव है ?

समाधान—बंध समय से ही अनन्तानुबन्धी की सत्ता हो जाती है और सत्ता के हो जाने पर प्रवर्तमान बन्ध में पतद्ग्रहता आ जाती है और पतद्ग्रहपने को प्राप्त हो जाने पर शेष समान जातीय प्रकृति दलिकों का संक्रमण होता है जो पतद्ग्रह प्रकृति रूप से परिणत हो जाता है जिसका संक्रमावलि के बाद उदय होता है। अतः आवलिका के बाद अनन्तानुबन्धी का उदय होने लगता है, अतः यह कहना विरोध को प्राप्त नहीं होता है।

उक्त शंका समाधान का यह तात्पर्य है कि अनन्तानुबन्धी चतुष्क विसंयोजना प्रकृति है और वैसे तो विसंयोजना क्षय ही है, किन्तु विसंयोजना और क्षय में यह अन्तर है कि विसंयोजना के हो जाने पर कालान्तर में योग्य सामग्री के मिलने पर विसंयोजित प्रकृति की पुनः सत्ता हो सकती है किन्तु क्षय को प्राप्त प्रकृति की पुनः सत्ता नहीं होती है। सत्ता दो प्रकार से होती है—बंध से और संक्रम से, किन्तु बंध और संक्रम में अन्योन्य सम्बन्ध है। जिस समय जिसका बंध होता है, उस समय उसमें अन्य सजातीय प्रकृति दलिक का संक्रमण होता है। ऐसी प्रकृति को पतद्ग्रह प्रकृति कहते हैं। पतद्ग्रह प्रकृति का अर्थ है आकर पड़ने वाले कर्मदल को ग्रहण करने वाली प्रकृति। ऐसा नियम है कि संक्रम से प्राप्त हुए कर्म-दल का संक्रमावलि के बाद उदय होता है। जिससे अनन्तानुबन्धी का एक आवली के बाद उदय मानने में कोई आपत्ति नहीं है। यद्यपि नवीन बंधावलि के बाद अबाधाकाल के भीतर भी अपकर्षण हो सकता है और यदि ऐसी प्रकृति उदय-प्राप्त हुई हो तो उस अपकर्षित कर्मदल का उदय-समय से निरपेक्ष भी हो सकता है, अतः नवीन बंधे हुए कर्मदल का

प्रयोग विशेष से अबाधाकाल के भीतर भी उदीरणोदय हो सकता है, इसमें कोई बाधा नहीं आती है।

पहले जो सात प्रकृतिक उदयस्थान बताया है, उसमें भय और जुगुप्सा के या भय और अनन्तानुबन्धी के अथवा जुगुप्सा और अनन्तानुबन्धी के मिलाने पर नौ प्रकृतिक उदयस्थान तीन प्रकार से प्राप्त होता है। इन तीन विकल्पों में भी पूर्वोक्त क्रम से भंगों की एक-एक चौबीसी होती है। इस प्रकार नौ प्रकृतिक उदयस्थान में भी भंगों की तीन चौबीसी जानना चाहिए।

पूर्वोक्त सात प्रकृतिक उदयस्थान में एक साथ भय, जुगुप्सा और अनन्तानुबन्धी के मिलाने पर दस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकार से भंगों की एक चौबीसी होती है।

इस प्रकार सात प्रकृतिक उदयस्थान की एक चौबीसी, आठ प्रकृतिक उदयस्थान की तीन, नौ प्रकृतिक उदयस्थान की तीन और दस प्रकृतिक उदयस्थान की एक चौबीसी होती है। कुल मिलाकर बाईस प्रकृतिक बंधस्थान में आठ चौबीसी होती हैं—सर्वसंख्या द्वाविंशतिबंधे अष्टौ चतुर्विंशतयः।

बाईस प्रकृतिक बंधस्थान में उदयस्थानों का निर्देश करने के बाद अब इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान में उदयस्थान बतलाते हैं कि—'नव इक्कवीस सत्ताइ उदयठाणाइं'—अर्थात् इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान में सात प्रकृतिक, आठ प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक ये तीन उदयस्थान हैं। वे इस प्रकार हैं—इनमें अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन प्रकार की क्रोधादि चार कषायों में से कोई एक जाति की चार कषायें, तीन वेदों में से कोई एक वेद और दो युगलों में से कोई एक युगल, इन सात प्रकृतियों का उदय इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान में नियम से होता है। यहाँ भी पूर्वोक्त

क्रम से भंगों की एक चौबीसी प्राप्त होती है। इस सात प्रकृतिक उदयस्थान में भय के या जुगुप्सा के मिला देने पर आठ प्रकृतिक उदयस्थान दो प्रकार से प्राप्त होता है। इस प्रकार आठ प्रकृतिक उदयस्थान के दो विकल्प होते हैं। यहाँ एक विकल्प में एक चौबीसी और दूसरे विकल्प में एक चौबीसी, इस प्रकार आठ प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की दो चौबीसी होती हैं। नौ प्रकृतिक उदयस्थान पूर्वोक्त सात प्रकृतिक उदयस्थान में युगपद भय और जुगुप्सा को मिलाने से प्राप्त होता है। यह एक ही प्रकार का होने से इसमें भंगों की एक चौबीसी प्राप्त होती है।

इस प्रकार इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान में सात प्रकृतिक उदयस्थान की एक, आठ प्रकृतिक उदयस्थान की दो और नौ प्रकृतिक उदयस्थान की एक, कुल मिलाकर भंगों की चार चौबीसी होती हैं।

यह इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान सासादन सम्यग्दृष्टि जीव के ही होता है और सासादन सम्यग्दृष्टि के दो भेद हैं—श्रेणिगत और अश्रेणिगत। जो जीव उपशमश्रेणि से गिर कर सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है, उसे श्रेणिगत सासादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं तथा जो उपशम सम्यग्दृष्टि जीव उपशमश्रेणि चढ़ा ही नहीं किन्तु अनन्तानुबन्धी के उदय से सासादन भाव को प्राप्त हो गया, वह अश्रेणिगत सासादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है। यहाँ जो इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान में सात, आठ और नौ प्रकृतिक, यह तीन उदयस्थान बतलाये हैं वे अश्रेणिगत सासादन सम्यग्दृष्टि जीव की अपेक्षा समझना चाहिये।[1]

---

१ अयं चैकविंशतिबंधः सासादने प्राप्यते। सासादनश्च द्विधा, श्रेणिगतोऽश्रेणिगतश्च। तत्राश्रेणिगत सासादनमाश्रित्यामूनि सप्तादीनि उदयस्थानान्यवगन्तव्यानि। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १६६

श्रेणिगत सासादन सम्यग्दृष्टि जीव के विषय में दो कथन पाये जाते हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि जिसके अनन्तानुबंधी की सत्ता है, ऐसा जीव भी उपशमश्रेणि को प्राप्त होता है। इन आचार्यों के मत से अनन्तानुबन्धी की भी उपशमना होती है।[1] जिसकी पुष्टि निम्नलिखित गाथा से होती है—

"अणदंसणपुंसित्थीवेयछक्कं च पुरिसवेयं च।[2]

अर्थात् पहले अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम करता है। उसके बाद दर्शन मोहनीय का उपशम करता है, फिर क्रमशः नपुंसक वेद, स्त्रीवेद, छह नोकषाय और पुरुषवेद का उपशम करता है।

ऐसा जीव श्रेणि से गिरकर सासादन भाव को भी प्राप्त होता है, अतः इसके भी पूर्वोक्त तीन उदयस्थान होते हैं।

किन्तु अन्य आचार्यों का मत है कि जिसने अनन्तानुबंधी की विसंयोजना कर दी, ऐसा जीव ही उपशमश्रेणि को प्राप्त होता है, अनन्तानुबंधी की सत्ता वाला नहीं। इनके मत से ऐसा जीव उपशम-श्रेणि से गिरकर सासादन भाव को प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि उसके अनन्तानुबंधी का उदय संभव नहीं है और सासादन सम्यक्त्व की

---

१ (क) केचिदाहुः—अनन्तानुबंधिसत्कर्मसहितोऽप्युपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते, तेषां मतेनानन्तानुबंधिनामप्युपशमना भवति।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १६६

(ख) दिगम्बर परम्परा में अनन्तानुबंधी की उपशमना वाले मत का षट्-खंडागम, कषायप्राभृत और उसकी टीकाओं में उल्लेख नहीं मिलता है किन्तु गो० कर्मकाण्ड में इस मत का उल्लेख किया गया है। वहां उपशमश्रेणि में २८, २४ और २१ प्रकृतिक, तीन सत्तास्थान बतलाये हैं—**अडचउरेक्काधीस उवसमसेढिम्मि ॥५११॥**

२ आवश्यक निर्युक्ति, गा० ११६

प्राप्ति तो अनन्तानुबंधी के उदय से होती है, अन्यथा नहीं। कहा भी है—**अणंताणुबंधुदयरहियस्स सासणभावो न संभवइ।**

अर्थात् अनन्तानुबंधी के उदय के बिना सासादन सम्यक्त्व की प्राप्ति होना संभव नहीं है।

जिज्ञासु प्रश्न करता है कि—

अथोच्यते—यदा मिथ्यात्वं प्रत्यभिमुखो न चाद्यापि मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तदानीमनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽपि सासादनस्तेषां मतेन भविष्यतीति किमत्रायुक्तम्? तदयुक्तम्, एवं सति तस्य षडादीनि नवपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवेयुः, न च भवन्ति, सूत्रे प्रतिषेधात्, तैरप्यनभ्युपगमाच्च, तस्मादनन्तानुबन्ध्युदयरहितः सासादनो न भवतीत्यवश्यं प्रत्येयम्।[1]

प्रश्न—जिस समय कोई एक जीव मिथ्यात्व के अभिमुख तो होता है किन्तु मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता है, उस समय उन आचार्यों के मतानुसार उसके अनन्तानुबंधी के उदय के बिना भी सासादन गुणस्थान की प्राप्ति हो जायेगी। ऐसा मान लिया जाना उचित है।

समाधान—यह मानना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर उसके छह प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, आठ प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक, ये चार उदयस्थान प्राप्त होते हैं। किन्तु आगम में ऐसा बताया नहीं है और वे आचार्य भी ऐसा नहीं मानते हैं। इससे सिद्ध है कि अनन्तानुबंधी के उदय के बिना सासादन सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है।

"अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करके जो जीव उपशमश्रेणि पर चढ़ता है, वह गिर कर सासादन गुणस्थान को प्राप्त नहीं होता।" यह कथन आचार्य मलयगिरि की टीका के अनुसार किया गया है, तथापि कर्मप्रकृति आदि के निम्न प्रमाणों से ऐसा ज्ञात होता है कि ऐसा जीव भी सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है। जैसा कि कर्म-प्रकृति की चूर्णि में लिखा है—

चरित्तमणं काउकामो जति वेयगसम्मद्दिट्ठी तो पुव्वं अणंताणुबंधिणो

१ सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १६६

नियमा विसंजोएति । एएण कारणेण विरयाणं अणंताणुबंधिविसंजोयणा भन्नति ।[1]

अर्थात् जो वेदक सम्यग्दृष्टि जीव चारित्र मोहनीय की उपशमना करता है, वह नियम से अनन्तानुबंधी चतुष्क की विसंयोजना करता है और इसी कारण से विरत जीवों के अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना कही गई है। आगे उसी के मूल में लिखा है—

आसाण वा वि गच्छेज्जा ।[2]

अर्थात्—ऐसा जीव उपशमश्रेणि से उतर कर सासादन गुणस्थान को भी प्राप्त होता है। उक्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि कर्मप्रकृति कर्त्ता का यही मत रहा है कि अनन्तानुबंधी की विसंयोजना किये बिना उपशमश्रेणि पर आरोहण करना संभव नहीं है और वहाँ से उतरने वाला जीव सासादन गुणस्थान को भी प्राप्त करता है। पंचसंग्रह के उपशमना प्रकरण से भी कर्मप्रकृति के मत की पुष्टि होती है। लेकिन उसके संक्रमप्रकरण से इसका समर्थन नहीं होता है। वहाँ सासादन गुणस्थान में २१ में २५ का ही संक्रमण बतलाया है।[3]

सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान के रहते—'छाई नव सत्तरसे'—छह

---

१ कर्मप्रकृति चूर्णि उपशम. गाथा ३०

२ कर्मप्रकृति उपशम. गा० ६२

३ दिगम्बर संप्रदाय में षट्खंडागम और कषायप्राभृत की परम्परायें हैं। षट्खंडागम की परम्परा के अनुसार उपशमश्रेणि से च्युत हुआ जीव सासादन गुणस्थान को प्राप्त नहीं होता है। वीरसेन स्वामी ने धवला टीका में भगवान पुष्पदन्त भूतबलि के उपदेश का इसी रूप से उल्लेख किया है—"भूदबलि भयवंतस्सुवएसेण उपसमसेढीदो ओदिण्णो ण सासणत्तं पडिवज्जदि । —जीव० चू० पृ० ३३१

प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, आठ प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक, ये चार उदय-स्थान होते हैं।

सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान तीसरे मिश्र और चौथे अविरत सम्यक्-दृष्टि इन दो गुणस्थानों में होता है। उनमें से मिश्र गुणस्थान में सात प्रकृतिक, आठ प्रकृतिक, नौ प्रकृतिक, ये तीन उदयस्थान होते हैं।[1]

सात प्रकृतिक उदयस्थान में अनन्तानुबंधी को छोड़कर अप्रत्या-ख्यानावरण आदि तीन प्रकारों के क्रोधादि कषाय चतुष्कों में से कोई एक क्रोधादि, तीन वेदों में से कोई एक वेद, दो युगलों में से कोई एक युगल और सम्यग्मिथ्यात्व, इन सात प्रकृतियों का नियम से उदय रहता है।[2] यहाँ भी पहले के समान भंगों की एक चौबीसी प्राप्त होती है। इस सात प्रकृतिक उदयस्थान में भय या जुगुप्सा के मिलाने से आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह स्थान दो प्रकार

किन्तु कषायप्राभृत की परम्परा के अनुसार जो जीव उपशमश्रेणि पर चढ़ा है, वह उससे च्युत होकर सासादन गुणस्थान को भी प्राप्त हो सकता है। तथापि कषायप्राभृत की चूर्णि में अनन्तानुबंधी उपशमना प्रकृति है, इसका निषेध किया गया है और साथ में यह भी लिखा है कि वेदक सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबंधी चतुष्क की विसंयोजना किये बिना कषायों को उपशमाता नहीं है। मूल कषायप्राभृत से भी इस मत की पुष्टि होती है।

१ सप्तदशबन्धका हि द्वये सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽविरतसम्यग्दृष्ट्यश्च। तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां त्रीणि उदयस्थानानि तद्यथा—सप्त, अष्ट, नव।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १६६

२ तत्रानन्तानुबन्धिवर्जाः त्रयोऽन्यतमे क्रोधादयः; त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः, त्रयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलम्, सम्यग्मिथ्यात्वं चेति सप्तानां प्रकृतीना-मुदयः सम्यग्मिथ्यादृष्टिषु ध्रुवः।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १६६

से प्राप्त होता है अतः यहाँ दो चौबीसी प्राप्त होती हैं। उक्त सात प्रकृतिक उदयस्थान में भय और जुगुप्सा को युगपद् मिलाने से नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ विकल्प न होने से एक चौबीसी होती है।

इस प्रकार मिश्र गुणस्थान में सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान के रहते सात प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की एक चौबीसी, आठ प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की दो चौबीसी और नौ प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की एक चौबीसी, कुल मिलाकर चार चौबीसी प्राप्त होती हैं।

मिश्र गुणस्थान में सत्रह प्रकृतिक बंध में उदयस्थानों के विकल्प बतलाने के बाद अब चौथे गुणस्थान में उदयस्थान बतलाते हैं। चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में सत्रह प्रकृतिक बंध होते हुए छह प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, आठ प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक, ये चार उदयस्थान होते हैं। वे इस प्रकार जानना चाहिए कि—

अनन्तानुबंधी को छोड़कर शेष तीन कषाय प्रकारों के क्रोधादि चतुष्क में से कोई एक कषाय, तीन वेदों में से कोई एक वेद, दो युगलों में से कोई एक युगल, इन छह प्रकृतियों का अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में निश्चित रूप से उदय होने से छह प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसमें भंगों की एक चौबीसी होती है।

इस छह प्रकृतिक उदयस्थान में भय या जुगुप्सा या सम्यक्त्व-मोहनीय इन तीन प्रकृतियों में से किसी एक प्रकृति के मिलाने पर सात प्रकृतिक उदयस्थान तीन प्रकार से प्राप्त होता है। यहाँ एक-एक भेद में एक-एक चौबीसी होती है, अतः सात प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की तीन चौबीसी प्राप्त होती हैं।

आठ प्रकृतिक उदयस्थान पूर्वोक्त छह प्रकृतिक उदयस्थान में भय और जुगुप्सा अथवा भय और सम्यक्त्वमोहनीय अथवा जुगुप्सा

और सम्यक्त्वमोहनीय इन दो प्रकृतियों के मिलाने से प्राप्त होता है। इस स्थान के तीन प्रकार से प्राप्त होने के कारण प्रत्येक भेद में भंगों की एक-एक चौबीसी होती है। जिससे आठ प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की तीन चौबीसी हुई।

उक्त छह प्रकृतिक उदयस्थान में भय, जुगुप्सा और सम्यक्त्व-मोहनीय, इन तीनों प्रकृतियों को एक साथ मिलाने पर नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इस स्थान में विकल्प न होने से भंगों की एक चौबीसी बनती है।

इस प्रकार चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान में छह प्रकृतिक उदयस्थान की भंगों की एक चौबीसी, सात प्रकृतिक उदयस्थान की भंगों की तीन चौबीसी, आठ प्रकृतिक उदय-स्थान की भंगों की तीन चौबीसी और नौ प्रकृतिक उदयस्थान की भंगों की एक चौबीसी, इस प्रकार कुल मिलाकर भंगों की आठ चौबीसी प्राप्त हुईं। जिसमें से चार चौबीसी सम्यक्त्वमोहनीय के उदय बिना की होती हैं और चार चौबीसी सम्यक्त्वमोहनीय के उदय सहित की होती हैं। इनमें से जो सम्यक्त्वमोहनीय के उदय बिना की होती हैं, वे उपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवों के जानना चाहिये और जो सम्यक्त्वमोहनीय के उदय सहित की होती हैं, वे वेदक सम्यग्दृष्टि जीवों के जानना चाहिये।

अब तेरह प्रकृतिक बंधस्थान के उदयस्थानों के विकल्पों को बतलाते हैं कि 'तेरे पंचाइ अट्ठेव'—तेरह प्रकृतिक बंधस्थान के रहते पाँच प्रकृतिक, छह प्रकृतिक, सात प्रकृतिक और आठ प्रकृतिक, ये चार उदयस्थान होते हैं। उनमें से पहला पाँच प्रकृतिक उदयस्थान इस प्रकार होता है कि प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन प्रकारों के क्रोधादि कषाय चतुष्क में से कोई एक-एक कषाय, तीन वेदों में से कोई एक

वेद, दो युगलों में से कोई एक युगल, इन पाँच प्रकृतियों का सदैव उदय रहता है। यह स्थान पाँचवें गुणस्थान में होता है। इसमें भंगों की एक चौबीसी होती है। पाँच प्रकृतिक उदयस्थान में भय, जुगुप्सा व सम्यक्त्व मोहनीय, इन तीन प्रकृतियों में से कोई एक प्रकृति को मिलाने से छह प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। तीन प्रकार से इस स्थान के होने से तीन चौबीसी होती हैं। अनन्तर पाँच प्रकृतिक उदयस्थान में भय और जुगुप्सा या भय और सम्यक्त्वमोहनीय या जुगुप्सा और सम्यक्त्वमोहनीय, इन दो प्रकृतियों को मिलाने पर सात प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। इस उदयस्थान को तीन प्रकार से प्राप्त होने के कारण तीन चौबीसी प्राप्त हो जाती हैं। आठ प्रकृतिक उदयस्थान पाँच प्रकृतिक उदयस्थान के साथ भय, जुगुप्सा और सम्यक्त्वमोहनीय को युगपद मिलाने से होता है। इस स्थान में विकल्प न होने से यहाँ भंगों की एक चौबीसी होती है।

इस प्रकार पाँचवें गुणस्थान में तेरह प्रकृतिक बंधस्थान के रहते उदयस्थानों की अपेक्षा एक, तीन, तीन, एक, कुल मिलाकर भंगों की आठ चौबीसी होती हैं। जिनमें चार चौबीसी उपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवों तथा चार चौबीसी वेदक सम्यग्दृष्टि जीवों के होती हैं। वेदक सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्वमोहनीय के उदय वाली चार चौबीसी होती हैं।

अभी तक बाईस, इक्कीस, सत्रह और तेरह प्रकृतिक बंधस्थानों में उदयस्थानों का निर्देश किया है। अब आगे नौ प्रकृतिक आदि बंधस्थानों में उदयस्थानों का स्पष्टीकरण करते हैं।

'चत्तारिमाइ नवबंधगेसु उक्कोस सत्त उदयंसा' अर्थात् नौ प्रकृतिक बंधस्थान में उदयस्थान चार से प्रारम्भ होकर सात तक होते हैं। यानि नौ प्रकृतिक बंधस्थान में चार प्रकृतिक, पाँच प्रकृतिक, छह प्रकृ-

तिक और सात प्रकृतिक, ये चार उदयस्थान हैं। यह बंधस्थान छठे, सातवें और आठवें गुणस्थानों में होता है।

चार प्रकृतिक उदयस्थान में ग्रहण की गई प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं कि संज्वलन कषाय चतुष्क में से कोई एक कषाय, तीन वेदों में से कोई एक वेद, दो युगलों में से कोई एक युगल, इन चार प्रकृतियों का उदय क्षायिक सम्यग्दृष्टियों, औपशमिक सम्यग्दृष्टियों को छठे आदि गुणस्थानों में नियम से होता है। विकल्प नहीं होने से इसमें एक चौबीसी होती है। इसमें भय, जुगुप्सा, सम्यक्त्वमोहनीय इन तीन प्रकृतियों में से किसी एक प्रकृति को क्रम से मिलाने पर पाँच प्रकृतिक उदयस्थान तीन प्रकार से प्राप्त होता है। इसमें तीन विकल्प हैं और एक विकल्प की भंगों की एक चौबीसी होने से भंगों की तीन चौबीसी प्राप्त होती हैं। पूर्वोक्त चार प्रकृतिक उदयस्थान में भय और जुगुप्सा, भय और सम्यक्त्वमोहनीय या जुगुप्सा और सम्यक्त्वमोहनीय इन दो-दो प्रकृतियों को क्रम से मिलाने पर छह प्रकृतिक उदयस्थान तीन प्रकार से प्राप्त होता है और तीन विकल्प होने से एक-एक भेद में भंगों की एक-एक चौबीसी प्राप्त होती है, जिससे छह प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की कुल तीन चौबीसी प्राप्त हुईं। फिर चार प्रकृतिक उदयस्थान में भय, जुगुप्सा और सम्यक्त्वमोहनीय इन तीनों को एक साथ मिलाने से सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह सात प्रकृतिक उदयस्थान एक ही प्रकार का है, अतः यहाँ भंगों की एक चौबीसी प्राप्त होती है।

इस प्रकार नौ प्रकृतिक बंधस्थान में उदयस्थानों की अपेक्षा चार प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की एक चौबीसी, पाँच प्रकृतिक उदयस्थानों में भंगों की तीन चौबीसी, छह प्रकृतिक उदयस्थानों में भंगों की तीन चौबीसी और सात प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की एक चौबीसी होने से कुल मिलाकर आठ चौबीसी प्राप्त होती हैं। इनमें से चार

चौबीसी उपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवों के और चार चौबीसी वेदक सम्यग्दृष्टि जीवों के होती हैं।

पाँच प्रकृतिक बंधस्थान में संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ इनमें से कोई एक तथा तीन वेदों में से कोई एक वेद, इस प्रकार दो प्रकृतियों का एक उदयस्थान होता है—'पंचविहबंधगे पुण उदओ दोण्हं।' इस स्थान में चारों कषायों को तीनों वेदों से गुणित करने पर बारह भंग होते हैं। ये बारह भंग नौवें गुणस्थान के पाँच भागों में से पहले भाग में होते हैं।

पाँच प्रकृतिक बंधस्थान के बाद के जो चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक बंधस्थान हैं, उनमें एक-एक प्रकृति वाला उदयस्थान होता है। अर्थात् इन उदयस्थानों में से प्रत्येक में एक-एक प्रकृति का उदय होता है—'इत्तो चउबंधाई इक्केक्कुदया हवंति सव्वे वि।' जिसका स्पष्टीकरण नीचे करते हैं।

पाँच प्रकृतिक बंधस्थान में से पुरुषवेद का बंधविच्छेद और उदय-विच्छेद एक साथ होता है, अतः चार प्रकृतिक बंध के समय चार संज्वलनों में से किसी एक प्रकृति का उदय होता है। इस प्रकार यहाँ चार भंग प्राप्त होते हैं। क्योंकि कोई जीव संज्वलन क्रोध के उदय से श्रेणि आरोहण करते हैं, कोई संज्वलन मान के उदय से, कोई संज्वलन माया के उदय से और कोई संज्वलन लोभ के उदय से श्रेणि चढ़ते हैं। इस प्रकार चार भंग होते हैं।

यहाँ पर कितने ही आचार्य यह मानते हैं कि चार प्रकृतिक बंध के संक्रम के समय तीन वेदों में से किसी एक वेद का उदय होता है। अतः उनके मत से चार प्रकृतिक बंध के प्रथम काल में दो प्रकृतियों का उदय होता है और इस प्रकार चार कषायों को तीन वेदों से गुणित

करने पर बारह भंग होते हैं।[1] इसी बात की पुष्टि पंचसंग्रह की मूल टीका में भी की गई है—

"चतुर्विधबन्धकस्यात्याद्यविभागे त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदयं केचिदिच्छन्ति, आदचतुर्विधबंधकस्यापि द्वादश द्विकोदयान् जानीहि।

अर्थात्—कितने ही आचार्य चार प्रकृतियों का बन्ध करने वाले जीवों के पहले भाग में तीन वेदों में से किसी एक वेद का उदय मानते हैं, अतः चार प्रकृतियों का बन्ध करने वाले जीव के भी दो प्रकृतियों के उदय से बारह भंग जानना चाहिए।

इस प्रकार उन आचार्यों के मत से दो प्रकृतियों के उदय में चौबीस भंग हुए। बारह भंग तो पाँच प्रकृतिक बन्धस्थान के समय के और बारह भंग चार प्रकृतिक बन्धस्थान के समय के, इस प्रकार चौबीस भंग हुए।

संज्वलन क्रोध के बन्धविच्छेद हो जाने पर तीन प्रकृतिक बन्ध और एक प्रकृतिक उदय होता है। यहाँ तीन भंग होते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि यहाँ संज्वलन क्रोध को छोड़कर शेष तीन प्रकृतियों में से किसी एक प्रकृति का उदय कहना चाहिए, क्योंकि संज्वलन क्रोध के उदय में संज्वलन क्रोध का बन्ध अवश्य होता है। कहा भी है—**जे वेयइ ते बंधई**—जीव जिसका वेदन करता है, उसका बन्ध अवश्य करता है।

इसलिए जब संज्वलन क्रोध का बन्धविच्छेद हो गया तो उसका उदयविच्छेद भी हो जाता है। इसलिए तीन प्रकृतिक बन्ध के समय

---

१ इह केचिच्चतुर्विधबंधसंक्रमकाले त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदयमिच्छन्ति ततस्तन्मतेन चतुर्विधबंधकस्यापि प्रथमकाले द्वादश द्विकोदयभंगा लभ्यन्ते। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १६८

संज्वलन मान आदि तीनों में से किसी एक प्रकृति का उदय होता है, ऐसा कहना चाहिए।

संज्वलन मान के बन्धविच्छेद हो जाने पर दो प्रकृतिक बन्ध और एक प्रकृतिक उदय होता है। किन्तु वह उदय संज्वलन माया और लोभ में से किसी एक का होता है, अतः यहाँ दो भंग प्राप्त होते हैं। संज्वलन माया के बन्धविच्छेद हो जाने पर एक संज्वलन लोभ का बन्ध होता है और उसी का उदय। यह एक प्रकृतिक बन्ध और उदय-स्थान है। अतः यहाँ उसमें एक भंग होता है।

यद्यपि चार प्रकृतिक बन्धस्थान आदि में संज्वलन क्रोध आदि का उदय होता है, अतः भंगों में कोई विशेषता उत्पन्न नहीं होती है, फिर भी बन्धस्थानों के भेद से उनमें भेद मानकर पृथक्-पृथक् कथन किया गया है।

इसी प्रकार से बन्ध के अभाव में भी सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में मोहनीय कर्म की एक प्रकृति का उदय समझना चाहिये—'बंधोवरमे वि तहा' इसलिये एक भंग यह हुआ। इस प्रकार चार प्रकृतिक बन्ध-स्थान आदि में कुल भंग ४+३+२+१+१=११ हुए।

अनन्तर सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अन्त में मोहनीय का उदय-विच्छेद हो जाने पर भी उपशान्तमोह गुणस्थान में उसका सत्व पाया जाता है। यहाँ बन्धस्थान और उदयस्थानों के परस्पर संवेध का विचार किया जा रहा है, जिससे गाथा में सत्वस्थान के उल्लेख की आवश्यकता नहीं थी, फिर भी प्रसंगवश यहाँ उसका भी संकेत किया गया है—'उदयाभावे वि वा होज्जा'—मोहनीय कर्म की सत्ता विकल्प से होती है।

अब आगे की गाथा में दस से लेकर एक पर्यन्त उदयस्थानों में जितने भंग सम्भव हैं, उनका निर्देश करते हैं।

एक्कग छक्केक्कारस दस सत्त चउक्क एक्कगा चेव ।
एए चउवीसगया चउवीस दुगेक्कमिक्कारा ॥१८॥

शब्दार्थ—**एक्कग**—एक, **छक्केक्कारस**—छह, ग्यारह, **दस**—दस, **सत्त**—सात, **चउक्क**—चार, **एक्कगा**—एक, **चेव**—निश्चय से, **एए**—ये भंग, **चउवीसगया**—चौबीस की संख्या वाले होते हैं, **चउवीस**—चौबीस, **दुग**—दो के उदय होने पर, **इक्कमिक्कारा**—एक के उदय में ग्यारह भंग ।

गाथार्थ—दस प्रकृतिक आदि उदयस्थानों में क्रम से एक, छह, ग्यारह, दस, सात, चार और एक, इतने चौबीस विकल्प रूप भंग होते हैं तथा दो प्रकृतिक उदयस्थान में चौबीस और एक प्रकृतिक उदयस्थान में ग्यारह भंग होते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में दस प्रकृतिक आदि प्रत्येक उदयस्थानों में चौबीस विकल्प रूप भंगों की संख्या बतलाई है । यद्यपि पहले दस प्रकृतिक आदि उदयस्थानों में कहाँ कितनी भंगों की चौबीसी होती हैं, बतला आये हैं, लेकिन यहाँ उनकी कुल (सम्पूर्ण) संख्या इस कारण बतलाई है कि जिससे यह ज्ञात हो जाता है कि मोहनीय कर्म के सब उदयस्थानों में सब भंगों की चौबीसी कितनी हैं और फुटकर भंग कितने होते हैं ।

गाथा में बताई गई भंगों की चौबीसी की संख्या का उदयस्थानों के साथ यथासंख्य समायोजन करना चाहिये । जैसे दस के उदय में एक चौबीसी, नौ के उदय में छह चौबीसी आदि । इसका स्पष्टीकरण नीचे करते हैं ।

दस प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की एक चौबीसी होती है—'एक्कग' । इसका कारण यह है कि दस प्रकृतिक उदयस्थान में प्रकृति-विकल्प नहीं होते हैं । इसीलिये एक चौबीसी बतलाई है ।

नौ प्रकृतिक उदयस्थान में 'छक्क'—भंगों की कुल छह चौबीसी होती हैं। वे इस प्रकार हैं—बाईस प्रकृतिक बंधस्थान में जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान है, उसकी तीन चौबीसी होती हैं। इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान के समय जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है, उसकी एक चौबीसी, मिश्र गुणस्थान में सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान के समय जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है, उसके भंगों की एक चौबीसी और चौथे गुणस्थान में सत्रह प्रकृतिक बंध के समय जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है, उसके भंगों की एक चौबीसी। इस प्रकार नौ प्रकृतिक उदयस्थान के भंगो की कुल छह चौबीसी हुई।

आठ प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की ग्यारह चौबीसी होती हैं—'इक्कारस'। वे इस प्रकार हैं—बाईस प्रकृतिक बंधस्थान के समय जो आठ प्रकृतिक उदयस्थान होते हैं, उसके भंगों की तीन चौबीसी, इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान में जो आठ प्रकृतिक उदयस्थान हैं उसके भंगों की दो चौबीसी, मिश्र गुणस्थान में सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान के समय जो आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है, उसके भंगों की दो चौबीसी, चौथे गुणस्थान में जो सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान हैं, उसमें आठ प्रकृतिक उदयस्थान के भंगों की कुल तीन चौबीसी और पांचवें गुणस्थान में तेरह प्रकृतिक बंधस्थान के समय आठ प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की एक चौबीसी। इस प्रकार आठ प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की कुल ग्यारह चौबीसी हुई।

सात प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की कुल दस चौबीसी होती हैं। वे इस प्रकार हैं—बाईस प्रकृतिक बंधस्थान के समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसकी एक चौबीसी। इक्कीस प्रकृतिक बंधस्थान के समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है उसके भंगों की एक चौबीसी, मिश्र गुणस्थान में सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान के समय होने वाले सात प्रकृतिक उदयस्थान के भंगों की एक चौबीसी, चौथे गुण-

स्थान में जो सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान हैं, उसके सात प्रकृतिक उदय-स्थान के भंगों की तीन चौबीसी, तेरह प्रकृतिक बंधस्थान के समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है, उसके भंगों की तीन चौबीसी और नौ प्रकृतिक बंधस्थान के समय जो सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है, उसके भंगों की एक चौबीसी होती है। इस प्रकार सात प्रकृतिक उदय-स्थान में भंगों की कुल दस चौबीसी होती हैं।

छह प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की कुल सात चौबीसी इस प्रकार होती हैं—अविरत सम्यग्दृष्टि के सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान के समय जो छह प्रकृतिक उदयस्थान होता है, उसके भंगों की एक चौबीसी, तेरह प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक बंधस्थान में जो छह प्रकृतिक उदय-स्थान होता है, उसके भंगों की तीन-तीन चौबीसी होती हैं। इस प्रकार छह प्रकृतिक उदयस्थान के भंगों की कुल सात चौबीसी हुईं।

पांच प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की कुल चार चौबीसी होती हैं। वे इस प्रकार हैं—तेरह प्रकृतिक बंधस्थान में जो पाँच प्रकृतिक उदयस्थान होता है, उसके भंगों की एक चौबीसी और नौ प्रकृतिक बंधस्थान में जो पाँच प्रकृतिक उदयस्थान हैं, उसके भङ्गों की कुल तीन चौबीसी होती हैं। इस प्रकार पाँच प्रकृतिक उदयस्थान में भङ्गों की कुल चार चौबीसी होती हैं।

नौ प्रकृतिक बंधस्थान के समय चार प्रकृतिक उदय के भङ्गों की एक चौबीसी होती है।

इस प्रकार दस से लेकर चार पर्यन्त उदयस्थानों के भंगों की कुल संख्या १+६+११+१०+७+४+१=४० चौबीसी होती हैं।

पाँच प्रकृतिक बंध के समय दो प्रकृतिक उदय के बारह भंग होते हैं और चार प्रकृतिक बंध के समय भी दो प्रकृतिक उदय संभव है, ऐसा कुछ आचार्यों का मत है, अतः इस प्रकार दो प्रकृतिक उदयस्थान के बारह भंग हुए। जिससे दो प्रकृतिक उदयस्थान के भंगों की एक

चौबीसी होती है तथा चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक बंधस्थान के तथा अबन्ध के समय एक प्रकृतिक उदयस्थान के क्रमशः चार, तीन, दो, एक और एक भंग होते हैं। इनका जोड़ ग्यारह है। अतः एक प्रकृतिक उदयस्थान के कुल ग्यारह भंग होते हैं।

इस प्रकार से गाथा में मोहनीय कर्म के सब उदयस्थानों में भंगों की चौबीसी और फुटकर भंगों को स्पष्ट किया गया है।

सप्ततिका नामक षष्ठ कर्मग्रन्थ के टबे में इस गाथा का चौथा चरण दो प्रकार से निर्दिष्ट किया गया है। स्वमत से 'बार दुगिक्कमि इक्कारा' और मतान्तर से 'बउवीस दुगिक्कमिक्कारा' निर्दिष्ट किया है। प्रथम पाठ के अनुसार स्वमत से दो प्रकृतिक उदयस्थान में बारह भंग और दूसरे पाठ के अनुसार मतान्तर से दो प्रकृतिक उदयस्थान में चौबीस भंग प्राप्त होते हैं। आचार्य मलयगिरि ने अपनी टीका में इसी अभिप्राय की पुष्टि इस प्रकार की है—

"द्विकोदये चतुर्विंशतिरेका भंगकानाम्, एतच्च मतान्तरेणोक्तम्, अन्यथा स्वमते द्वादशैव भंगा वेदितव्याः।"

अर्थात् दो प्रकृतिक उदयस्थान में चौबीस भंग होते हैं। सो यह कथन अन्य आचार्यों के अभिप्रायानुसार किया गया है। स्वमत से तो दो प्रकृतिक उदयस्थान में बारह ही भंग होते हैं।

यहाँ गाथा १६ में पाँच प्रकृतिक बंधस्थान के समय दो प्रकृतिक उदयस्थान और गाथा १७ में चार प्रकृतिक बंधस्थान के समय एक प्रकृतिक उदयस्थान बतलाया है। इसमें जो स्वमत से बारह और मतान्तर से चौबीस भंगों का निर्देश किया है, उसकी पुष्टि होती है। पंचसंग्रह सप्ततिका प्रकरण और गो० कर्मकांड में भी इन मतभेदों का निर्देश किया गया है।

बंधस्थान उदयस्थानों के संभव भंगों का विवरण इस प्रकार जानना चाहिये—

गुणस्थान	बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग
पहला	२२	६	७, ८, ९, १०	८ चौबीसी
दूसरा	२१	४	७, ८, ९	४ ,,
तीसरा	१७	२	७, ८, ९	४ ,,
चौथा	१७	२	६, ७, ८, ९	८ ,,
पाँचवाँ	१३	२	५, ६, ७, ८	८ ,,
६ से ८	९	२	४, ५, ६, ७	८ ,,
नौवाँ	५	१	२	१२ भंग
,,	४	१	२	१२ ,,
,,	३	१	१	४ ,,
,,	२	१	१	३ ,,
,,	१	१	१	२ ,,
दसवाँ	०	०	१	१ ,,

अब आगे की गाथा में इन भंगों की एवं पदवृन्दों की संख्या बतलाते हैं।

नवपंचाणउइसएहुदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा।[1]
अउणत्तरिएगुत्तरिएयविंदसएहिं विन्नेया ॥[2] १९॥

---

१ चउबंधगे वि बारस दुगोदया जाण तेहि छूढेहिं।
बन्धगभेएणेवं पंचूणासहस्समुदयाणं ॥ —पंचसंग्रह सप्ततिका, गा० २९

२ सप्ततिका प्रकरण नामक षष्ठ कर्मग्रन्थ के टबे में यह गाथा 'नवतेसीयसएहिं' इत्यादि के बाद दी गई है।

शब्दार्थ—नवपंचाणउइसए—नौ सौ पंचानवे, उदयविगप्पेहिं—उदयविकल्पों से, मोहिया—मोहित हुए, जीवा—जीव, अउणसरिएगुत्तरि—उनहत्तर सौ इकहत्तर, पयविंदसएहिं—पदवृन्दों सहित, विन्नेया—जानना चाहिये।

गाथार्थ—समस्त संसारी जीवों को नौ सौ पंचानवे उदयविकल्पों तथा उनहत्तर सौ इकहत्तर पदवृन्दों से मोहित जानना चाहिये।

विशेषार्थ—पूर्व में मोहनीय कर्म के उदयस्थानों के भंगों और उन उदयस्थानों के भंगों की कहाँ कितनी चौबीसी होती हैं, यह बतलाया गया है। अब इस गाथा में उनकी कुल संख्या एवं उनके पदवृन्दों को स्पष्ट किया जा रहा है।

प्रत्येक चौबीसी में चौबीस भंग होते हैं और पहले जो उदयस्थानों की चौबीसी बतलाई हैं, उनकी कुल संख्या इकतालीस है। अतः इकतालीस को चौबीस में गुणित करने पर कुल संख्या नौ-सौ चौरासी प्राप्त होती है—४१ × २४ = ९८४। इस संख्या में एक प्रकृतिक उदयस्थान के भंग सम्मिलित नहीं हैं। वे भंग ग्यारह हैं। अतः उन ग्यारह भंगों को मिलाने पर भंगों की कुल संख्या नौ सौ पंचानवे होती है। इन भंगों में से किसी-न-किसी एक भंग का उदय दसवें गुणस्थान तक के जीवों के अवश्य होता है। यहाँ दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक के जीवों को ही ग्रहण करने का कारण यह है कि मोहनीय कर्म का उदय वहीं तक पाया जाता है। यद्यपि ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थानवर्ती जीव का जब स्व-स्थान से पतन होता है तब उसको भी मोहनीय कर्म का उदय हो जाता है, लेकिन कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त के लिये मोहनीय कर्म का उदय न रहने से उसका ग्रहण नहीं करके दसवें गुणस्थान तक के जीवों को

उक्त नौसौ पंचानवें भंगों में से यथासंभव किसी न किसी एक भंग से मोहित होना कहा गया है।

मोहनीयकर्म की मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि प्रत्येक प्रकृति को पद कहते हैं और उनके समुदाय का नाम पदवृन्द है। इसी का दूसरा नाम प्रकृतिविकल्प भी है। अर्थात् दस प्रकृतिक आदि उदयस्थानों में जितनी प्रकृतियों का ग्रहण किया गया है, वे सब पद हैं और उनके भेद से जितने भंग होंगे, वे सब पदवृन्द या प्रकृतिविकल्प कहलाते हैं। यहाँ उनके कुल भेद ६९७१ बतलाये हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

दस प्रकृतिक उदयस्थान एक है, अतः उसकी दस प्रकृतियाँ हुईं। नौ प्रकृतिक उदयस्थान छह हैं अतः उनकी ९×६=५४ प्रकृतियाँ हुईं। आठ प्रकृतिक उदयस्थान ग्यारह हैं अतः उनकी अठासी प्रकृतियाँ हुईं। सात प्रकृतिक उदयस्थान दस हैं अतः उनकी सत्तर प्रकृतियाँ हुईं। छह प्रकृतिक उदयस्थान सात हैं अतः उनकी बयालीस प्रकृतियाँ हुईं। पांच प्रकृतिक उदयस्थान चार हैं अतः उनकी बीस प्रकृतियाँ हुईं। चार प्रकृतिक उदयस्थान के एक होने से उसकी चार प्रकृतियाँ हुईं और दो प्रकृतिक उदयस्थान एक है अतः उसकी दो प्रकृतियाँ हुईं। इन सब प्रकृतियों को मिलाने पर १०+५४+८८+७०+४२+२०+४+२=कुल जोड़ २९० होता है।

उक्त २९० प्रकृतियों में से प्रत्येक में चौबीस-चौबीस भंग प्राप्त होते हैं अतः २९० को २४ से गुणित करने पर कुल ६९६० होते हैं। इस संख्या में एक प्रकृतिक उदयस्थान के ग्यारह भंग सम्मिलित नहीं हैं। अतः उन ग्यारह भंगों के मिलाने पर कुल संख्या ६९७१ हो जाती है। यहाँ यह विशेष जानना चाहिये कि पहले जो मतान्तर से चार

प्रकृतिक बंध के संक्रमकाल के समय दो प्रकृतिक उदयस्थान में बारह भंग बतलाये थे, उनको सम्मिलित करके यह उदयस्थानों की संख्या और पदसंख्या बताई है। अर्थात् उदयस्थानों में से मतान्तर वाले बारह भंग कम कर दिये जायें तो ९८३ उदयविकल्प होते हैं और द्वि-प्रकृतिक उदयस्थान के बारह-बारह भंग कम कर दिये जायें तो पदों की कुल संख्या ६९४७ होती है। विशेष स्पष्टीकरण आगे की गाथा में किया जा रहा है। अब बारह भंगों को छोड़कर उदयस्थानों की संख्या और पदसंख्या का निर्देश करते हैं।

नवतेसीयसएहिं उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा।
अउणत्तरिसीयाला पयावृंदसएहिं विन्नेया ॥२०॥

शब्दार्थ—नवतेसीयसएहिं—नौ सौ तिरासी, **उदयविगप्पेहिं**—उदयविकल्पों से, **मोहिया**—मोहित हुए, **जीवा**—जीव, **अउणत्तरि-सीयाला**—उनहत्तर सौ सैंतालीस, **पयावृंदसएहिं**—पदों के समूह, **विन्नेया**—जानना चाहिये।

गाथार्थ—संसारी जीव नौसौ तिरासी उदयविकल्पों से और उनहत्तर सौ सैंतालीस पद समुदायों से मोहित हो रहे हैं, ऐसा जानना चाहिये।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में मतान्तर की अपेक्षा उदयविकल्पों और पदवृन्दों की संख्या बतलाई है। इस गाथा में स्वमत से उदयविकल्पों और पदवृन्दों की संख्या का स्पष्टीकरण करते हैं।

पिछली गाथा में उदयविकल्प ९९५ और पदवृन्द ६९७१ बतलाये हैं और इस गाथा में उदयविकल्प ९८३ और पदवृन्द ६९४७ कहे हैं। इसका कारण यह है—चार प्रकृतिक बंध के संक्रम के समय दो प्रकृतिक उदयस्थान होता है, यदि इस मतान्तर को मुख्यता न दी जाये और उनके मत से दो प्रकृतिक उदयस्थान के उदयविकल्प और

पदवृन्दों को छोड़ दिया जाये तो क्रमशः उनकी संख्या ९८३ और ६९४७ होती है।

यहाँ मोहनीय कर्म के उदयविकल्प दो प्रकार से बताये हैं, एक ९९५ और दूसरे ९८३। इनमें से ९९५ उदयविकल्पों में दो प्रकृतिक उदयस्थान के २४ भंग तथा ९८३ उदयविकल्पों में दो प्रकृतिक उदयस्थान के १२ भंग लिये हैं। पंचसंग्रह सप्ततिका में भी ये उदयविकल्प बतलाये हैं, किन्तु वहाँ तीन प्रकार से बतलाये हैं। पहले प्रकार में यहाँ वाले ९९५, दूसरे में यहाँ वाले ९८३ प्रकार से कुछ अन्तर पड़ जाता है। इसका कारण यह है कि यहाँ एक प्रकृतिक उदय के बन्धाबन्ध की अपेक्षा ग्यारह भंग लिये हैं और पंचसंग्रह सप्ततिका में उदय की अपेक्षा प्रकृति भेद से चार भंग लिये हैं, जिससे ९८३ में से ७ घटा देने पर कुल ९७६ उदय-विकल्प रह जाते हैं। तीसरे प्रकार से उदय-विकल्प गिनाते हुए गुणस्थान भेद से उनकी संख्या १२६५ कर दी है।

गो० कर्मकाण्ड में भी इनकी संख्या बतलाई है। किन्तु वहाँ इनके दो भेद कर दिये हैं—पुनरुक्त भंग और अपुनरुक्त भंग। पुनरुक्त भंग १२८३ गिनाये हैं। इनमें से १२६५ तो वही हैं जो पंचसंग्रह सप्ततिका में गिनाये हैं और चार प्रकृतिक बंध में दो प्रकृतिक उदय की अपेक्षा १२ भंग और लिये हैं तथा पंचसंग्रह सप्ततिका में एक प्रकृतिक उदय के जो पाँच भंग लिये हैं, वे यहाँ ११ कर दिये गये हैं। इस प्रकार पंचसंग्रह सप्ततिका से १८ भंग बढ़ जाने से कर्मकाण्ड में उनकी संख्या १२८३ हो गई तथा कर्मकाण्ड में अपुनरुक्त भंग ९७७ गिनाये हैं। सो एक प्रकृतिक उदय का गुणस्थान भेद से एक भंग अधिक कर दिया गया है। जिससे ९७६ के स्थान पर ९७७ भंग हो जाते हैं।

इसी प्रकार यहाँ मोहनीय के पदवृन्द दो प्रकार से बतलाये हैं—

६६७१ और ६६४७। जब चार प्रकृतिक बन्ध के समय कुछ काल तक दो प्रकृतिक उदय होता है, तब इस मत को स्वीकार कर लेने पर ६६७१ पदवृन्द होते हैं और इस मत को छोड़ने पर ६६४७ पदवृन्द होते हैं। पंचसंग्रह सप्ततिका में ये दोनों संख्यायें बतलाई हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त साथ ही चार प्रकार के पदवृन्द और बतलाये हैं। उनमें पहला प्रकार ६६४० का है, जिसमें बन्धाबन्ध के भेद से एक प्रकृतिक उदय के ११ भंग न होकर कुल ४ भंग लिये जाते हैं। इस प्रकार ६६४७ में से ७ भंग कम होकर ६६४० संख्या होती है। शेष तीन प्रकार के पदवृन्द गुणस्थान भेद से बताये हैं जो क्रमशः ८४७७, ८४८३ और ८५०७ होते हैं।

गो० कर्मकाण्ड में पदवृन्द को प्रकृतिविकल्प संज्ञा दी है। उदय-विकल्पों की तरह ये प्रकृतिविकल्प भी पुनरुक्त और अपुनरुक्त दो प्रकार के बताये हैं। पुनरुक्त उदयविकल्पों की अपेक्षा इनकी संख्या ८५०७ और अपुनरुक्त उदयविकल्पों की अपेक्षा इनकी संख्या ६६४१ बताई है। पंचसंग्रह सप्ततिका में जो ६६४० पदवृन्द बतलाये हैं, उनमें गुणस्थान भेद से १ भंग और मिला देने पर ६६४१ प्रकृतिविकल्प हो जाते हैं। क्योंकि पंचसंग्रह सप्ततिका में एक प्रकृतिक उदयस्थान के कुल चार भंग लिये गये हैं और कर्मकाण्ड[1] में गुणस्थान भेद से पाँच लिये गये हैं। जिससे एक भंग बढ़ जाता है।

ऊपर जो कथन किया गया है उसमें जो संख्याओं का अन्तर दिखता है, वह विवक्षाभेदकृत है, मान्यताभेद नहीं है।

इस प्रकार से स्वमत और मतान्तर तथा अन्य कार्मग्रन्थिकों के

---

१ मोहनीय कर्म के उदयस्थानों, उनके विकल्पों और प्रकृतिविकल्पों की जानकारी के लिए गो० कर्मकांड गा० ४७५ से ४८६ तक देखिए।

मतों से उदयविकल्पों और प्रकृतिविकल्पों के भंगों का कथन करने के बाद अब उदयस्थानों के काल का निर्देश करते हैं।

दस आदिक जितने उदयस्थान और उनके भंग बतलाये हैं, उनका जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है।[1]

चार प्रकृतिक उदयस्थान से लेकर दस प्रकृतिक उदयस्थान तक के प्रत्येक उदयस्थान में किसी एक वेद और किसी एक युगल का उदय होता है और वेद तथा युगल का एक मुहूर्त के भीतर अवश्य ही परिवर्तन हो जाता है। इसी बात को पंचसंग्रह की मूल टीका में भी बतलाया है—

"वेदेन युगलेन वा अवश्यं मुहूर्तादारतः परावर्तितव्यम्।"

अर्थात् एक मुहूर्त के भीतर किसी एक वेद और किसी एक युगल का अवश्य परिवर्तन होता है।

इससे निश्चित होता है कि इन चार प्रकृतिक आदि उदयस्थानों का और उनके भंगों का जो उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त कहा है, वह ठीक है। दो और एक प्रकृतिक उदयस्थान भी अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त काल तक पाये जाते हैं। अतः उनका भी उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त ही है।

इन सब उदयस्थानों का जघन्यकाल एक समय इस प्रकार समझना चाहिये कि जब कोई जीव किसी विवक्षित उदयस्थान में या उसके किसी एक विवक्षित भंग में एक समय तक रहकर दूसरे समय में मर कर या परिवर्तन क्रम से किसी अन्य गुणस्थान को प्राप्त होता है तब उसके गुणस्थान में भेद हो जाता है, बन्धस्थान भी बदल जाता है और गुणस्थान के अनुसार उसके उदयस्थान और उसके भंगों में भी अन्तर पड़ जाता है। अतः सब उदयस्थानों और उसके सब भंगों का जघन्यकाल एक समय प्राप्त होता है।

---

१ इह दशादय उदयास्तद्भंगाश्च जघन्यत एकसामयिका उत्कर्षत आन्तर्मौहूर्तिकाः। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७०

मोहनीय कर्म के उदयविकल्पों और पदविकल्पों का विवरण इस प्रकार है—

उदयस्थान	चौबीसी संख्या	चौबीसी के कुल भंगों की संख्या	उदयपद	पदविकल्प
दस के उदय में	१	२४	१०	२४०
नौ ,, ,, ,,	६	१४४	५४	१२९६
आठ ,, ,, ,,	११	२६४	८८	२११२
सात ,, ,, ,,	१०	२४०	७०	१६८०
छह ,, ,, ,,	७	१६८	४२	१००८
पाँच ,, ,, ,,	४	९६	२०	४८०
चार ,, ,, ,,	१	२४	४	९६
दो ,, ,, ,,	०	सिर्फ १२ भंग	०	२४
एक ,, ,, ,,	०	,, ११ ,,	०	११
कुल योग	४०	९८३	२८८	६९४७
मतान्तर से दो के उदय में	१	२४ (१२ भंग पूर्व में मिलने से, यहाँ सिर्फ १२ भंग लेना)	२	४८ (२४ भंग पहले के लिए अतः यहाँ २४ भंग लेना)
	४१	९९५	२९०	६९७१

इस प्रकार से बन्धस्थानों का उदयस्थानों के साथ परस्पर संवेध

भंगों का कथन करने के अनन्तर अब आगे सत्तास्थानों के साथ बन्धस्थानों का कथन करते हैं।

तिन्नेव य बावीसे इगवीसे अट्ठवीस सत्तरसे।
छ च्चेव तेरनवबंधगेसु पंचेव ठाणाइं ॥२१॥
पंचविहचउविहेसुं छ छक्क सेसेसु जाण पंचेव।
पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि य बंधवोच्छेए ॥२२॥

शब्दार्थ—**तिन्नेव**—तीन सत्तास्थान, **य**—और, **बावीसे**—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थान में, **इगवीसे**—इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थान में, **अट्ठवीस**—अट्ठाईस का सत्तास्थान, **सत्तरसे**—सत्रह के बन्धस्थान में, **छच्चेव**—छह का, **तेरनवबंधगेसु**—तेरह और नौ प्रकृतिक बन्धस्थान में, **पंचेव**—पाँच ही, **ठाणाणि**—सत्तास्थान।

पंचविह—पाँच प्रकृतिक बन्धस्थान में, **चउविहेसुं**—चार प्रकृतिक बन्धस्थान में, **छ छक्क**—छह-छह, **सेसेसु**—बाकी के बन्धस्थानों में, **जाण**—जानो, **पंचेव**—पाँच ही, **पत्तेयं-पत्तेयं**—प्रत्येक में, (एक-एक में), **चत्तारि**—चार, **य**—और, **बंधवोच्छेए**—बन्ध का विच्छेद होने पर भी।

गाथार्थ—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थान में तीन, इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थान में अट्ठाईस प्रकृति वाला एक, सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थान में छह, तेरह प्रकृतिक और नौ प्रकृतिक बन्धस्थान में पांच-पांच सत्तास्थान होते हैं।

पाँच प्रकृतिक और चार प्रकृतिक बन्धस्थानों में छह-छह सत्तास्थान तथा शेष रहे बंधस्थानों में से प्रत्येक के पांच-पांच सत्तास्थान जानना चाहिये और बन्ध का विच्छेद हो जाने पर चार सत्तास्थान होते हैं।

विशेषार्थ—पहले १५, १६ और १७वीं गाथा में मोहनीय कर्म के बन्धस्थानों और उदयस्थानों के परस्पर संवेध का कथन कर आये हैं।

अब यहाँ दो गाथाओं में मोहनीय कर्म के बन्धस्थान और सत्तास्थानों के परस्पर संवेध का निर्देश किया गया है। साथ ही बन्धस्थान, उदयस्थान और सत्तास्थानों के परस्पर संवेध का कथन करना आवश्यक होने से बन्धस्थान और सत्तास्थानों के परस्पर संवेध को बतलाते हुए प्राप्त होने वाले उदयस्थानों का भी उल्लेख करेंगे।

मोहनीय कर्म के बाईस, इक्कीस, सत्रह, तेरह, नौ, पाँच, चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक कुल दस बन्धस्थान हैं। उनमें क्रमशः सत्तास्थानों का स्पष्टीकरण करते हैं।

'तिन्नेव य बावीसे'—बाईस प्रकृतिक बन्धस्थान के समय तीन सत्तास्थान होते हैं २८, २७ और २६ प्रकृतिक। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—बाईस प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यादृष्टि जीव को होता है और उसके उदयस्थान चार होते हैं—७, ८, ९ और १० प्रकृतिक। इनमें से ७ प्रकृतिक उदयस्थान के समय २८ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। क्योंकि सात प्रकृतिक उदयस्थान अनन्तानुबन्धी के उदय के बिना ही होता है और मिथ्यात्व में अनन्तानुबन्धी के उदय का अभाव उसी जीव के होता है, जिसने पहले सम्यग्दृष्टि रहते अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना की और कालान्तर में परिणामवश मिथ्यात्व में जाकर मिथ्यात्व के निमित्त से पुनः अनन्तानुबन्धी के बन्ध का प्रारम्भ किया हो। उसके एक आवली प्रमाण काल तक अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होता है। किन्तु ऐसे जीव के नियम से अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है। जिससे सात प्रकृतिक उदयस्थान में एक अट्ठाईस प्रकृतिक उदयस्थान ही होता है।

आठ प्रकृतिक उदयस्थान में भी उक्त तीनों सत्तास्थान होते हैं। क्योंकि आठ प्रकृतिक उदयस्थान दो प्रकार का होता है—१. अनन्ता-

नुबन्धी के उदय से रहित और २. अनन्तानुबन्धी के उदय से सहित।[1] इनमें से जो अनन्तानुबन्धी के उदय से रहित वाला आठ प्रकृतिक उदयस्थान है, उसमें एक अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान ही प्राप्त होता है। इसका स्पष्टीकरण सात प्रकृतिक उदयस्थान के प्रसंग में ऊपर किया गया है तथा जो अनन्तानुबन्धी के उदय सहित आठ प्रकृतिक उदयस्थान है, उसमें उक्त तीनों ही सत्तास्थान बन जाते हैं। वे इस प्रकार हैं—१. जब तक सम्यक्त्व की उद्वलना नहीं होती तब तक अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। २. सम्यक्त्व की उद्वलना हो जाने पर सत्ताईस प्रकृतिक और ३. सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वलना हो जाने पर छब्बीस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। यह छब्बीस प्रकृतिक सत्तास्थान अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को भी होता है।[2]

नौ प्रकृतिक उदयस्थान भी अनन्तानुबन्धी के उदय से रहित और अनन्तानुबन्धी के उदय से सहित होता है। अनन्तानुबन्धी के उदय से रहित नौ प्रकृतिक उदयस्थान में तो एक अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान ही होता है, किन्तु जो नौ प्रकृतिक उदयस्थान अनन्तानुबन्धी के उदय सहित है उसमें तीनों सत्तास्थान पूर्वोक्त प्रकार से बन जाते हैं।

दस प्रकृतिक उदयस्थान अनन्तानुबन्धी के उदय वाले को ही होता है। अन्यथा दस प्रकृतिक उदयस्थान ही नहीं बनता है। अतः उसमें २८, २७ और २६ प्रकृतिक तीनों सत्तास्थान प्राप्त हो जाते हैं।

इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थान के समय सत्तास्थान एक अट्ठाईस

---

१ यतोऽष्टोदयो द्विधा—अनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽनन्तानुबन्ध्युदयसहितश्च।
—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७१

२ ·····तत्र यावद् नाद्यापि सम्यक्त्वमुद्वलयति तावदष्टाविंशतिः, सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशतिः, सम्यग्मिथ्यात्वेऽप्युद्वलिते षड्विंशतिः अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिः। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७१

प्रकृतिक ही होता है—इगवीसे अट्ठवीस। इसका कारण यह है कि इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थान सासादन सम्यग्दृष्टि को ही होता है और सासादन सम्यक्त्व उपशम सम्यक्त्व से च्युत हुए जीव को होता है, किन्तु ऐसे जीव के दर्शनमोहनीय के तीनों भेदों की सत्ता अवश्य पाई जाती है, क्योंकि यह जीव सम्यक्त्व गुण के निमित्त से मिथ्यात्व के तीन भाग कर देता है, जिन्हें क्रमशः मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व कहते हैं। अतः इसके दर्शन मोहनीय के उक्त तीनों भेदों की सत्ता नियम से पाई जाती है। यहाँ उदयस्थान सात, आठ और नौ प्रकृतिक, ये तीन होते हैं। अतः इक्कीस प्रकृतिक बन्धस्थान के समय तीन उदयस्थानों के रहते हुए एक अट्ठाईस प्रकृतिक ही सत्तास्थान होता है।[1]

सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थान के समय छह सत्तास्थान होते हैं—'सत्तरसे छच्चेव' जो २८, २७, २६, २४, २३, २२ और २१ प्रकृतिक होते हैं। सत्रह प्रकृतिक बन्धस्थान सम्यग्मिथ्यादृष्टि और अविरतसम्यग्दृष्टि, इन दो गुणस्थानों में होता है।

इनमें से सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों के ७, ८ और ९ प्रकृतिक यह तीन उदयस्थान होते हैं और अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों के चार उदयस्थान होते हैं—६, ७, ८ और ९ प्रकृतिक।[2] इनमें से छह प्रकृतिक

---

१ एकविंशतिबन्धो हि सासादनसम्यग्दृष्टेर्भवति, सासादनत्वं च जीवस्यौपशमिकसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानस्योपजायते, सम्यक्त्वगुणेन च मिथ्यात्वं त्रिधाकृतम्, तद्यथा—सम्यक्त्वं मिश्रं मिथ्यात्वं च, ततो दर्शनत्रिकस्यापि सत्कर्मतया प्राप्यमाणत्वाद् एकविंशतिबंधे त्रिष्वप्युदयस्थानेष्वष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानं भवति। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७१

२ सप्तदशबन्धो हि द्वयानां भवति, तद्यथा—सम्यग्मिथ्यादृष्टिनामविरतसम्यग्दृष्टीनां च। तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां त्रीण्युदयस्थानानि, तद्यथा—सप्त अष्टौ नव। अविरतसम्यग्दृष्टिनां चत्वारि, तद्यथा—षट् सप्त अष्टौ नव। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७१

उदयस्थान उपशम सम्यग्दृष्टि या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवों को ही प्राप्त होता है। उपशम सम्यग्दृष्टि जीव को अट्ठाईस और चौबीस प्रकृतिक ये दो सत्तास्थान होते हैं। अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान प्रथमोपशम सम्यक्त्व के समय होता है तथा जिसने अनन्तानुबंधी की उद्वलना की उस औपशमिक अविरत सम्यग्दृष्टि के चौबीस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव के इक्कीस प्रकृतिक सत्तास्थान ही होता है। क्योंकि अनन्तानुबंधी चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक इन सात प्रकृतियों के क्षय होने पर ही उसकी प्राप्ति होती है।[1] इस प्रकार छह प्रकृतिक उदयस्थान में २८, २४ और २१ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान होते हैं।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों के सात प्रकृतिक उदयस्थान के रहते २८, २७ और २४ ये तीन सत्तास्थान होते हैं। इनमें से अट्ठाईस प्रकृतियों की सत्ता वाला जो जीव सम्यग्मिथ्यात्व को प्राप्त होता है, उसके अट्ठाईस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है, किन्तु जिस मिथ्यादृष्टि ने सम्यक्त्व की उद्वलना करके सत्ताईस प्रकृतिक सत्तास्थान को प्राप्त कर लिया किन्तु अभी सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वलना नहीं की, वह यदि मिथ्यात्व से निवृत्त होकर परिणामों के निमित्त से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान[2] को प्राप्त होता है तो उस सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव

१ क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां त्वेकविंशतिरेव, क्षायिकं हि सम्यक्त्वं सप्तकक्षये भवति, सप्तकक्षये च जन्तुरेकविंशतिसत्कर्मेति।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७२

२ सम्यग्मिथ्यादृष्टि के २७ प्रकृतिक सत्तास्थान होने के मत का उल्लेख दिगम्बर परम्परा में देखने में नहीं आया है। गो० कर्मकांड में वेदककाल का निर्देश किया गया है, उस काल में कोई भी मिथ्यादृष्टि जीव वेदक सम्यग्दृष्टि या सम्यग्मिथ्यादृष्टि हो सकता है, पर यह काल सम्यक्त्व की उद्वलना के चालू रहते हुए निकल जाता है। अतः वहां २७ प्रकृतिक सत्ता वाले को न तो वेदक सम्यक्त्व की प्राप्ति बतलाई है और न सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान की।

के सत्ताईस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है तथा सम्यग्दृष्टि रहते हुए जिसने अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना की है, वह यदि परिणामवशात् सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को प्राप्त करता है तो उसके चौबीस प्रकृतिक सत्तास्थान पाया जाता है। ऐसा जीव चारों गतियों में पाया जाता है। क्योंकि चारों गतियों का सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करता है।[1]

कर्मप्रकृति में कहा भी है—

"चउगइया पज्जत्ता तिन्नि वि संजोयणे विजोयंति।
करणेहिं तीहिं सहिया णंतरकरणं उवसमो वा॥"[2]

अर्थात् चारों गति के पर्याप्त जीव तीन करणों को प्राप्त होकर अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करते हैं, किन्तु इनके अनन्तानुबंधी का अन्तरकरण और उपशम नहीं होता है।

यहाँ विशेषता इतनी है कि अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में चारों गति के जीव, देशविरति में तिर्यंच और मनुष्य जीव तथा सर्वविरति में केवल मनुष्य जीव अनन्तानुबन्धी चतुष्क की विसंयोजना करते हैं।[3] अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करने के बाद कितने ही जीव परिणामों के वश से सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान को भी प्राप्त होते हैं। जिससे सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों के चौबीस प्रकृतिक सत्तास्थान होता है, यह सिद्ध हुआ।

लेकिन अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के सात प्रकृतिक उदयस्थान रहते २८, २४, २३, २२ और २१, ये पांच सत्तास्थान होते हैं। इनमें से २८

---

१ यतश्चतुर्गतिका अपि सम्यग्दृष्टयोऽनन्तानुबंधिनो विसंयोजयन्ति।
—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७२

२ कर्मप्रकृति उप० गा० ३१

३ अत्र 'तिन्नि वि' त्ति अविरता देशविरताः सर्वविरता वा यथायोगमिति।
—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७२

और २४ प्रकृतिक तो उपशम सम्यग्दृष्टि और वेदक सम्यग्दृष्टि जीवों के होते हैं, किन्तु यह विशेषता है कि २४ प्रकृतिक सत्तास्थान, जिसने अनन्तानुबंधी चतुष्क की विसंयोजना कर दी है, उसको होता है।[1] २३ और २२ प्रकृतिक सत्तास्थान वेदक सम्यग्दृष्टि जीवों के ही होते हैं। क्योंकि आठ वर्ष या इससे अधिक आयु वाला जो वेदक सम्यग्दृष्टि जीव क्षपणा के लिये उद्यत होता है, उसके अनन्तानुबंधी चतुष्क और मिथ्यात्व का क्षय हो जाने पर २३ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है और फिर उसी के सम्यग्मिथ्यात्व का क्षय हो जाने पर २२ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। यह २२ प्रकृतिक सत्ता वाला जीव सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय करते समय जब उसके अन्तिम भाग में रहता है और कदाचित् उसने पहले परभव सम्बन्धी आयु का बंध कर लिया हो तो मर कर चारों गतियों में उत्पन्न होता है।[2] कहा भी है—

"पट्ठवगो उ मणूसो निट्ठवगो चउसु वि गईसु।

अर्थात् दर्शनमोहनीय की क्षपणा का प्रारम्भ केवल मनुष्य ही करता है, किन्तु उसकी समाप्ति चारों गतियों में होती है।

इस प्रकार २२ प्रकृतिक सत्तास्थान चारों गतियों में प्राप्त होता है किन्तु २१ प्रकृतिक सत्तास्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव को ही प्राप्त होता है। क्योंकि अनन्तानुबंधी चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक, इन सात प्रकृतियों का क्षय होने पर ही क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है।

इसी प्रकार आठ प्रकृतिक उदयस्थान के रहते हुए भी सम्यग्मिथ्या-

---

१ नवरमनन्तानुबन्धिविसंयोजनानन्तरं सा अवगन्तव्या।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७२

२ स च द्वाविंशतिसत्कर्मा सम्यक्त्वं क्षपयन् तच्चरमग्रासे वर्तमानः कश्चित् पूर्ववद्बद्धायुष्कः कालमपि करोति, कालं च कृत्वा चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृष्ठ १७२

दृष्टि और अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों के क्रमशः पूर्वोक्त तीन और पांच सत्तास्थान होते हैं। नौ प्रकृतिक उदयस्थान के रहते हुए भी इसी प्रकार जानना चाहिये, लेकिन इतनी विशेषता है कि अविरतों के नौ प्रकृतिक उदयस्थान वेदक सम्यग्दृष्टि जीवों के ही होता है और वेदक सम्यग्दृष्टि जीवों के २८, २४, २३ और २२ प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान पाये जाते हैं, अतः यहाँ भी उक्त चार सत्तास्थान होते हैं।

सत्रह प्रकृतिक बंधस्थान सम्बन्धी उक्त कथन का सारांश यह है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि के १७ प्रकृतिक एक बंधस्थान और ७, ८, ९ प्रकृतिक ये तीन उदयस्थान तथा २८, २७ और २४ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि में उपशम सम्यग्दृष्टि के १७ प्रकृतिक एक बंधस्थान और ६, ७, ८ प्रकृतिक तीन उदयस्थान तथा २८ और २४ प्रकृतिक दो सत्तास्थान होते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि के एक १७ प्रकृतिक बंधस्थान तथा ६, ७ और ८ प्रकृतिक, ये तीन उदय स्थान तथा २१ प्रकृतिक एक सत्तास्थान होता है। वेदक सम्यग्दृष्टि के १७ प्रकृतिक एक बंधस्थान तथा ७, ८ और ९ प्रकृतिक तीन उदय स्थान तथा २८, २४, २३ और २२ प्रकृतिक चार सत्तास्थान होते हैं संवेध भंगों का पूर्व में निर्देश किया जा चुका है, अतः यहां किसके कितने बंधादि स्थान होते हैं, इसका निर्देश मात्र किया है।

तेरह और नौ प्रकृतिक बंधस्थान के रहते पांच-पांच सत्तास्था होते हैं—'तेर नवबंधगेसु पंचेव ठाणाइं'। वे पांच सत्तास्थान २८, २ २३, २२ और २१ प्रकृतिक होते हैं। पहले तेरह प्रकृतिक बंधस्थान सत्तास्थानों को स्पष्ट करते हैं।

तेरह प्रकृतियों का बंध देशविरतों को होता है और देशविर दो प्रकार के होते हैं—तिर्यंच और मनुष्य।[1] तिर्यंच देशविरतों

---

१ तत्र त्रयोदशबन्धका देशविरताः ते च द्विधा—तिर्यंचो मनुष्याश्च।
—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १

उनके चारों ही उदयस्थानों में २८ और २४ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान होते हैं। २८ प्रकृतिक सत्तास्थान तो उपशम सम्यग्दृष्टि और वेदक सम्यग्दृष्टि, इन दोनों प्रकार के ही तिर्यंच देशविरतों के होता है। उसमें भी जो प्रथमोपशम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने के समय ही देशविरति को प्राप्त कर लेता है, उसी देशविरत के उपशम सम्यक्त्व के रहते हुए २८ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। क्योंकि अन्तरकरण काल में विद्यमान कोई भी औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव देशविरत को प्राप्त करता है और कोई मनुष्य सर्वविरत को भी प्राप्त करता है, ऐसा नियम है। जैसाकि शतक बृहच्चूर्णि में कहा भी है—

उवसमसम्मद्दिट्ठी अन्तरकरणे ठिओ कोई देसविरइं कोई एमत्तापमत्तभावं पि गच्छइ, सासायणो पुण न किमवि लहई।

अर्थात् अन्तरकरण में स्थित कोई उपशम सम्यग्दृष्टि जीव देशविरति को प्राप्त होता है और कोई प्रमत्तसंयम और अप्रमत्तभाव को भी प्राप्त होता है, परन्तु सासादन सम्यग्दृष्टि जीव इनमें से किसी को भी प्राप्त नहीं होता है।

इस प्रकार उपशम सम्यग्दृष्टि जीव को देशविरति गुणस्थान की प्राप्ति के बारे में बताया कि वह कैसे प्राप्त होता है। किन्तु वेदक सम्यक्त्व के साथ देशविरति होने में कोई विशेष बाधा नहीं है। जिससे देशविरति गुणस्थान में वेदक सम्यग्दृष्टि के २८ प्रकृतिक सत्तास्थान बन ही जाता है। किन्तु २४ प्रकृतिक सत्तास्थान अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करने वाले तिर्यंचों के होता है, और वे वेदक सम्यग्दृष्टि होते हैं। क्योंकि तिर्यंचगति में औपशमिक सम्यग्दृष्टि[1] के

---

१ जयधवला टीका में स्वामी का निर्देश करते समय चारों गतियों के जीवों को २४ प्रकृतिक सत्तास्थान का स्वामी बतलाया है। इसके अनुसार प्रत्येक गति का उपशम सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना कर सकता है। कर्मप्रकृति के उपशमना प्रकरण गा० ३१ से भी इसी मत की पुष्टि होती है। यहाँ चारों गति के जीवों को अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करने वाला बताया है।

२४ प्रकृतिक सत्तास्थान की प्राप्ति संभव नहीं है। इन दो सत्तास्थानों के अतिरिक्त तिर्यंच देशविरत के शेष २३ आदि सब सत्तास्थान नहीं होते हैं, क्योंकि वे क्षायिक सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाले जीवों के ही होते हैं और तिर्यंच क्षायिक सम्यग्दर्शन को उत्पन्न नहीं करते हैं। इसे तो केवल मनुष्य ही उत्पन्न करते हैं।[1]

तेईस प्रकृतिक आदि सत्तास्थान तिर्यंचों के नहीं मानने को लेकर जिज्ञासु प्रश्न पूछता है—

"अथ मनुष्याः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पाद्य यदा तिर्यक्षूत्पद्यन्ते तदा तिरश्चोऽप्येकविंशतिः प्राप्यत एव, तत् कथमुच्यते शेषाणि त्रयोविंशत्यादीनि सर्वाण्यपि न सम्भवन्ति ? इति तद् अयुक्तम्, यतः क्षायिकसम्यग्दृष्टिस्तिर्यक्षु न संख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समुत्पद्यते, किन्त्वसंख्येयवर्षायुष्केषु, न च तत्र देशविरतिः, तदभावाच्च न त्रयोविंशतिकत्वम्। अत्र त्रयोविंशतिके सत्तास्थानानि विद्यमानानि वर्तन्ते तत एकविंशतिरपि त्रयोविंशतिके तिर्यक्षु न प्राप्यते।

प्रश्न—यह ठीक है कि तिर्यंचों के २३ प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं होता है, तथापि जब मनुष्य क्षायिक सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करते हुए या उत्पन्न करके तिर्यंचों में उत्पन्न होते हैं तब तिर्यंचों के भी २२ और २१ प्रकृतिक सत्तास्थान पाये जाते हैं। अतः यह कहना युक्त नहीं है कि तिर्यंचों के २३ आदि प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं होते हैं।

उत्तर—यद्यपि यह ठीक है कि क्षायिक सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाला २२ प्रकृतिक सत्ता वाला जीव या क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव मर कर तिर्यंचों में उत्पन्न होता है, किन्तु यह जीव संख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंचों में उत्पन्न न होकर असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंचों

---

१ शेषाणि तु सर्वाण्यपि त्रयोविंशत्यादीनि सत्तास्थानानि तिरश्चां न सम्भवन्ति, तानि हि क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयतः प्राप्यन्ते, न च तिर्यंचः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयन्ति, किन्तु मनुष्या एव।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७३

में ही उत्पन्न होता है और उनके देशविरति नहीं होती है और देशविरति के न होने से उनके तेरह प्रकृतिक बंधस्थान नहीं पाया जाता है। परन्तु यहाँ तेरह प्रकृतिक बंधस्थान में सत्तास्थानों का विचार किया जा रहा है। अतः ऊपर जो यह कहा गया है कि तिर्यंचों के २३ आदि प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं होते हैं, वह १३ प्रकृतिक बंधस्थान की अपेक्षा से ठीक ही कहा गया है। चूर्णि में भी कहा है—

एगवीसा तिरिक्खेसु संखयाऽसंखएसु न संभवइ। कहं ?. भण्णइ—संखेज्जवासाउएसु तिरिक्खेसु खाइगसम्मद्दिट्ठी न उववज्जइ असंखेज्जवासाउएसु उववज्जेज्जा, तस्स देसविरई नत्थि।

अर्थात्—तिर्यंच संयतासंयतों के २१ प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं होता, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंचों में उत्पन्न नहीं होता है। असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यंचों में उत्पन्न होता है, किन्तु वहाँ उनके देशविरति नहीं होती है।

इस प्रकार से तिर्यंचों की अपेक्षा विचार करने के बाद अब मनुष्यों की अपेक्षा विचार करते हैं।

जो देशविरत मनुष्य हैं, उनके पाँच प्रकृतिक उदयस्थान के रहते २८, २४ और २१ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान होते हैं। छह प्रकृतिक और सात प्रकृतिक उदयस्थान के रहते प्रत्येक में २८, २४, २३, २२ और २१ प्रकृतिक, ये पाँच सत्तास्थान होते हैं। आठ प्रकृतिक उदयस्थान के रहते २८, २४, २३ और २२ प्रकृतिक ये चार सत्तास्थान होते हैं। उदयस्थानगत प्रकृतियों को ध्यान में रखने से इनके कारणों का निश्चय सुगमतापूर्वक हो जाता है। अर्थात् जैसे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में कथन किया गया है, वैसे ही यहाँ भी समझ लेना चाहिये। अतः अलग से कथन न करके किस उदयस्थान में कितने सत्तास्थान होते हैं, इसका सिर्फ संकेतमात्र किया गया है।

नौ प्रकृतिक बंधस्थान प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत जीवों के होता है। इनके ४, ५, ६ और ७ प्रकृतिक, ये चार उदयस्थान होते हैं। चार प्रकृतिक उदयस्थान के रहते २८, २४ और २१ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान होते हैं। क्योंकि यह उदयस्थान उपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि को ही प्राप्त होता है। पाँच प्रकृतिक और छह प्रकृतिक उदयस्थान के रहते पाँच-पाँच सत्तास्थान होते हैं। क्योंकि ये उदयस्थान तीनों प्रकार के सम्यग्दृष्टियों—औपशमिक, क्षायिक और वेदक को संभव हैं। किन्तु सात प्रकृतिक उदयस्थान वेदक सम्यग्दृष्टियों के संभव होने से यहाँ २१ प्रकृतिक सत्तास्थान संभव न होकर शेष चार ही सत्तास्थान होते हैं।[1]

'पंचाहिह चउविहेसु छ छक्क'—पाँच प्रकृतिक और चार प्रकृतिक बंधस्थान में छह-छह सत्तास्थान होते हैं। अर्थात् पाँच प्रकृतिक बंधस्थान के छह सत्तास्थान हैं और चार प्रकृतिक बंधस्थान के भी छह सत्तास्थान हैं। लेकिन दोनों के सत्तास्थानों की प्रकृतियों की संख्या में अन्तर है जिनका स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है।

सर्वप्रथम पाँच प्रकृतिक बंधस्थान के सत्तास्थानों को बतलाते हैं। पाँच प्रकृतिक बंधस्थान के छह सत्तास्थानों की संख्या इस प्रकार है—२८, २४, २१, १३, १२ और ११।[2] इनका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

---

१ एवं नवबंधकानामपि प्रमत्ताऽप्रमत्तानां प्रत्येकं चतुष्कोदये त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च। पंचकोदये षट्कोदये च प्रत्येकं पंच पंच सत्तास्थानानि। सप्तोदये त्वेकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि सत्तास्थानानि वाच्यानि।

सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७४

२ तत्र पंचविधे बन्धे अमूनि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश च। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७४

पाँच प्रकृतिक बंधस्थान उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि में अनिवृत्तिबादर जीवों के पुरुषवेद के बंधकाल तक होता है और पुरुषवेद के बंध के समय तक छह नोकषायों की सत्ता पाई जाती है, अतः पाँच प्रकृतिक बंधस्थान में पाँच आदि सत्तास्थान नहीं पाये जाते हैं।[1] अब रहे शेष सत्तास्थान सो उपशमश्रेणि की अपेक्षा यहाँ २८, २४ और २१ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान पाये जाते हैं। २८ और २४ प्रकृतिक सत्तास्थान तो उपशम सम्यग्दृष्टि को उपशमश्रेणि में और २१ प्रकृतिक सत्तास्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि को उपशमश्रेणि में पाया जाता है।[2] क्षपकश्रेणि में भी जब तक आठ कषायों का क्षय नहीं होता तब तक २१ प्रकृतिक सत्तास्थान पाया जाता है। अर्थात् उपशमश्रेणि की अपेक्षा २८, २४ और २१ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान होते हैं, लेकिन इतनी विशेषता है कि २८ और २४ प्रकृतिक सत्तास्थान तो उपशम सम्यग्दृष्टि जीव को ही उपशमश्रेणि में होते हैं, किन्तु २१ प्रकृतिक सत्तास्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव को उपशमश्रेणि में भी होता है और क्षपकश्रेणि में भी आठ कषायों के क्षय न होने तक पाया जाता है।[3]

---

१ पंचादीनि तु सत्तास्थानानि पंचविधबन्धे न प्राप्यन्ते, यतः पंचविधबन्धः पुरुषवेदे बध्यमाने भवति, यावच्च पुरुषवेदस्य बंधस्तावत् षड् नोकषायाः सन्त एवेति।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७४

२ तत्राष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिश्चौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्याम्। एकविंशतिरुपशमश्रेण्यां क्षायिकसम्यग्दृष्टेः।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७४

३ क्षपकश्रेण्यां पुनरष्टौ कषाया यावद् न क्षीयन्ते तावदेकविंशतिः।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७४

क्षपकश्रेणि में १३, १२ और ११ प्रकृतिक सत्तास्थान तो होते ही हैं और उनके साथ २१ प्रकृतिक सत्तास्थान को और मिला देने पर क्षपकश्रेणि में २१, १३, १२ और ११, ये चार सत्तास्थान होते हैं। आठ कषायों के क्षय न होने तक २१ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है और आठ कषायों के क्षय हो जाने पर १३ प्रकृतिक सत्तास्थान। इसमें से नपुंसक वेद का क्षय हो जाने पर १२ प्रकृतिक तथा बारह प्रकृतिक सत्तास्थान में से स्त्रीवेद का क्षय हो जाने पर ११ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है।

इस प्रकार पाँच प्रकृतिक बन्धस्थान में २८, २४, २१, १३, १२ और ११ प्रकृतिक, ये छह सत्तास्थान होते हैं। अब चार प्रकृतिक बन्धस्थान के छह सत्तास्थानों को स्पष्ट करते हैं।

चार प्रकृतिक बन्धस्थान में २८, २४, २१, ११, ५ और ४ प्रकृतिक, ये छह सत्तास्थान होते हैं।[1] चार प्रकृतिक बन्धस्थान भी उपशम-श्रेणि और क्षपकश्रेणि दोनों में होता है। उपशमश्रेणि में पाये जाने वाले २८, २४ और २१ प्रकृतिक सत्तास्थानों का पहले जो स्पष्टीकरण किया गया, वैसा यहाँ भी समझ लेना चाहिए। अब रहा क्षपकश्रेणि का विचार, सो उसके लिये यह नियम है कि जो जीव नपुंसकवेद के उदय के साथ क्षपकश्रेणि पर चढ़ता है, वह नपुंसकवेद और स्त्री-वेद का क्षय एक साथ करता है और इसके साथ ही पुरुषवेद का बन्धविच्छेद हो जाता है। तदनन्तर इसके पुरुषवेद और हास्यादि षट्क का एक साथ क्षय होता है। यदि कोई जीव स्त्रीवेद के उदय

---

१ चतुर्विधबन्धे पुनरमुनि षट् सत्तास्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः, चतुर्विंशतिः एकविंशतिः, एकादश, पंच, चतस्रः।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, प्र० १७४

के साथ क्षपकश्रेणि पर चढ़ता है तो वह जीव पहले नपुंसक वेद का क्षय करता है, तदनन्तर अन्तर्मुहूर्त काल में स्त्रीवेद का क्षय करता है, फिर पुरुषवेद और हास्यादि षट्क का एक साथ क्षय होता है। किन्तु इसके भी स्त्रीवेद की क्षपणा के समय पुरुषवेद का बंधविच्छेद हो जाता है। इस प्रकार स्त्रीवेद और नपुंसकवेद के उदय से क्षपकश्रेणि पर चढ़े हुए जीव के या तो स्त्रीवेद की क्षपणा के अन्तिम समय में या स्त्रीवेद और नपुंसकवेद की क्षपणा के अंतिम समय में पुरुषवेद का बन्धविच्छेद हो जाता है, जिससे इस जीव के चार प्रकृतिक बंधस्थान में वेद के उदय के बिना एक प्रकृति का उदय रहते ग्यारह प्रकृतिक सत्तास्थान प्राप्त होता है तथा यह जीव पुरुषवेद और हास्यादि षट्क का क्षय एक साथ करता है। अतः इसके पाँच प्रकृतिक सत्तास्थान प्राप्त न होकर चार प्रकृतिक सत्तास्थान प्राप्त होता है। किन्तु जो जीव पुरुषवेद के उदय से क्षपकश्रेणि पर चढ़ता है, उसके छह नोकषायों के क्षय होने के समय ही पुरुषवेद का बंधविच्छेद होता है, जिससे उसके चार प्रकृतिक बंधस्थान में ग्यारह प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं होता किन्तु पांच प्रकृतिक सत्तास्थान प्राप्त होता है। इसके यह सत्तास्थान दो समय कम दो आवली काल तक रहकर,[1] अनन्तर अन्तर्मुहूर्त काल तक चार प्रकृतिक सत्तास्थान प्राप्त होता है।

---

१ कषायप्राभृत की चूर्णि में पाँच प्रकृतिक सत्तास्थान का जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकार का काल एक समय कम दो आवली प्रमाण बतलाया है—

"पंचण्हं विहत्तिओ केवचिरं कालादो ?. जहण्णुक्कस्सेण दो आवलियाओ समयूणाओ ।।"

इस प्रकार चार प्रकृतिक बंधस्थान में २८, २४, २१, ११, ५ और ४ प्रकृतिक, ये छह सत्तास्थान होते हैं, यह सिद्ध हुआ।[1]

तीन, दो और एक प्रकृतिक बंधस्थानों में से प्रत्येक में पांच-पांच सत्तास्थान होते हैं—'सेसेसु जाण पंचेव पत्तेयं पत्तेयं'। जिनका स्पष्टीकरण करते हैं।

तीन प्रकृतिक बंधस्थान के पांच सत्तास्थान इस प्रकार हैं—२८, २४, २१, ४ और ३ प्रकृतिक। यह तो सर्वत्र सुनिश्चित है कि उपशमश्रेणि की अपेक्षा प्रत्येक बंधस्थान में २८, २४ और २१ प्रकृतिक सत्तास्थान होते हैं, अतः शेष रहे ४ और ३ प्रकृतिक सत्तास्थान क्षपकश्रेणि की अपेक्षा समझना चाहिये। अतः अब क्षपकश्रेणि की अपेक्षा यहाँ विचार करना है। इस सम्बन्ध में ऐसा नियम है कि संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति एक आवलिका प्रमाण शेष रहने पर बंध, उदय और उदीरणा, इन तीनों का एक साथ विच्छेद हो जाता है और तदनन्तर तीन प्रकृतिक बंध होता है, किन्तु उस समय संज्वलन क्रोध के एक आवलिका प्रमाण स्थितिगत दलिक को और दो समय कम दो आवली प्रमाण समयप्रबद्ध को छोड़कर अन्य सबका क्षय हो जाता है। यद्यपि यह भी दो समय कम दो आवली प्रमाण काल के द्वारा क्षय को प्राप्त

---

१ गो० कर्मकांड गा० ६२३ में चार प्रकृतिक बंधस्थान में दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक ये दो उदयस्थान तथा २८, २४, २१, १३, १२, ११, ५ और ४ प्रकृतिक, ये आठ सत्तास्थान बतलाये हैं। इसका कारण बताते हुए गा० ४८४ में लिखा है कि जो जीव स्त्रीवेद व नपुंसकवेद के साथ श्रेणि पर चढ़ता है, उसके स्त्रीवेद या नपुंसक वेद के उदय के द्विचरम समय में पुरुषवेद का बंधविच्छेद हो जाता है। इसी कारण कर्मकांड में चार प्रकृतिक बंधस्थान के समय १३ और १२ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान और बताये हैं।

होगा किन्तु जब तक क्षय नहीं हुआ तब तक तीन प्रकृतिक बंधस्थान में चार प्रकृतिक सत्तास्थान पाया जाता है और इसके क्षय हो जाने पर तीन प्रकृतिक बंधस्थान में तीन प्रकृतिक सत्तास्थान पाया जाता है, जो अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है।

इस प्रकार तीन प्रकृतिक बंधस्थान में २८, २४, २१, ४ और ३ प्रकृतिक, ये पांच सत्तास्थान होते हैं। द्विप्रकृतिक बंधस्थान में पाँच सत्तास्थान इस प्रकार हैं--२८, २४, २१, ३ और २ प्रकृतिक। संज्वलन मान की भी इसी प्रकार प्रथम स्थिति एक आवली प्रमाण शेष रहने पर बंध, उदय और उदीरणा, इन तीनों का एक साथ विच्छेद हो जाता है, उस समय दो प्रकृतिक बंधस्थान प्राप्त होता है, पर उस समय संज्वलन मान के एक आवली प्रमाण प्रथम स्थितिगत दलिक को और दो समय कम दो आवली प्रमाण समयप्रबद्ध को छोड़कर अन्य सब का क्षय हो जाता है। यद्यपि वह शेष सत्कर्म दो समय कम दो आवली प्रमाण काल के द्वारा क्षय को प्राप्त होगा किन्तु जब तक इसका क्षय नहीं हुआ, तब तक दो प्रकृतिक बंधस्थान में तीन प्रकृतिक सत्तास्थान पाया जाता है। पश्चात् इसके क्षय हो जाने पर दो प्रकृतिक बंधस्थान में दो प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

इस प्रकार दो प्रकृतिक बंधस्थान में २८, २४, २१, ३ और २ प्रकृतिक, ये पांच सत्तास्थान होते हैं।

एक प्रकृतिक बंधस्थान में होने वाले पाँच सत्तास्थान इस प्रकार हैं—२८, २४, २१, २ और १ प्रकृतिक। इनमें से २८, २४ और २१ प्रकृतिक सत्तास्थान तो उपशमश्रेणि की अपेक्षा समझ लेना चाहिये। शेष २ और १ प्रकृतिक सत्तास्थानों का विवरण इस प्रकार है कि इसी तरह संज्वलन माया की प्रथम स्थिति एक आवली प्रमाण शेष रहने पर बंध, उदय और उदीरणा का एक साथ विच्छेद हो जाता है और

उसके बाद एक प्रकृतिक बंध होता है, परन्तु उस समय संज्वलन माया के एक आवली प्रमाण प्रथम स्थितिगत दलिक को और दो समय कम दो आवली प्रमाण समयप्रबद्ध को छोड़कर शेष सबका क्षय हो जाता है। यद्यपि यह शेष सत्कर्म भी दो समय कम दो आवली प्रमाण काल के द्वारा क्षय को प्राप्त होगा, किन्तु जब तक इसका क्षय नहीं हुआ तब तक एक प्रकृतिक बंधस्थान में दो प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है। पश्चात् इसका क्षय हो जाने पर एक प्रकृतिक बंधस्थान में सिर्फ एक संज्वलन लोभ की सत्ता रहती है।

इस प्रकार एक प्रकृतिक बंधस्थान में २८, २४, २१, २ और १ प्रकृतिक, ये पाँच सत्तास्थान होते हैं। अब बंध के अभाव में भी विद्यमान सत्तास्थानों का विचार करते हैं। इसके लिये गाथा में कहा गया है—'चत्तारि य बंधवोच्छेए'—अर्थात् बंध के अभाव में चार सत्तास्थान होते हैं। वे चार सत्तास्थान इस प्रकार हैं—२८, २४, २१ और १ प्रकृतिक। बंध का अभाव दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में होता है। जो उपशमश्रेणि पर चढ़कर सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान को प्राप्त होता है, यद्यपि उसको मोहनीय कर्म का बंध तो नहीं होता, किन्तु उसके २८, २४ और २१ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान संभव हैं तथा जो क्षपकश्रेणि पर आरोहण करके सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान को प्राप्त करता है, उसके संज्वलन लोभ की सत्ता पाई जाती है। इसीलिये बंध के अभाव में २८, २४, २१ और १ प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान माने जाते हैं।[1]

इस प्रकार से मोहनीय कर्म के बंध, उदय और सत्तास्थानों के संवेध भंगों का निर्देश किया गया। उनके समस्त विवरण का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

---

१ बन्धाभावे सूक्ष्मसम्परायगुणस्थाने चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा—अष्टाविंशतिः चतुर्विंशतिः एकविंशतिः एका च। तत्राद्यानि त्रीणि प्रागिवोपशमश्रेण्याम्। एका तु संज्वलनलोभरूपा प्रकृतिः क्षपकश्रेण्याम्।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७१

गुण-स्थान	बंध-स्थान	भंग	उदयस्थान		उदय चौवीसी		उदयभंग		उदयपद		उदय पद-वृन्द संख्या		सत्तास्थान	
				जोड़		जोड़		जोड़		जोड़		जोड़		
१	२२	६	७		१		२४		७		१६८		१	२८
			८	४	३	८	७२	१९२	२४	६८	५७६	१६३२	३	२८, २७, २६
			९		३		७२		२७		६४८		३	२८, २७, २६
			१०		१		२४		१०		२४०		३	२८, २७, २६
२	२१	४	७		१		२४		७		१६८		१	२८
			८	३	२	४	४८	९६	१६	३२	३८४	७६८	१	२८
			९		१		२४		९		२१६		१	२८
३–४	१७	२	६		१		२४		६		१४८		३	२८, २४, २१
			७	४	४	१२	९६		२८		६७२		६	२८, २७, २४, २३, २२, २१
			८		५		१२०	२८८	४०	९२	९६०	२२०८	६	२८,२७,२४,२३,२२,२१
			९		२		४८		१८		४३२		५	२८,२७,२४,२३,२२
५	१३	२	५		१		२४		५		१२०		३	२८, २४, २१
			६	४	३	८	७२	१९२	१८	५२	४३२	१२४८	५	२८,२४,२३,२२,२१
			७		३		७२		२१		५०४		५	२८,२४,२३,२२,२१
			८		२		२४		८		१९२		४	२८, २४, २३, २२
६ ७ ८	९	२	४		१		२४		४		९६		३	२८, २४, २१
			५	४	३	८	७२	१९२	१५	४४	३६०	१०५६	५	२८,२४,२३,२२,२१
			६		३		७२		१८		४३२		५	२८,२४,२३,२२,२१
			७		१		२४		७		१६८		४	२८, २४, २३, २२

गुण-स्थान	बंध-स्थान	भंग	उदयस्थान	जोड़	उदय चौबीसी	जोड़	उदयभंग	जोड़	उदयपद	जोड़	उदय पद-वृन्द संख्या	जोड़	सत्तास्थान	
९	५	१	२	१	×	×	१२	१२	×	×	२४	२४	६	२८,२४,२१,१३,१२,११
,,	४	१	१	×	×	×	४	४	×	×	४	४	६	२८, २४, २१, ११, ५,४
,,	३	१	१	×	×	×	३	३	×	×	३	३	५	२८, २४, २१, ४, ३
,,	२	१	१	×	×	×	२	२	×	×	२	२	५	२८, २४, २१, ३, २
,,	१	१	१	×	×	×	१	१	×	×	१	१	५	२८, २४, २१, २, १
१०	०	०	१	×	×	×	१	१	×		१	१	४	२८, २४, २१, १
११	०	×	०	×	×	×	×	×	×	×	×	×	३	२८, २४, २१
कुल जोड़		२१		२५		४०		९८३		२८८		६९४७	१०१	

नोट—जिन आचार्यों का मत है कि चार प्रकृतिक बंधस्थान में दो और एक प्रकृतिक उदयस्थान होता है, उनके मत से १२ उदयपद और २४ उदयपदवृन्द बढ़कर उनकी संख्या क्रम से ९९५ और ६९७१ हो जाती है।

अब मोहनीय कर्म के कथन का उपसंहार करके नामकर्म को कहने की प्रतिज्ञा करते हैं।

दसनवपन्नरसाइं बंधोदयसन्तपयडिठाणाइं।
भणियाइं मोहणिज्जे इत्तो नामं परं वोच्छं ॥२३॥[1]

शब्दार्थ—दसनवपन्नरसाइं—दस, नौ और पन्द्रह, बंधोदयसन्तपयडिठाणाइं—बंध, उदय और सत्ता प्रकृतियों के स्थान, भणियाइं—कहे, मोहणिज्जे—मोहनीय कर्म के, इत्तो—इससे, नामं—नामकर्म के, परं—आगे, वोच्छं—कहते हैं।

गाथार्थ—मोहनीय कर्म के बंध, उदय और सत्ता प्रकृतियों के स्थान क्रमशः दस, नौ और पन्द्रह कहे। अब आगे नामकर्म का कथन करते हैं।

विशेषार्थ—मोहनीय कर्म के बन्ध, उदय और सत्तास्थानों के कथन का उपसंहार करते हुए गाथा में संकेत किया गया है कि मोहनीय कर्म के बंधस्थान दस, उदयस्थान नौ और सत्तास्थान पन्द्रह होते हैं। जिनमें और जिनके संवेध भंगों का कथन किया जा चुका है। अब आगे की गाथा से नामकर्म के बंध, उदय और सत्ता के संवेध भंगों का कथन प्रारम्भ करते हैं।

नामकर्म

सबसे पहले नामकर्म के बंधस्थानों का निर्देश करते हैं—

तेवीस पण्णवीसा छव्वीसा अट्ठवीस गुणतीसा।
तीसेगतीसमेक्कं बंधट्ठाणाणि नामस्स ॥२४॥[2]

---

१ तुलना कीजिए—
दसणवपण्णरसाइं बंधोदय सत्तपयडिठाणाणि।
भणिदाणि मोहणिज्जे एत्तो णामं परं वोच्छं ॥ गो० कर्मकांड ५१८

२ तुलना कीजिए—
(क) णामस्स कम्मस्स अट्ठ ट्ठाणाणि एक्कतीसाए तीसाए एगूणतीसाए अट्ठवीसाए छव्वीसाए पणुवीसाए तेवीसाए एक्किस्से ट्ठाणं चेदि।
जीव० चू० ठा०, सू० ६०

शब्दार्थ—तेवीस—तेईस, पण्णवीसा—पच्चीस, छब्बीसा—छब्बीस, अट्ठवीस—अट्ठाईस, गुणतीसा—उनतीस, तीसेगतीसं—तीस, इकतीस, एक्कं—एक, बंधट्ठाणाणि—बंधस्थान, नामस्स—नामकर्म के।

गाथार्थ—नामकर्म के तेईस, पच्चीस, छब्बीस, अट्ठाईस, उनतीस, तीस, इकतीस और एक प्रकृतिक, ये आठ बंधस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में नामकर्म के आठ बंधस्थान होने के साथ-साथ वे स्थान कितने प्रकृतिक संख्या वाले हैं, इसका संकेत किया गया है कि वे बंधस्थान १. तेईस प्रकृतिक, २. पच्चीस प्रकृतिक, ३. छब्बीस प्रकृतिक, ४. अट्ठाईस प्रकृतिक, ५. उनतीस प्रकृतिक, ६. तीस प्रकृतिक, ७. इकतीस प्रकृतिक और ८. एक प्रकृतिक हैं।

वैसे तो नामकर्म की उत्तर प्रकृतियाँ तिरानवे हैं। किन्तु इन सबका एक साथ किसी भी जीव को बंध नहीं होता है, अतएव उनमें से कितनी प्रकृतियों का एक साथ बंध होता है, इसका विचार आठ बंधस्थानों के द्वारा किया गया है। इनमें भी कोई तिर्यंचगति के, कोई मनुष्यगति के, कोई देवगति के और कोई नरकगति के योग्य बंधस्थान हैं और इसमें भी इनके अनेक अवान्तर भेद हो जाते हैं। जिससे इन अवान्तर भेदों के साथ उनका विचार यहाँ करते हैं।

तिर्यंचगति में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव होते हैं।

(अ) तेवीसा पणुवीसा छब्बीसा अट्ठवीस गुणतीसा।
तीसेगतीस एमो बंधट्ठाणाइ नामेऽट्ठ॥
—पंच० सप्ततिका, गा० ५५

(ब) तेवीसं पणवीसं छव्वीसं अट्ठवीसमुगतीसं।
तीसेक्कतीसमेवं एक्को बंधो दुसेढिम्मि॥
—गो० कर्मकांड, गा० ५२१

तिर्यंचगति के योग्य बंध करने वाले जीवों के सामान्य से २३, २५, २६, २९ और ३० प्रकृतिक पाँच बंधस्थान होते हैं।[1] उनमें से भी एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों का बंध करने वाले जीवों के २३, २५ और २६ प्रकृतिक, ये तीन बंधस्थान होते हैं।[2]

उनमें से २३ प्रकृतिक बंधस्थान में तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, हुंड-संस्थान, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात नाम, स्थावर नाम, सूक्ष्म और बादर में से कोई एक, अपर्याप्त नाम, प्रत्येक और साधारण इनमें से कोई एक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण, इन तेईस प्रकृतियों का बंध होता है। इन तेईस प्रकृतियों के समुदाय को तेईस प्रकृतिक बंधस्थान कहते हैं और यह बंधस्थान अपर्याप्त एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों का बंध करने वाले मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्य को होता है।

यहाँ चार भंग प्राप्त होते हैं। ऊपर बताया है कि बादर और सूक्ष्म में से किसी एक का तथा प्रत्येक और साधारण में से किसी एक का बंध होता है। अतः यदि किसी ने एक बार बादर के साथ प्रत्येक का और दूसरी बार बादर के साथ साधारण का बंध किया। इसी

१—(क) तत्र तिर्यग्गतिप्रायोग्यं बध्नतः सामान्येन पंच बंधस्थानानि, तद्यथा त्रयोविंशतिः पंचविंशतिः षड्विंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७६

(ख) तिरिक्खगदिणामाए पंचट्ठाणाणि तीसाए एगूणतीसाए छव्वीसाए पणुवीसाए तेवीसाए ट्ठाणं चेदि।

—जी० चू०, ठा०, सू० ६२

२ तत्राप्येकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतस्त्रीणि बन्धस्थानानि, तद्यथा—त्रयोविंशतिः पंचविंशतिः षड्विंशतिः।

सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७६

प्रकार किसी ने एक बार सूक्ष्म के साथ साधारण का बंध किया और दूसरी बार सूक्ष्म के साथ प्रत्येक का बंध किया तो इस प्रकार तेईस प्रकृतिक बंधस्थान में चार भंग हो जाते हैं।

पच्चीस प्रकृतिक बंधस्थान में तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, हुंडसंस्थान, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, स्थावर, बादर और सूक्ष्म में से कोई एक, पर्याप्त, प्रत्येक और साधारण में से कोई एक, स्थिर और अस्थिर में से कोई एक, शुभ और अशुभ में से कोई एक, यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से कोई एक, दुर्भग, अनादेय और निर्माण, इन पच्चीस प्रकृतियों का बंध होता है। इन पच्चीस प्रकृतियों के समुदाय को एक पच्चीस प्रकृतिक बंधस्थान कहते हैं। यह बंधस्थान पर्याप्त एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों का बंध करने वाले मिथ्यादृष्टि तिर्यंच, मनुष्य और देव के होता है।

इस बंधस्थान में बीस भंग होते हैं। वे इस प्रकार हैं—जब कोई जीव बादर, पर्याप्त और प्रत्येक का बंध करता है, तब उसके स्थिर और अस्थिर में से किसी एक का, शुभ और अशुभ में से किसी एक का तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से किसी एक का बंध होने के कारण आठ भंग होते हैं तथा जब कोई जीव बादर, पर्याप्त और साधारण का बंध करता है, तब उसके यशःकीर्ति का बंध न होकर अयशःकीर्ति का ही बंध होता है—

नो सुहुमतिगेण जसं

अर्थात् सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्त इन तीन में से किसी एक का भी बंध होते समय यशःकीर्ति का बंध नहीं होता है। जिससे यहाँ यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति के निमित्त से बनने

वाले भंग संभव नहीं हैं। अब रहे स्थिर-अस्थिर और शुभ-अशुभ, ये दो युगल। सो इनका विकल्प से बंध संभव है यानी स्थिर के साथ एक बार शुभ का, एक बार अशुभ का तथा इसी प्रकार अस्थिर के साथ भी एक बार शुभ का तथा एक बार अशुभ का बंध संभव है, अतः यहाँ कुल चार भंग होते हैं। जब कोई जीव सूक्ष्म और पर्याप्त का बंध करता है, तब उसके यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति इनमें से एक अयशःकीर्ति का ही बंध होता है किन्तु प्रत्येक और साधारण में से किसी एक का, स्थिर और अस्थिर में से किसी एक का तथा शुभ और अशुभ में से किसी एक का बंध होने के कारण आठ भंग होते हैं। इस प्रकार पच्चीस प्रकृतिक बंधस्थान में ८+४+८=२० भंग होते हैं।

छब्बीस प्रकृतियों के समुदाय को छब्बीस प्रकृतिक बंधस्थान कहते हैं। यह बंधस्थान पर्याप्त और बादर एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों का आतप और उद्योत में से किसी एक प्रकृति के साथ बंध करने वाले मिथ्यादृष्टि तिर्यंच, मनुष्य और देव को होता है। छब्बीस प्रकृतिक बंधस्थान में ग्रहण की गई प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, तैजस, कार्मण शरीर, हुंडसंस्थान, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, स्थावर, आतप और उद्योत में से कोई एक, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर और अस्थिर में से कोई एक, शुभ और अशुभ में से कोई एक, दुर्भग, अनादेय, यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से कोई एक तथा निर्माण।

इस बंधस्थान में सोलह भंग होते हैं। ये भंग आतप और उद्योत में से किसी एक प्रकृति का, स्थिर और अस्थिर में से किसी एक का, शुभ और अशुभ में से किसी एक का तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से किसी एक का बंध होने के कारण बनते हैं। आतप और उद्योत

के साथ सूक्ष्म और साधारण का बंध नहीं होता है। इसलिये यहाँ सूक्ष्म और साधारण के निमित्त से प्राप्त होने वाले भंग नहीं कहे गये हैं।

इस प्रकार एकेन्द्रिय प्रायोग्य २३, २५ और २६ प्रकृतिक, इन तीन बंधस्थानों के कुल भंग ४+२०+१६=४० होते हैं। कहा भी है—

चत्तारि बीस सोलस भंगा एगिंदियाण चत्ताला।

अर्थात् एकेन्द्रिय सम्बन्धी २३ प्रकृतिक बंधस्थान के चार, २५ प्रकृतिक बंधस्थान के बीस और २६ प्रकृतिक बंधस्थान के सोलह भंग होते हैं। ये सब मिलकर चालीस हो जाते हैं।

एकेन्द्रिय प्रायोग्य बंधस्थानों का कथन करने के अनन्तर द्वीन्द्रियों के बंधस्थानों को बतलाते हैं।

द्वीन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों को बाँधने वाले जीव के २५, २९ और ३० प्रकृतिक, ये तीन बंधस्थान होते हैं।[1]

जिनका विवरण इस प्रकार है—पच्चीस प्रकृतियों के समुदाय रूप बंधस्थान को पच्चीस प्रकृतिक बंधस्थान कहते हैं। इस स्थान के बंधक अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों को बाँधने वाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच होते हैं। पच्चीस प्रकृतियों के बंधस्थान की प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, द्वीन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, हुंडसंस्थान, सेवार्त संहनन, औदारिक अंगोपांग, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, त्रस, बादर, अपर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण। यहाँ अपर्याप्त प्रकृति के साथ केवल अशुभ प्रकृतियों का ही बंध होता है शुभ प्रकृतियों का नहीं, जिससे एक ही भंग होता है।

---

१ द्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो बंधस्थानानि त्रीणि, तद्यथा—पंचविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७

उक्त पच्चीस प्रकृतियों में से अपर्याप्त को कम करके पराघात, उच्छ्वास, अप्रशस्त विहायोगति, पर्याप्त और दुःस्वर, इन पाँच प्रकृतियों को मिला देने पर उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान होता है। उनतीस प्रकृतियों का कथन इस प्रकार करना चाहिये—तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, द्वीन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, औदारिक अंगोपांग, हुंडसंस्थान, सेवार्त संहनन, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, अप्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर और अस्थिर में से कोई एक, शुभ और अशुभ में से कोई एक, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से कोई एक, निर्माण। ये उनतीस प्रकृतियाँ उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान में होती हैं। यह बंधस्थान पर्याप्त द्वीन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों को बाँधने वाले मिथ्यादृष्टि जीव को होता है।

इस बंधस्थान में स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ और यशःकीर्ति अयशःकीर्ति, इन तीनों युगलों में से प्रत्येक प्रकृति का विकल्प से बंध होता है, अतः आठ भङ्ग प्राप्त होते हैं।

इन उनतीस प्रकृतियों में उद्योत प्रकृति को मिला देने पर तीस प्रकृतिक बंधस्थान होता है। इस स्थान को भी पर्याप्त द्वीन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों को बाँधने वाला मिथ्यादृष्टि ही बांधता है। यहाँ भी आठ भङ्ग होते हैं। इस प्रकार १+८+८=१७ भङ्ग होते हैं।

त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों को बाँधने वाले मिथ्यादृष्टि जीव के भी पूर्वोक्त प्रकार से तीन-तीन बंधस्थान होते हैं। लेकिन इतनी विशेषता समझना चाहिए कि त्रीन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों में त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों में चतुरिन्द्रिय जाति कहना चाहिए। भङ्ग भी प्रत्येक के सत्रह-सत्रह हैं, अर्थात् त्रीन्द्रिय के सत्रह और चतुरिन्द्रिय के सत्रह भङ्ग होते हैं। इस प्रकार से विकलत्रिक के इक्यावन भङ्ग होते हैं। कहा भी है—

एगऽट्ठ अट्ठ विगलिंदियाण इगवण्ण तिण्हं पि ।

अर्थात्—विकलत्रयों में से प्रत्येक में बंधने वाले जो २५, २९ और ३० प्रकृतिक बंधस्थान हैं, उनमें से प्रत्येक में क्रमशः एक, आठ और आठ भंग होते हैं तथा तीनों के मिलाकर कुल इक्यावन भंग होते हैं।

अब तक एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के तिर्यंचगति के बंधस्थानों का कथन किया गया। अब तिर्यंचगति पंचेन्द्रिय के योग्य बंधस्थानों को बतलाते हैं।

तिर्यंचगति पंचेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों का बन्ध करने वाले जीव के २५, २९ और ३० प्रकृतिक, ये तीन बंधस्थान होते हैं।[1] इनमें से २५ प्रकृतिक बंधस्थान तो वही है जो द्वीन्द्रिय के योग्य पच्चीस प्रकृतिक बंधस्थान बतला आये हैं। किन्तु वहां जो द्वीन्द्रियजाति कही है उसके स्थान पर पंचेन्द्रिय जाति कहना चाहिये। यहाँ एक भंग होता है।

उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान में उनतीस प्रकृतियां इस प्रकार हैं—तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, पंचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, औदारिक अंगोपांग, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, छह संस्थानों में से कोई एक संस्थान, छह संहननों में से कोई एक संहनन, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति में से कोई एक, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर और अस्थिर में से कोई एक, शुभ और अशुभ में से कोई एक, सुभग और दुर्भग में से कोई एक, सुस्वर और दुःस्वर में से कोई एक, आदेय अनादेय में से कोई एक, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में से कोई एक तथा निर्माण। यह बंधस्थान पर्याप्त तिर्यंच पंचेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों को बांधने वाले चारों गति

---

१ तिर्यग्गतिपंचेन्द्रियप्रायोग्यं बन्धतस्त्रीणि बंधस्थानानि, तद्यथा—पंचविंशति; एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७७

के मिथ्यादृष्टि जीव को होता है। यदि इस बंधस्थान का बंधक सासादन सम्यग्दृष्टि होता है तो उसके आदि के पाँच संहननों में से किसी एक संहनन का तथा आदि के पाँच संस्थानों में से किसी एक संस्थान का बंध होता है। क्योंकि हुण्डसंस्थान और सेवार्त संहनन को सासादन सम्यग्दृष्टि जीव नहीं बाँधता है—

हुंडं असंपत्तं व सासणो न बंधइ।

अर्थात्—सासादन सम्यग्दृष्टि जीव हुंडसंस्थान और असंप्राप्त-संहनन को नहीं बाँधता है।

इस उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान में सामान्य से छह संस्थानों में से किसी एक संस्थान का, छह संहननों में से किसी एक संहनन का, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति में से किसी एक विहायोगति का, स्थिर और अस्थिर में से किसी एक का, शुभ और अशुभ में से किसी एक का, सुभग और दुर्भग में से किसी एक का, सुस्वर और दुःस्वर में से किसी एक का, आदेय और अनादेय में से किसी एक का, यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से किसी एक का बंध होता है। अतः इन सब संख्याओं को गुणित कर देने पर—६×६×२×२×२×२×२×२×२=४६०८ भंग प्राप्त होते हैं।

इस स्थान का बंधक सासादन सम्यग्दृष्टि भी होता है, किन्तु उसके पाँच संहनन और पाँच संस्थान का बंध होता है, इसलिये उसके ५×५×२×२×२×२×२×२×२=३२०० भंग प्राप्त होते हैं। किन्तु इनका अन्तर्भाव पूर्वोक्त भंगों में ही हो जाने से इन्हें अलग से नहीं गिनाया है।

उक्त उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान में एक उद्योत प्रकृति को मिला देने पर तीस प्रकृतिक बंधस्थान होता है। जिस प्रकार उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान में मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा

विशेषता है, उसी प्रकार यहाँ भी वही विशेषता समझना चाहिये। यहाँ भी सामान्य से ४६०८ भंग होते हैं—

'गुणतीसे तीसे वि य भंगा अट्ठाहिया छयालसया।
पंचिंदियतिरिजोगे पणवीसे बंधि भंगिक्को॥

अर्थात्—पंचेन्द्रिय तिर्यंच के योग्य उनतीस और तीस प्रकृतिक बंधस्थान में ४६०८ और ४६०८ और पच्चीस प्रकृतिक बंधस्थान में एक भंग होता है।

इस प्रकार पंचेन्द्रिय तिर्यंच के योग्य तीनों बन्धस्थानों के कुल भंग ४६०८+४६०८+१=९२१७ होते हैं।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच के उक्त ९२१७ भंगों में एकेन्द्रिय के योग्य बंधस्थानों के ४०, द्वीन्द्रिय के योग्य बन्धस्थानों के १७, त्रीन्द्रिय के योग्य बंधस्थानों के १७ और चतुरिन्द्रिय के योग्य बंधस्थानों के १७ भंग मिलाने पर तिर्यंचगति सम्बन्धी बंधस्थानों के कुल भंग ९२१७+४०+१७+१७+१७=९३०८ होते हैं।

इस प्रकार से तिर्यंचगति योग्य बंधस्थानों और उनके भंगों को बतलाने के बाद अब मनुष्यगति के बंधस्थानों और उनके भंगों का कथन करते हैं।

मनुष्यगति के योग्य प्रकृतियों को बाँधने वाले जीवों के २५, २९ और ३० प्रकृतिक बंधस्थान होते हैं।[1]

पच्चीस प्रकृतिक बंधस्थान वही है जो अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के योग्य बंध करने वाले जीवों को बतलाया है। किन्तु इतनी विशेषता समझना

---

१ (क) मनुष्यगति प्रायोग्यं बन्धतस्त्रीणि बंधस्थानानि, तद्यथा—पंचविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७८

(ख) मणुसगदिणामाए तिण्णि ट्ठाणाणि तीसाए एगुणतीसाए पणुवीसाए ट्ठाणं चेदि। —जी० चू० ट्ठा०, सूत्र ८४

चाहिये कि यहाँ तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी और द्वीन्द्रिय के स्थान पर मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी और पंचेन्द्रिय कहना चाहिये।

उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान तीन प्रकार का है—एक मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से, दूसरा सासादन सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से और तीसरा सम्यग्मिथ्यादृष्टि या अविरत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से। इनमें से मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि के तिर्यंचप्रायोग्य उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान बताया गया है, उसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिये, किन्तु यहाँ तिर्यंचगतिप्रायोग्य प्रकृतियों के बदले मनुष्यगति के योग्य प्रकृतियों को मिला देना चाहिये।

तीसरे प्रकार के उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान में—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्र संस्थान, वज्रऋषभनाराच संहनन, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर और अस्थिर में से कोई एक, शुभ और अशुभ में से कोई एक, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से कोई एक तथा निर्माण, इन उनतीस प्रकृतियों का बंध होता है। इन तीनों प्रकार के उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान में सामान्य से ४६०८ भंग होते हैं। यद्यपि गुणस्थान के भेद से यहाँ भंगों में भेद हो जाता है, किन्तु गुणस्थान भेद की विवक्षा न करके यहाँ ४६०८ भंग कहे गये हैं।

उक्त उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान में तीर्थंकर नाम को मिला देने पर तीस प्रकृतिक बंधस्थान होता है। इस बंधस्थान में स्थिर और

---

१ एकोनत्रिंशत् त्रिधा—एका मिथ्यादृष्टीन् बंधकानाश्रित्य वेदितव्या, द्वितीया सासादनान्, तृतीया सम्यग्मिथ्यादृष्टीन् अविरतसम्यग्दृष्टीन् वा।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७८

अस्थिर में से किसी एक का, शुभ और अशुभ में से किसी एक का तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से किसी एक का बंध होने से इन सब संख्याओं को गुणित करने पर २×२×२=८ भंग प्राप्त होते हैं। अर्थात् तीस प्रकृतिक बंधस्थान के आठ भंग होते हैं।

इस प्रकार मनुष्यगति के योग्य २५, २९ और ३० प्रकृतिक बंधस्थानों में कुल भंग १+४६०८+८=४६१७ होते हैं—

पणुवीसयम्मि एक्को छायालसया अडुत्तर गुतीसे।
मणुतीसेऽट्ठ उ सव्वे छायालसया उ सत्तरसा॥

अर्थात—मनुष्यगति के योग्य पच्चीस प्रकृतिक बंधस्थान में एक, उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान में ४६०८ और तीस प्रकृतिक बंधस्थान में ८ भंग होते हैं। ये कुल भंग ४६१७ होते हैं।

अब देवगति योग्य बंधस्थानों का कथन करते हैं। देवगति के योग्य प्रकृतियों के बंधक जीवों के २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, ये चार बंधस्थान होते हैं।[1]

अट्ठाईस प्रकृतिक बंधस्थान में—देवगति, देवानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय-जाति, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, पराघात, उपघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर और अस्थिर में से कोई एक, शुभ और अशुभ में से कोई एक, सुभग, आदेय, सुस्वर, यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से कोई एक तथा निर्माण, इन अट्ठाईस प्रकृतियों का बंध होता है। इसीलिये इनके समुदाय को एक बंधस्थान कहते हैं। यह बंधस्थान देवगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करने वाले मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत और सर्वविरत जीवों को होता है।

---

१ देवगतिप्रायोग्यं बध्नतश्चत्वारि बन्धस्थानानि, तद्यथा—अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशद् एकत्रिंशत्। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७६

इस बंधस्थान में स्थिर और अस्थिर में से किसी एक का, शुभ और अशुभ में से किसी एक का तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से किसी एक का बंध होता है। अतः उक्त संख्याओं को परस्पर गुणित करने पर २×२×२=८ भंग प्राप्त होते हैं।

उक्त अट्ठाईस प्रकृतिक बंधस्थान में तीर्थंकर प्रकृति को मिलाने पर उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान होता है। तीर्थंकर प्रकृति का बंध अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानों में होता है। जिससे यह बंधस्थान अविरत सम्यग्दृष्टि आदि जीवों के ही बनता है। यहाँ भी २८ प्रकृतिक बंधस्थान के समान ही आठ भंग होते हैं।

तीस प्रकृतियों के समुदाय को तीस प्रकृतिक बंधस्थान कहते हैं। इस बंधस्थान में ग्रहण की गई प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—देवगति, देवानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, आहारकद्विक वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्र संस्थान, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, शुभ, स्थिर, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति और निर्माण। इसका बंधक अप्रमत्तसंयत या अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती को जानना चाहिये।[1] इस स्थान में सब शुभ कर्मों का बंध होता है, अतः यहाँ एक ही भंग होता है।

तीस प्रकृतिक बंधस्थान में एक तीर्थंकर नाम को मिला देने पर इकतीस प्रकृतिक बंधस्थान होता है। यहाँ भी एक ही भंग होता है। इस प्रकार देवगति के योग्य बंधस्थानों में ८+८+१+१=१८ भंग होते हैं। कहा भी है—

अट्ठट्ठ एक्क एक्कग भंगा अट्ठार देवजोगेसु।

---

१ एतच्च देवगतिप्रायोग्यं बध्नतोऽप्रमत्तसंयतस्याऽपूर्वकरणस्य वा वेदितव्यम्। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७६

अर्थात्—देवगति के योग्य २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक बंधस्थानों में क्रमशः आठ, आठ, एक और एक, कुल अठारह भंग होते हैं।

अभी तक तिर्यंच, मनुष्य और देव गति योग्य बंधस्थानों और उनके भंगों का कथन किया गया। अब नरकगति के बंधस्थानों व उनके भंगों को बतलाते हैं।

नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करने वाले जीवों के एक अट्ठाईस प्रकृतिक बंधस्थान होता है। इसमें अट्ठाईस प्रकृतियाँ होती हैं, अतः उनका समुदाय रूप एक बंधस्थान है। यह बन्धस्थान मिथ्यादृष्टि के ही होता है। इसमें सब अशुभ प्रकृतियों का ही बंध होने से यहाँ एक ही भंग होता है। अट्ठाईस प्रकृतिक बंधस्थान में ग्रहण की गई प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—नरकगति, नरकानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, हुंड संस्थान, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, अप्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण।

इन तेईस आदि उपर्युक्त बंधस्थानों के अतिरिक्त एक और बंधस्थान है जो देवगति के योग्य प्रकृतियों का बंधविच्छेद हो जाने पर अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानों में होता है। इस एक प्रकृतिक बंधस्थान में सिर्फ यशःकीर्ति नामकर्म का बंध होता है।[1]

अब किस बंधस्थान में कुल कितने भंग होते हैं, इसका विचार करते हैं—

---

१ एकं तु बंधस्थानं यशःकीर्तिलक्षणम् तच्च देवगतिप्रायोग्यबन्धे व्यवच्छिन्ने अपूर्वकरणादीनां त्रयाणामवगन्तव्यम्।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १७६

चउ पणवीसा सोलस नव बाणउईसया य अडयाला ।
एयालुत्तर छायालसया एक्केक्क बंधविही ॥२५॥

शब्दार्थ—चउ—चार, **पणवीसा**—पच्चीस, **सोलस**—सोलह, **नव**—नौ, **बाणउईसया**—बानवैसौ, **य**—और, **अडयाला**—अड़तालीस, **एयालुत्तर छायालसया**—छियालीस सौ एकतालीस, **एक्केक्क**—एक-एक, **बंधविही**—बंध के प्रकार, भंग ।

गाथार्थ—तेईस प्रकृतिक आदि बंधस्थानों में क्रम में चार, पच्चीस, सोलह, नौ, बानवैसौ अड़तालीस, छियालीस सौ इकतालीस, एक और एक भंग होते हैं ।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में नामकर्म के बंधस्थानों का विवेचन करके प्रत्येक के भंगों का उल्लेख किया है । परन्तु उनसे प्रत्येक बंधस्थान के समुच्चय रूप से भंगों का बोध नहीं होता है । अतः प्रत्येक बंधस्थान के समुच्चय रूप से भंगों का बोध इस गाथा द्वारा कराया जा रहा है ।

नामकर्म के पूर्व गाथा में २३, २५, २६, २८, २९, ३०, ३१ और १ प्रकृतिक, ये आठ बंधस्थान बतलाये गये हैं और इस गाथा में सामान्य से प्रत्येक बंधस्थान के भंगों की अलग-अलग संख्या बतला दी गई है कि किस बंधस्थान में कितने भंग होते हैं । किन्तु यह स्पष्ट नहीं होता है कि वे किस प्रकार होते हैं । अतः उन भंगों के होने का विचार पूर्व में बताये गये बंधस्थानों के क्रम से करते हैं ।

पहला बंधस्थान तेईस प्रकृतिक है । इस स्थान में चार भंग होते हैं । क्योंकि यह स्थान अपर्याप्त एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों के बांधने वाले जीव के ही होता है, अन्यत्र तेईस प्रकृतिक बंधस्थान नहीं पाया जाता है । इसके चार भंग पहले बता आये हैं । अतः तेईस प्रकृतिक बंधस्थान में वे ही चार भंग जानना चाहिये ।

पच्चीस प्रकृतिक बंधस्थान में कुल पच्चीस भंग होते हैं। क्योंकि एकेन्द्रिय के योग्य पच्चीस प्रकृतियों का बंध करने वाले जीव के बीस भंग होते हैं तथा अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यगति के योग्य पच्चीस प्रकृतियों का बंध करने वाले जीवों के एक-एक भंग होते हैं। अतः पूर्वोक्त बीस भंगों में इन पाँच भंगों को मिलाने पर पच्चीस प्रकृतिक बंधस्थान में कुल पच्चीस भंग होते हैं।

छब्बीस प्रकृतिक बंधस्थान के कुल सोलह भंग हैं। क्योंकि यह एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों का बंध करने वाले जीव के ही होता है और एकेन्द्रियप्रायोग्य छब्बीस प्रकृतिक बंधस्थान में पहले सोलह भंग बता आये हैं, अतः वे ही सोलह भंग इस छब्बीस प्रकृतिक बंधस्थान में जानना चाहिये।

अट्ठाईस प्रकृतिक बंधस्थान में कुल नौ भंग होते हैं। क्योंकि देवगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करने वाले जीव के २८ प्रकृतिक बंधस्थान के आठ भंग होते हैं और नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करने वाले जीव के अट्ठाईस प्रकृतिक बंधस्थान का एक भंग। यह स्थान देव और नारक के सिवाय अन्य जीवों को किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं होता है। अतः इसके कुल नौ भंग होते हैं।

उनतीस प्रकृतिक बंधस्थान के ९२४८ भंग होते हैं। इसका कारण यह है कि तिर्यंच पंचेन्द्रिय के योग्य उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान के ४६०८ भंग होते हैं तथा मनुष्यगति के योग्य उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान के ४६०८ भंग हैं और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय के योग्य एवं तीर्थंकर नाम सहित देवगति के योग्य उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान के आठ-आठ भंग होते हैं। इस प्रकार उक्त सब भंगों को मिलाने पर उनतीस प्रकृतिक बन्धस्थान के कुल भंग ४६०८+४६०८+८+८+८+८+८=९२४८ होते हैं।

तीस प्रकृतिक बन्धस्थान के कुल भंग ४६४१ होते हैं। क्योंकि तिर्यंचगति के योग्य तीस प्रकृतिक बंध करने वाले के ४६०८ भंग होते हैं तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और मनुष्यगति के योग्य तीस प्रकृति का बंध करने वाले जीवों के आठ-आठ भंग हैं और आहारक के साथ देवगति के योग्य तीस प्रकृति का बन्ध करने वाले के एक भंग होता है। इस प्रकार उक्त भंगों को मिलाने पर तीस प्रकृतिक बन्धस्थान के कुल भंग ४६०८+८+८+८+८+१=४६४१ होते हैं।

इकतीस प्रकृतिक और एक प्रकृतिक बन्धस्थान का एक-एक भंग होता है।

इस प्रकार से इन सब बन्धस्थानों के भंग १३९४५ होते हैं। वे इस तरह समझना चाहिये—४+२५+१६+९+९२४८+४६४१+१+१=१३९४५।

नामकर्म के बन्धस्थान और उनके कुल भंगों का विवरण पृष्ठ १५९ की तालिका में देखिये।

नामकर्म के बंधस्थानों का कथन करने के पश्चात् अब उदयस्थानों को बतलाते हैं।

वीसिगवीसा चउवीसगाइ एगाहिया उ इगतीसा।
उदयट्ठाणाणि भवे नव अट्ठ य हुंति नामस्स ॥[1] २६॥

---

१ तुलना कीजिये—

(क) अडनवबीसिगवीसा चउवीसेगहिय जाव इगितीसा।
चउगइएसुं वारस उदयट्ठाणाइं नामस्स ॥
—पंचसंग्रह सप्ततिका, गा० ७३

(ख) बीसं इगिचउवीसं तत्तो इकितीसओ त्ति एयधियं।
उदयट्ठाणा एवं णव अट्ठ य होंति णामस्स ॥
—गो० कर्मकांड, ५९२

क्रम	बंधस्थान	भंग १३९४५	आगामी भवप्रायोग्य	बंधक
१	२३	४	अपर्याप्त एकेन्द्रिय प्रायोग्य ४	तिर्यंच, मनुष्य ४
२	२५	२५	एकेन्द्रिय २०, द्वीन्द्रिय १, त्रीन्द्रिय १, चतुरिन्द्रिय १, पंचेन्द्रिय तिर्यंच १, मनुष्य १	तिर्यंच, मनुष्य २५, देव ८
३	२६	१६	पर्याप्त एकेन्द्रिय प्रायोग्य १६	तिर्यंच, मनुष्य व देव १६
४	२८	९	देवगति प्रायोग्य ८, नरकगति प्रायोग्य १	पंचेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्य ९
५	२९	९२४८	द्वीन्द्रिय ८, त्रीन्द्रिय ८, च. ८, पं० ति. ४६०८, मनुष्य ४६०८, देव ८	तिर्यंच ९२४०, मनुष्य ९२४८, देव ९२१६, ना. ९२१६
६	३०	४६४१	द्वी. ८, त्री. ८, च. ८, पं. ति. ४६०८, मनुष्य ८, देव १	तिर्यंच ४६३२, मनुष्य ४६३३ देव ४६१६, ना. ४६१६
७	३१	१	देव प्रायोग्य १	मनुष्य १
८	१	१	अप्रायोग्य १	मनुष्य १

शब्दार्थ—**वीसिगवीसा**—बीस और इक्कीस का, **चउवीसमाइ**—चौबीस से लेकर, **एगाहिया**—एक-एक अधिक, **य**—और, **इगतीसा**—इकतीस तक, **उदयट्ठाणाणि**—उदयस्थान, **भवे**—होते हैं, **नव अट्ठय**—नौ और आठ प्रकृति का, **हुंति**—होते हैं, **नामस्स**—नामकर्म के।

गाथार्थ—नामकर्म के बीस, इक्कीस और चौबीस से लेकर एक, एक प्रकृति अधिक इकतीस तक तथा आठ और नौ प्रकृतिक, ये बारह उदयस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—नामकर्म के बंधस्थान बतलाने के बाद इस गाथा में उदयस्थान बतलाये हैं। वे उदयस्थान बारह हैं। जिनकी प्रकृतियों की संख्या इस प्रकार है—२०, २१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ८ और ९। इन उदयस्थानों का स्पष्टीकरण तिर्यंच, मनुष्य, देव और नरकगति के आधार से नीचे किया जा रहा है।

नामकर्म के जो बारह उदयस्थान कहे हैं, उनमें से एकेन्द्रिय जीव के २१, २४, २५, २६ और २७ प्रकृतिक, ये पाँच उदयस्थान होते हैं। यहाँ तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, वर्णचतुष्क और निर्माण ये बारह प्रकृतियाँ उदय की अपेक्षा ध्रुव हैं। क्योंकि तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान तक इनका उदय नियम से सबको होता है। इन ध्रुवोदया बारह प्रकृतियों में तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, स्थावर, एकेन्द्रिय जाति, बादर-सूक्ष्म में से कोई एक, पर्याप्त-अपर्याप्त में से कोई एक, दुर्भग, अनादेय तथा यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में से कोई एक, इन नौ प्रकृतियों के मिला देने पर इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह उदयस्थान भव के अपान्तराल में विद्यमान एकेन्द्रिय के होता है।

इस उदयस्थान में पाँच भंग होते हैं, जो इस प्रकार हैं—बादर पर्याप्त, बादर अपर्याप्त, सूक्ष्म पर्याप्त, सूक्ष्म अपर्याप्त, इन चारों

भंगों को अयशःकीर्ति के साथ कहना चाहिये जिससे चार भंग होते हैं तथा बादर पर्याप्त को यशःकीर्ति के साथ कहने पर एक भंग और होता है। इस प्रकार कुल पांच भंग होते हैं। यद्यपि उपर्युक्त २१ प्रकृतियों में विकल्परूप तीन युगल होने के कारण २×२×२=८ भंग होते हैं। किन्तु सूक्ष्म और अपर्याप्त के साथ यशःकीर्ति का उदय नहीं होता है, जिससे तीन भंग कम हो जाते हैं। भव के अपान्तराल में पर्याप्तियों का प्रारम्भ ही नहीं होता, फिर भी पर्याप्त नामकर्म का उदय पहले समय से ही हो जाता है और इसलिये अपान्तराल में विद्यमान ऐसा जीव लब्धि से पर्याप्तक ही होता है, क्योंकि उसके आगे पर्याप्तियों की पूर्ति नियम से होती है।

इन इक्कीस प्रकृतियों में औदारिक शरीर, हुंडसंस्थान, उपघात-तथा प्रत्येक और साधारण इनमें से कोई एक, इन चार प्रकृतियों को मिलाने पर तथा तिर्यंचानुपूर्वी प्रकृति को कम कर देने से शरीरस्थ एकेन्द्रिय जीव के चौबीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ पूर्वोक्त पांच भंगों को प्रत्येक और साधारण से गुणा कर देने पर दस भंग होते हैं तथा वायुकायिक जीव के वैक्रिय शरीर को करते समय औदारिक शरीर के स्थान पर वैक्रिय शरीर का उदय होता है, अतः इसके वैक्रिय शरीर के साथ भी चौबीस प्रकृतियों का उदय और इसके केवल बादर, पर्याप्त, प्रत्येक और अयशःकीर्ति, ये प्रकृतियाँ ही कहना चाहिये, इसलिये इसकी अपेक्षा एक भंग हुआ। तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव के साधारण और यशःकीर्ति का उदय नहीं होता अतः वायुकायिक को इनकी अपेक्षा भंग नहीं बताये हैं। इस प्रकार चौबीस प्रकृतिक उदयस्थान में कुल ग्यारह भंग होते हैं।

अनन्तर शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हो जाने के बाद २४ प्रकृतिक उदयस्थान के साथ पराघात प्रकृति को मिला देने पर २५ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ बादर के प्रत्येक और साधारण तथा यशः-

कीर्ति और अयशःकीर्ति के निमित्त से चार भंग होते हैं तथा सूक्ष्म के प्रत्येक और साधारण की अपेक्षा अयशःकीर्ति के साथ दो भंग होते हैं। जिससे छह भंग तो ये हुए तथा वैक्रिय शरीर को करने वाला बादर वायुकायिक जीव जब शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हो जाता है, तब उसके २४ प्रकृतियों में पराघात के मिलाने पर पच्चीस प्रकृतियों का उदय होता है। इसलिये एक भंग इसका होता है। इस प्रकार पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान में सब मिलकर सात भंग होते हैं।

अनन्तर प्राणापान पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के पूर्वोक्त २५ प्रकृतियों में उच्छ्वास के मिलाने पर छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहां भी पूर्व के समान छह भंग होते हैं। अथवा शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जिस जीव के उच्छ्वास का उदय न होकर आतप और उद्योत में से किसी एक का उदय होता है, उसके छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी छह भंग होते हैं। वे इस प्रकार हैं—आतप और उद्योत का उदय बादर के ही होता है, सूक्ष्म के नहीं, अतः इनमें से उद्योत सहित बादर के प्रत्येक और साधारण तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति, इनकी अपेक्षा चार भंग हुए तथा आतप सहित प्रत्येक के यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति, इनकी अपेक्षा दो भंग हुए। इस प्रकार कुल छह भंग हुए। आतप का उदय बादर पृथ्वीकायिक के ही होता है, किन्तु उद्योत का उदय वनस्पतिकायिक के भी होता है और बादर वायुकायिक के वैक्रिय शरीर को करते समय उच्छ्वास पर्याप्ति से पर्याप्त होने पर २५ प्रकृतियों में उच्छ्वास को मिलाने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। अतः यह एक भंग हुआ। इतनी विशेषता समझना चाहिये कि अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों के आतप, उद्योत और यशःकीर्ति का उदय नहीं होता है। इस प्रकार छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान में कुल १३ भंग होते हैं।

उक्त छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान में प्राणापान पर्याप्ति से पर्याप्त जीव के आतप और उद्योत में से किसी एक प्रकृति के मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी छह भंग होते हैं, जिनका स्पष्टीकरण आतप और उद्योत में से किसी एक प्रकृति के साथ छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान में किया जा चुका है।

इस प्रकार एकेन्द्रिय के पांच उदयस्थानों के कुल भंग ५+११+७+१३+६=४२ होते हैं। इसकी संग्रह गाथा में कहा भी है—

एगिंदियउदएसुं पंच य एक्कार सत्त तेरस या।
छक्कं कमसो भंगा बायला हुंति सव्वे वि॥

अर्थात् एकेन्द्रिय के जो २१, २४, २५, २६ और २७ प्रकृतिक पाँच उदयस्थान बतलाये हैं उनमें क्रमशः ५, ११, ७, १३ और ६ भंग होते हैं और उनका कुल जोड़ ४२ होता है।

इस प्रकार से एकेन्द्रिय तिर्यंचों के उदयस्थानों का कथन करने के बाद अब विकलत्रिक और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के उदयस्थानों को बतलाते हैं।

द्वीन्द्रिय जीवों के २१, २६, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, ये छह उदयस्थान होते हैं।

पहले जो नामकर्म की बारह ध्रुवोदय[1] प्रकृतियाँ बतला आये हैं, उनमें तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, द्वीन्द्रियजाति, त्रस, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त में से कोई एक, दुर्भग, अनादेय तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से कोई एक, इन नौ प्रकृतियों को मिलाने पर इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह उदयस्थान भव के अपान्तराल में विद्यमान जीव के होता है। यहाँ तीन भंग होते हैं, क्योंकि अपर्याप्त

१ तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ वर्णचतुष्क और निर्माण, ये बारह प्रकृतियाँ उदय की अपेक्षा ध्रुव हैं।

के एक अयशःकीर्ति का उदय होता है, अतः एक भंग हुआ तथा पर्याप्त के यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति के विकल्प से इन दोनों का उदय होता है अतः दो भंग हुए। इस प्रकार इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान में कुल तीन भंग हुए।

इस इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान में औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, हुंडसंस्थान सेवार्तसंहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियों को मिलाने और तिर्यंचानुपूर्वी को कम करने पर शरीरस्थ द्वीन्द्रिय जीव के छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान के भंगों के समान तीन भंग होते हैं।

छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान में शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए द्वीन्द्रिय जीव के अप्रशस्त विहायोगति और पराघात इन दो प्रकृतियों के मिला देने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति की अपेक्षा दो भंग होते हैं। इसके अपर्याप्त नाम का उदय न होने से उसकी अपेक्षा भंग नहीं कहे हैं।

अनन्तर श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति से पर्याप्त होने पर पूर्वोक्त २८ प्रकृतिक उदयस्थान में उच्छ्वास प्रकृतिक के मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति की अपेक्षा दो भंग होते हैं अथवा शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उद्योत का उदय होने पर उच्छ्वास के बिना २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति की अपेक्षा दो भंग हो जाते हैं। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थान में कुल चार भंग होते हैं।

भाषा पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास सहित २९ प्रकृतियों में सुस्वर और दुःस्वर इनमें से कोई एक के मिला देने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ पर सुस्वर और दुःस्वर तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति के विकल्प से चार भंग होते हैं अथवा प्राणापान पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के स्वर का उदय न होकर यदि

उसके स्थान पर उद्योत का उदय हो गया तो भी ३० प्रकृतिक उदय-स्थान होता है। यहाँ यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति के विकल्प से दो ही भंग होते हैं। इस प्रकार तीस प्रकृतिक उदयस्थान में छह भंग होते हैं।

अनन्तर स्वर सहित ३० प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत के मिलाने पर इकतीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ सुस्वर और दुःस्वर तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति के विकल्प से चार भंग होते हैं।

इस प्रकार द्वीन्द्रिय जीवों के छह उदयस्थानों (२१, २६, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक) में क्रमशः ३+३+२+४+६+४ कुल २२ भंग होते हैं। इसी प्रकार से त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों में से प्रत्येक के छह-छह उदयस्थान और उनके भंग घटित कर लेना चाहिये। अर्थात् द्वीन्द्रिय की तरह ही त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के भी प्रकृतिक उदयस्थान तथा उनमें से प्रत्येक के भंग समझना चाहिये, लेकिन इतनी विशेषता कर लेना चाहिये कि द्वीन्द्रिय जाति के स्थान पर त्रीन्द्रिय के लिये त्रीन्द्रिय जाति और चतुरिन्द्रिय के लिये चतुरिन्द्रिय जाति का उल्लेख कर लेवें।

कुल मिलाकर विकलत्रिकों के ६६ भंग होते हैं। कहा भी है—

तिग तिग दुग चऊ छ चउ विगलाण छसट्ठि होइ तिण्हं पि।

अर्थात् द्वीन्द्रिय आदि में से प्रत्येक के २१, २६, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक ये छह उदयस्थान हैं और उनके क्रमशः ३, ३, २, ४, ६ और ४ भंग होते हैं, जो मिलकर २२ हैं और तीनों के मिलाकर कुल २२×३=६६ भंग होते हैं।

अब तिर्यंच पंचेन्द्रियों के उदयस्थानों को बतलाते हैं। तिर्यंच पंचेन्द्रियों के २१, २६, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, ये छह उदय-स्थान होते हैं।

इन छह उदयस्थानों में से २१ प्रकृतिक उदयस्थान नामकर्म की बारह ध्रुवोदया प्रकृतियों के साथ तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त में से कोई एक, सुभग और दुर्भग में से कोई एक, आदेय और अनादेय में से कोई एक, यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से कोई एक, इन नौ प्रकृतियों को मिलाने से बनता है। यह उदयस्थान अपान्तराल में विद्यमान तिर्यंच पंचेन्द्रिय के होता है। इसके नौ भंग होते हैं। क्योंकि पर्याप्त नामकर्म के उदय में सुभग और दुर्भग में से किसी एक का, आदेय और अनादेय में से किसी एक का तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से किसी एक का उदय होने से २×२×२=८ भंग हुए तथा अपर्याप्त नामकर्म के उदय में दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति, इन तीन अशुभ प्रकृतियों का ही उदय होने से एक भंग होता है।

इस प्रकार २१ प्रकृतिक उदयस्थान में कुल नौ भंग होते हैं।

किन्हीं आचार्यों का यह मत है कि सुभग के साथ आदेय का और दुर्भग के साथ अनादेय का ही उदय होता है। अतः इस मत के अनुसार पर्याप्त नामकर्म के उदय में इन दोनों युगलों को यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति, इन दो प्रकृतियों से गुणित कर देने पर चार भंग होते हैं तथा अपर्याप्त का एक, इस प्रकार २१ प्रकृतिक उदयस्थान में कुल पांच भंग होते हैं। इसी प्रकार मतान्तर से आगे के उदयस्थानों में भी भंगों की विषमता समझना चाहिये।[1]

---

१ अपरे पुनराहुः—सुभगाऽऽदेये युगपदुदयमायातः दुर्भगाऽनादेये च, ततः पर्याप्तकस्य सुभगाऽऽदेययुगलदुर्भगाऽनादेययुगलाभ्यां यशःकीर्ति-अयशःकीर्तिभ्यां च चत्वारो भंगाः अपर्याप्तकस्य त्वेक इति, सर्वसंख्यया पंच। एवमुत्तरत्रापि मतान्तरेण भंगवैषम्यं स्वधिया परिभावनीयम्।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ. १८३

शरीरस्थ तिर्यंच पंचेन्द्रिय के २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। उक्त २१ प्रकृतिक उदयस्थान में औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, छह संस्थानों में से कोई एक संस्थान, छह संहननों में से कोई एक संहनन, उपघात और प्रत्येक, इन छह प्रकृतियों को मिलाने तथा तिर्यंचानुपूर्वी के निकाल देने पर यह २६ प्रकृतिक उदयस्थान बनता है।

इस २६ प्रकृतिक उदयस्थान के भंग २८६ होते हैं। क्योंकि पर्याप्त के छह संस्थान, छह संहनन और सुभग आदि तीन युगलों की संख्या को परस्पर गुणित करने पर ६×६×२×२×२=२८८ भंग होते हैं तथा अपर्याप्त के हुंडसंस्थान, सेवार्त संहनन, दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति का ही उदय होता है अतः यह एक भंग हुआ। इस प्रकार २६ प्रकृतिक उदयस्थान के कुल २८६ भङ्ग होते हैं।

शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के इस छब्बीस प्रकृतिक उदयस्थान में पराघात और प्रशस्त व अप्रशस्त विहायोगति में से कोई एक इस प्रकार इन दो प्रकृतियों के मिलाने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके भङ्ग ५७६ होते हैं। क्योंकि पूर्व में पर्याप्त के जो २८८ भङ्ग बतलाये हैं उनको प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति से गुणित करने पर २८८×२=५७६ होते हैं।

उक्त २८ प्रकृतिक उदयस्थान में उच्छ्वास को मिला देने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके भी पहले के समान ५७६ भंग होते हैं। अथवा शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास का उदय नहीं होता है, इसलिए उसके स्थान पर उद्योत को मिलाने पर भी २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके भी ५७६ भंग होते हैं। इस प्रकार २६ प्रकृतिक उदयस्थान के कुल भंग ५७६+५७६=११५२ होते हैं।

उक्त २६ प्रकृतिक उदयस्थान में भाषा पर्याप्ति से पर्याप्त हुए

जीव के सुस्वर और दुःस्वर में से किसी एक को मिलाने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके ११५२ भंग होते हैं। क्योंकि पहले २९ प्रकृतिक स्थान के उच्छ्वास की अपेक्षा ५७६ भंग बतलाये हैं, उन्हें स्वरद्विक से गुणित करने पर ११५२ भंग होते हैं अथवा प्राणापान पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के जो २९ प्रकृतिक उदयस्थान बतलाया है, उसमें उद्योत को मिलाने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके पहले की तरह ५७६ भंग होते हैं। इस प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थान के कुल भङ्ग १७२८ प्राप्त होते हैं।

स्वर सहित ३० प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत नाम को मिला देने पर ३१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके कुल भंग ११५२ होते हैं। क्योंकि स्वर प्रकृति सहित ३० प्रकृतिक उदयस्थान के जो ११५२ भंग कहे हैं, वे ही यहाँ प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार सामान्य तिर्यंच पंचेन्द्रिय के छह उदयस्थान और उनके कुल भङ्ग ९+२८९+५७६+११५२+१७२८+११५२=४९०६ होते हैं।

अब वैक्रिय शरीर करने वाले तिर्यंच पंचेन्द्रिय की अपेक्षा बंधस्थान और उनके भङ्गों को बतलाते हैं।

वैक्रिय शरीर करने वाले तिर्यंच पंचेन्द्रियों के २५, २७, २८, २९ और ३० प्रकृतिक, ये पाँच उदयस्थान होते हैं।

पहले जो तिर्यंच पंचेन्द्रिय के २१ प्रकृतिक उदयस्थान बतलाया है, उसमें वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, उपघात और प्रत्येक इन पाँच प्रकृतियों को मिलाने तथा तिर्यंचानुपूर्वी के निकाल देने पर पच्चीस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इस २५ प्रकृतिक उदयस्थान में सुभग और दुर्भग में से किसी एक का, आदेय और अनादेय में से किसी एक का तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति

में से किसी एक का उदय होने के कारण २×२×२=८ भङ्ग होते हैं।

अनन्तर शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के पराघात और प्रशस्त विहायोगति इन दो प्रकृतियों को २५ प्रकृतिक उदयस्थान में मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है, यहाँ भी पूर्ववत् आठ भङ्ग होते हैं।

उक्त २७ प्रकृतिक उदयस्थान में प्राणापान पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास प्रकृति को मिला देने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पहले के समान आठ भङ्ग होते हैं। अथवा शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के यदि उद्योत का उदय हो तो भी २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है, यहाँ भी आठ भङ्ग होते हैं। इस प्रकार २८ प्रकृतिक उदयस्थान के सोलह भङ्ग होते हैं।

अनन्तर भाषा पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास सहित २८ प्रकृतियों में सुस्वर के मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी आठ भङ्ग होते हैं। अथवा प्राणापान पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास सहित २८ प्रकृतियों में उद्योत को मिलाने पर भी २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके भी आठ भङ्ग होते हैं। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थान के कुल सोलह भङ्ग होते हैं।

अनन्तर सुस्वर सहित २९ प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत को मिलाने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसके भी आठ भङ्ग होते हैं।

इस प्रकार वैक्रिय शरीर को करने वाले पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के कुल उदयस्थान २५, २७, २८, २९ और ३० प्रकृतिक और उनके कुल भङ्ग ८+८+१६+१६+८=५६ होते हैं। इन ५६ भङ्गों को पहले के सामान्य पंचेन्द्रिय तिर्यंच के ४९०६ भङ्गों में मिलाने पर सब तिर्यंचों के कुल उदयस्थानों के ४९६२ भङ्ग होते हैं।

इस प्रकार से तिर्यंचों के एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के भेदों में उदयस्थान और उनके भङ्गों को बतलाने के पश्चात् अब मनुष्य-गति की अपेक्षा उदयस्थान व भङ्गों का कथन करते हैं।

मनुष्यों के उदयस्थानों का कथन सामान्य, वैक्रियशरीर करने वाले, आहारक शरीर करने वाले और केवलज्ञानी की अपेक्षा अलग-अलग किया जा रहा है।

सामान्य मनुष्य—सामान्य मनुष्यों के २१, २६, २८, २९ और ३० प्रकृतिक, ये पाँच उदयस्थान होते हैं। ये सब उदयस्थान तिर्यंच पंचेन्द्रियों के पूर्व में जिस प्रकार कथन कर आये हैं, उसी प्रकार मनुष्यों को भी समझना चाहिये, किन्तु इतनी विशेषता है कि मनुष्यों के तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी के स्थान पर मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी का उदय कहना चाहिये और २९ व ३० प्रकृतिक उदयस्थान उद्योत रहित कहना चाहिये, क्योंकि वैक्रिय और आहारक संयतों को छोड़कर शेष मनुष्यों के उद्योत का उदय नहीं होता है। इसलिये तिर्यंचों के जो २९ प्रकृतिक उदयस्थान में ११५२ भङ्ग कहे उनके स्थान पर मनुष्यों के कुल ५७६ भङ्ग होते हैं। इसी प्रकार तिर्यंचों के जो ३० प्रकृतिक उदयस्थान में १७२८ भङ्ग कहे, उनके स्थान पर मनुष्यों के कुल ११५२ भङ्ग प्राप्त होंगे।

इस प्रकार सामान्य मनुष्यों के पूर्वोक्त पाँच उदयस्थानों के कुल ९+२८९+५७६+५७६+११५२=२६०२ भङ्ग होते हैं।

वैक्रिय शरीर करने वाले मनुष्य—वैक्रिय शरीर को करने वाले मनुष्यों के २५, २७, २८, २९ और ३० प्रकृतिक, ये पाँच उदयस्थान होते हैं। बारह ध्रुवोदय प्रकृतियों के साथ मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, समचतुरस्र, संस्थान, उपघात, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, सुभग और दुर्भग में से कोई एक, आदेय और अनादेय में से कोई एक तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से कोई

एक, इन तेरह प्रकृतियों को मिलाने पर २५ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ सुभग और दुर्भग का, आदेय और अनादेय का तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति का उदय विकल्प से होता है। अतः २ × २ × २ = ८ आठ भङ्ग होते हैं। वैक्रिय शरीर को करने वाले देशविरत और संयतों के शुभ प्रकृतियों का उदय होता है।

उक्त २५ प्रकृतिक उदयस्थान में शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के पराघात और प्रशस्त विहायोगति, इन दो प्रकृतियों को मिलाने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी २५ प्रकृतिक उदयस्थान की तरह आठ भङ्ग होते हैं।

अनन्तर प्राणापान पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास के मिलाने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहां भी आठ भङ्ग होते हैं। अथवा उत्तर वैक्रिय शरीर को करने वाले संयतों के शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त होने पर पूर्वोक्त २७ प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत को मिलाने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। संयत जीवों के दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति, इन तीन अशुभ प्रकृतियों का उदय न होने से इसका एक ही भङ्ग होता है। इस प्रकार २८ प्रकृतिक उदयस्थान के कुल नौ भङ्ग होते हैं।

२८ प्रकृतिक उदयस्थान में सुस्वर के मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी आठ भङ्ग होते हैं। अथवा संयतों के स्वर के स्थान पर उद्योत को मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका एक ही भङ्ग होता है। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थान के कुल ९ भङ्ग होते हैं।

सुस्वर सहित २९ प्रकृतिक उदयस्थान में संयतों के उद्योत नामकर्म को मिलाने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका सिर्फ एक भङ्ग होता है।

इस प्रकार वैक्रिय शरीर करने वाले मनुष्यों के २५, २७, २८, २९ और ३० प्रकृतिक, पाँच उदयस्थान होते हैं और इन उदयस्थानों के क्रमशः ८+८+९+९+१=कुल ३५ भङ्ग होते हैं।[1]

आहारक संयत—आहारक संयतों के २५, २७, २८, २९, और ३० प्रकृतिक, ये पाँच उदयस्थान होते हैं।

पहले मनुष्यगति के उदययोग्य २१ प्रकृतियाँ बतलाई गई हैं, उनमें आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, उपघात और प्रत्येक, इन पांच प्रकृतियों को मिलाने तथा मनुष्यानुपूर्वी को कम करने पर २५ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। आहारक शरीर के समय प्रशस्त प्रकृतियों का ही उदय होता है, क्योंकि आहारक संयतों के अप्रशस्त प्रकृतियों—दुर्भग दुस्वर और अयशःकीर्ति प्रकृति का उदय नहीं होता है। इसलिए यहाँ एक ही भङ्ग होता है।

अनन्तर उक्त २५ प्रकृतिक उदयस्थान में शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त

---

१ गो० कर्मकांड में वैक्रिय शरीर और वैक्रिय अंगोपांग का उदय देव और नारकों को बतलाया है, मनुष्यों और तिर्यंचों को नहीं। अतएव वहाँ वैक्रिय शरीर की अपेक्षा से मनुष्यों के २५ आदि प्रकृतिक उदयस्थान और उनके भंगों का निर्देश नहीं किया है। इसी कारण से वहाँ वायुकायिक और पंचेन्द्रिय तिर्यंच के भी वैक्रिय शरीर की अपेक्षा उदयस्थानों और उनके भंगों को नहीं बताया। यद्यपि इस सप्ततिका प्रकरण में एकेन्द्रिय आदि जीवों के उदयप्रायोग्य नामकर्म की बंध प्रकृतियों का निर्देश नहीं किया है तथापि टीका से ऐसा प्रतीत होता है कि वहाँ देवगति और नरकगति की उदययोग्य प्रकृतियों में ही वैक्रिय शरीर और वैक्रिय अंगोपांग का ग्रहण किया गया है। जिससे ऐसा ज्ञात होता है कि तिर्यंच और मनुष्यों के वैक्रिय शरीर और वैक्रिय अंगोपांग का उदय नहीं होना चाहिए, तथापि कर्मप्रकृति के उदीरणा प्रकरण की गाथा ८ से इस बात का समर्थन होता है कि यथासम्भव तिर्यंच और मनुष्यों के भी इन दो प्रकृतियों का उदय व उदीरणा होती है।

हुए जीव के पराघात और प्रशस्त विहायोगति, इन दो प्रकृतियों के मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहां भी एक ही भङ्ग होता है।

२७ प्रकृतिक उदयस्थान में शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास नाम को मिलाने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका भी एक ही भङ्ग होता है। अथवा शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के पूर्वोक्त २७ प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत को मिलाने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका भी एक भङ्ग होता है। इस प्रकार २८ प्रकृतिक उदयस्थान के दो भङ्ग हुए।

अनन्तर भाषा पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास सहित २८ प्रकृतिक उदयस्थान में सुस्वर के मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका एक भङ्ग है। अथवा प्राणापान पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के सुस्वर के स्थान पर उद्योत नाम को मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका भी एक भङ्ग है। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थान के दो भङ्ग होते हैं।

भाषा पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के स्वरसहित २९ प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत को मिलाने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका भी एक भङ्ग होता है।

इस प्रकार आहारक संयतों के २५, २७, २८, २९ और ३० प्रकृतिक, ये पांच उदयस्थान होते हैं और इन पांच उदयस्थानों के क्रमशः १+१+२+२+१=७ भंग होते हैं।[1]

---

१ गो० कर्मकांड की गाथा २९७ से ज्ञात होता है कि पांचवें गुणस्थान तक के जीवों के ही उद्योत प्रकृति का उदय होता है—

"देसे तदियकसाया तिरियाउज्जोवणीचतिरियगदी।"

तथा गाथा २८९ से यह भी ज्ञात होता है कि उद्योत प्रकृति का उदय तिर्यंचगति में ही होता है—

केवलज्ञानी—केवली जीवों के २०, २१, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ९ और ८ प्रकृतिक ये दस उदयस्थान होते हैं।

नामकर्म की बारह ध्रुवोदया प्रकृतियों में मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति इन आठ प्रकृतियों के मिलाने से २० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका एक भङ्ग होता है। यह उदयस्थान समुद्घातगत अतीर्थ केवली के कार्मण काय योग के समय होता है।

उक्त २० प्रकृतिक उदयस्थान में तीर्थंकर प्रकृति को मिलाने पर २१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह उदयस्थान समुद्घातगत तीर्थंकर केवली के कार्मणकाययोग के समय होता है। इसका भी एक भङ्ग है।

२० प्रकृतिक उदयस्थान में औदारिक शरीर, छह संस्थानों में से कोई एक संस्थान, औदारिक अंगोपांग, वज्रऋषभनाराच संहनन, उपघात और प्रत्येक, इन छह प्रकृतियों के मिलाने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह अतीर्थंकर केवली के औदारिकमिश्र काययोग के समय होता है। इसके छह संस्थानों की अपेक्षा छह भङ्ग होते हैं, किन्तु वे सामान्य मनुष्यों के उदयस्थानों में भी सम्भव होने से उनकी पृथक् से गणना नहीं की है।

तेउतिगूणतिरिक्खेसुज्जोवो बादरेसु पुण्णेसु।

इसी से कर्मकांड में आहारक संयतों के २५, २७, २८ और २९ प्रकृतिक चार उदयस्थान बतलाये हैं। इनमें २५ और २७ प्रकृतिक उदयस्थान तो सप्ततिका प्रकरण के अनुसार जानना चाहिये। शेष रहे २८ और २९ प्रकृतिक उदयस्थान, इनमें से २८ प्रकृतिक उदयस्थान उच्छ्वास प्रकृति के उदय से और २९ प्रकृतिक उदयस्थान सुस्वर प्रकृतिक के उदय से होता है। अर्थात् २७ प्रकृतिक उदयस्थान में उच्छ्वास प्रकृति के मिलाने से २८ प्रकृतिक उदयस्थान और इस २८ प्रकृतिक उदयस्थान में सुस्वर प्रकृति के मिलाने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

२६ प्रकृतिक उदयस्थान में तीर्थंकर प्रकृति को मिलाने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह स्थान तीर्थंकर केवली के औदारिक मिश्र काययोग के समय होता है। इस उदयस्थान में समचतुरस्र संस्थान का ही उदय होने से एक ही भङ्ग होता है।

पूर्वोक्त २६ प्रकृतिक उदयस्थान में पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति और अप्रशस्त विहायोगति में से कोई एक तथा सुस्वर और दुःस्वर में से कोई एक, इन चार प्रकृतियों के मिलाने से ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह स्थान अतीर्थंकर सयोगि केवली के औदारिक काययोग के समय होता है। यहाँ छह संस्थान, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति तथा सुस्वर और दुःस्वर की अपेक्षा ६×२×२=२४ भङ्ग होते हैं। किन्तु वे सामान्य मनुष्यों के उदय-स्थानों में प्राप्त होते हैं, अतः इनकी पृथक् से गणना नहीं की गई है।

३० प्रकृतिक उदयस्थान में तीर्थंकर प्रकृतिक को मिला देने पर ३१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह तीर्थंकर सयोगिकेवली के औदारिक काययोग के समय होता है तथा तीर्थंकर केवली जब वाक्योग का निरोध करते हैं तब उनके स्वर का उदय नहीं रहता है, जिससे पूर्वोक्त ३१ प्रकृतिक उदयस्थान में से एक प्रकृति को निकाल देने पर तीर्थंकर केवली के ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। जब उच्छ्वास का निरोध करते हैं तब उच्छ्वास का उदय नहीं रहता, अतः उच्छ्वास को घटा देने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। किन्तु अतीर्थंकर केवली के तीर्थंकर प्रकृतिक का उदय नहीं होता है अतः पूर्वोक्त ३० और २६ प्रकृतिक उदयस्थानों में से तीर्थंकर प्रकृति को कम कर देने पर अतीर्थंकर केवली के वचनयोग का निरोध होने होने पर २६ प्रकृतिक और उच्छ्वास का निरोध होने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। अतीर्थंकर केवली के इन दोनों उदयस्थानों में छह संस्थान और प्रशस्त व अप्रशस्त विहायोगति, इन दोनों की अपेक्षा

१२,१२ भङ्ग होते हैं। किन्तु वे सामान्य मनुष्यों के उदयस्थानों में सम्भव होने से उनकी अलग से गिनती नहीं की है।

९ प्रकृतिक उदयस्थान में मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और तीर्थंकर, इन नौ प्रकृतियों का उदय होता है। यह नौ प्रकृतिक उदयस्थान तीर्थंकर केवली के अयोगिकेवली गुणस्थान में प्राप्त होता है। इस उदयस्थान में से तीर्थंकर प्रकृति को घटा देने पर आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह अयोगिकेवली गुणस्थान में अतीर्थंकर केवली के होता है।

यहाँ केवली के उदयस्थानों में २०,२१,२७,२९,३०,३१, ९ और ८ इन आठ उदयस्थानों का एक-एक विशेष भङ्ग होता है। अतः आठ भङ्ग हुए। इनमें से २० प्रकृतिक और ८ प्रकृतिक, इन दो उदयस्थानों के दो भङ्ग अतीर्थंकर केवली के होते हैं तथा शेष छह भङ्ग तीर्थंकर केवली के होते हैं।[1]

इस प्रकार सब मनुष्यों के उदयस्थान सम्बन्धी कुल भङ्ग २९०२+३५+७+८=२६५२ होते हैं।

अब देवों के उदयस्थान और उनके भङ्गों का कथन करते हैं।

देवों के २१, २५, २७, २८, २९ और ३० प्रकृतिक, ये छह उदयस्थान होते हैं।

नामकर्म की ध्रुवोदया बारह प्रकृतियों में देवगति, देवानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग और दुर्भग में से कोई एक, आदेय और अनादेय में से कोई एक तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से कोई एक, इन नौ प्रकृतियों के मिला देने पर २१ प्रकृतिक

---

१ इह केवल्युदयस्थानमध्ये विंशति-एकविंशति-सप्तविंशति,एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्-नवाऽष्टरूपेष्वष्टसूदयस्थानेषु प्रत्येमेकैको विशेषभंगः प्राप्यते इत्यष्टौ भंगाः। तत्र विंशत्यष्टकयोर्भंगावतीर्थकृतः शेषेषु षट्सु उदयस्थानेषु तीर्थकृतः षड् भंगाः। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १८६

उदयस्थान होता है। देवों के जो दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति का उदय कहा है, वह पिशाच आदि देवों की अपेक्षा समझना चाहिये। यहाँ सुभग और दुर्भग में से किसी एक, आदेय और अनादेय में से एक और यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से किसी एक का उदय होने से, इनकी अपेक्षा कुल २×२×२=८ भङ्ग होते हैं।

इस २१ प्रकृतिक उदयस्थान में वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, उपघात, प्रत्येक और समचतुरस्र संस्थान, इन पाँच प्रकृतियों को मिलाने और देवगत्यानुपूर्वी को निकाल देने पर शरीरस्थ देव के २५ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पूर्ववत् आठ भङ्ग होते हैं।

अनन्तर २५ प्रकृतिक उदयस्थान में पराघात और प्रशस्त विहायोगति, इन दो प्रकृतियों को मिलाने पर शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए देवों के २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पूर्वानुसार आठ भङ्ग होते हैं। देवों के अप्रशस्त विहायोगति का उदय नहीं होने से तन्निमित्तक भङ्ग नहीं कहे हैं।

अनन्तर २७ प्रकृतिक उदयस्थान में प्राणापान पर्याप्ति से पर्याप्त हुए देवों के उच्छ्वास को मिला देने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पूर्ववत आठ भङ्ग होते हैं। अथवा शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए देवों के पूर्वोक्त २७ प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत को मिला देने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहां भी आठ भङ्ग होते हैं। इस प्रकार २८ प्रकृतिक उदयस्थान में कुल १६ भङ्ग होते हैं।

भाषा पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास सहित २८ प्रकृतिक उदयस्थान में सुस्वर को मिला देने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी आठ भङ्ग पूर्ववत् जानना चाहिये। देवों के दुःस्वर प्रकृति का उदय नहीं होता है, अतः तन्निमित्तक भङ्ग यहाँ नहीं कहे हैं। अथवा प्राणापान पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के उच्छ्वास

सहित २८ प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत नाम को मिला देने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है, देवों के उद्योत नाम का उदय उत्तर-विक्रिया करने के समय होता है। यहाँ भी पूर्ववत् आठ भङ्ग होते हैं। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थान के कुल भङ्ग १६ हैं।

भाषा पर्याप्ति से पर्याप्त हुए देवों के सुस्वर सहित २९ प्रकृतिक उदयस्थान में उद्योत को मिला देने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी आठ भङ्ग होते हैं।

इस प्रकार देवों के २१, २५, २७, २८, २९ और ३० प्रकृतिक, ये छह उदयस्थान होते हैं तथा उनमें क्रमशः ८+८+८+१६+१६+८=६४ भङ्ग होते हैं।

अब नारकों के उदयस्थानों और उनके भङ्गों का कथन करते हैं।

नारकों के २१, २५, २७, २८ और २९ प्रकृतिक, ये पाँच उदयस्थान होते हैं। यहाँ ध्रुवोदया बारह प्रकृतियों के साथ नरकगति, नरकानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति, इन नौ प्रकृतियों को मिला देने पर २१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। नारकों के सब अप्रशस्त प्रकृतियों का उदय है, अतः यहाँ एक भङ्ग होता है।

अनन्तर शरीरस्थ नारक के वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, हुंडसंस्थान, उपघात और प्रत्येक, इन पाँच प्रकृतियों को मिलाने और नरकानुपूर्वी के निकाल देने पर २५ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी एक भंग होता है।

शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए नारक के २५ प्रकृतिक उदयस्थान में पराघात और अप्रशस्त विहायोगति इन दो प्रकृतियों को मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका भी एक भङ्ग होता है।

अनन्तर प्राणापान पर्याप्ति से पर्याप्त हुए नारक के २७ प्रकृतिक उदयस्थान में उच्छ्वास को मिला देने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी एक ही भङ्ग होता है।

भाषा पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के २८ प्रकृतिक उदयस्थान में दुःस्वर को मिला देने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इसका भी एक भंग है।

इस प्रकार नारकों के २१, २५, २७, २८ और २९ प्रकृतिक, ये पाँच उदयस्थान होते हैं और इन पांचों का एक-एक भंग होने से कुल पाँच भंग होते हैं।

अब तक नामकर्म के एकेन्द्रिय से लेकर नारकों तक के जो उदयस्थान बताये गये हैं उनके कुल भंग ४२+६६+४९६२+२६५२+६४+५=७७९१ होते हैं।

नामकर्म के उदयस्थानों व भंगों का निर्देश करने के अनन्तर अब दो गाथाओं में प्रत्येक उदयस्थान के भंगों का विचार करते हैं।

एग बियालेक्कारस तेत्तीसा छस्सयाणि तेत्तीसा।
बारससत्तरससयाणहिगाणि बिपंचसीईहिं ॥२७॥

अउणत्तीसेक्कारससयाहिगा सत्तरसपंचसट्ठीहिं।
इक्केक्कगं च वीसाबट्ठुदयंतेसु उदयविही ॥२८॥

शब्दार्थ—**एग**—एक, **बियालेक्कारस**—बयालीस, ग्यारह, **तेत्तीसा**—तेतीस, **छस्सयाणि**—छह सौ, **तेत्तीसा**—तेतीस, **बारससत्तरससयाणहिगाणि**—बारह सौ और सत्रह सौ अधिक, **बिपंचसीईहिं**—दो और पचासी, **अउणत्तीसेक्कारससयाहिगा**—उनतीस सौ और ग्यारह सौ अधिक, **सत्तरसपंचसट्ठीहिं**—सत्रह और पैंसठ, **इक्केक्कगं**—एक-एक, **वीसाबट्ठुदयंतेसु**—बीस प्रकृति के उदयस्थान से आठ प्रकृति के उदयस्थान तक, **उदयविही**—उदय के भंग।

गाथार्थ—बीस प्रकृति के उदयस्थान से लेकर आठ प्रकृति के उदयस्थान पर्यन्त अनुक्रम से १, ४२, ११, ३३, ६००, ३३, १२०२, १७८५, २९१७, ११६५, १, और १ भंग होते हैं।[1]

विशेषार्थ—पहले नामकर्म के २०, २१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ९ और ८ प्रकृतिक, इस प्रकार १२ उदयस्थान बतलाये गये हैं तथा इनमें से किस गति में कितने उदयस्थान और उनके कितने भंग होते हैं, यह भी बतलाया जा चुका है। अब यहाँ यह बतलाते हैं कि उनमें से किस उदयस्थान के कितने भंग होते हैं।

बीस प्रकृतिक उदयस्थान का एक भंग है। वह तीर्थंकर केवली के होता है। २१ प्रकृतिक उदयस्थान के ४२ भंग हैं। वे इस प्रकार समझना चाहिये—एकेन्द्रियों की अपेक्षा ५, विकलेन्द्रियों की अपेक्षा ९, तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा ९, मनुष्यों की अपेक्षा ९, तीर्थंकर की अपेक्षा १, देवों की अपेक्षा ८ और नारकों की अपेक्षा १। इन सब का जोड़ ५+९+९+९+१+८+१=४२ होता है।

२४ प्रकृतिक उदयस्थान एकेन्द्रियों को होता है, अन्य को नहीं

---

१ गो० कर्मकांड गाथा ६०३—६०५ तक में इन २० प्रकृतिक आदि उदयस्थानों के भंग क्रमशः १, ६०, २७, १९, ६२०, १२, ११७५, १७६०, २९२१, ११६१, १, १ बतलाये हैं। जिनका कुल जोड़ ७७५८ होता है—

"वीसादीणं भंगा इगिवालपदेसु संभवा कमसो।
एक्कं सट्ठी चेव य सत्तावीसं च उगुवीसं॥
वीसुत्तरछच्चसया बारस पण्णत्तरीहि संजुत्ता।
एक्कारससयसंखा सत्तरससयाहिया सट्ठी॥
ऊणत्तीससयाहियएक्कावीसा तदोवि एकट्ठी।
एक्कारससयसहिया एक्केक्क विसरिसगा भंगा॥

और २४ प्रकृतिक उदयस्थान में एकेन्द्रिय की अपेक्षा ११ भंग प्राप्त होते हैं। अतः २४ प्रकृतिक उदयस्थान में ११ भंग होते हैं।

२५ प्रकृतिक उदयस्थान के एकेन्द्रियों की अपेक्षा ७, वैक्रिय शरीर करने वाले तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा ८, वैक्रिय शरीर करने वाले मनुष्यों की अपेक्षा ८, आहारक संयतों की अपेक्षा १, देवों की अपेक्षा ८ और नारकों की अपेक्षा १ भंग बतला आये हैं। इन सबका जोड़ ७+८+८+१+८+१=३३ होता है। अतः २५ प्रकृतिक उदयस्थान के ३३ भंग होते हैं।

२६ प्रकृतिक उदयस्थान के भंग ६०० हैं। इनमें एकेन्द्रिय की अपेक्षा १३, विकलेन्द्रियों की अपेक्षा ९, प्राकृत तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा २८९ और प्राकृत मनुष्यों की अपेक्षा २८९ भङ्ग होते हैं। इन सबका जोड़ १३+९+२८९+२८९=६०० होता है। ये ६०० भङ्ग २६ प्रकृतिक उदयस्थान के हैं।

२७ प्रकृतिक उदयस्थान के एकेन्द्रियों की अपेक्षा ६, वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा ८, वैक्रिय मनुष्यों की अपेक्षा ८, आहारक संयतों की अपेक्षा १, केवलियों की अपेक्षा १, देवों की अपेक्षा ८ और नारकों की अपेक्षा १ भङ्ग पहले बतला आये हैं। इनका कुल जोड़ ३३ होता है। अतः २७ प्रकृतिक उदयस्थान के ३३ भङ्ग होते हैं।

२८ प्रकृतिक उदयस्थान के विकलेन्द्रियों की अपेक्षा ६, प्राकृत तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा ५७६, वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा १६, प्राकृत मनुष्यों की अपेक्षा ५७६, वैक्रिय मनुष्यों की अपेक्षा ९, आहारकों की अपेक्षा २, देवों की अपेक्षा १६ और नारकों की अपेक्षा १ भङ्ग बतला आये हैं। इनका कुल जोड़ ६+५७६+१६+५७६+९+२+१६+१=१२०२ होता है। अतः २८ प्रकृतिक उदयस्थान के १२०२ भङ्ग होते हैं।

२९ प्रकृतिक उदयस्थान के भङ्ग १७८५ हैं। इसमें विकलेन्द्रियों

की अपेक्षा १२, तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा ११५२ वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा १६, मनुष्यों की अपेक्षा ५७६, वैक्रिय मनुष्यों की अपेक्षा ६, आहारक संयतों की अपेक्षा २, तीर्थंकर की अपेक्षा १, देवों की अपेक्षा १६ और नारकों की अपेक्षा १ भङ्ग है। इनका जोड़ १२+११५२+१६+५७६+६+२+१+१६+१=१७८५ होता है। अतः २६ प्रकृतिक उदयस्थान के कुल भङ्ग १७८५ प्राप्त होते हैं।

३० प्रकृतिक उदयस्थान में विकलेन्द्रियों की अपेक्षा १८, तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा १७२८, वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा ८, मनुष्यों की अपेक्षा ११५२, वैक्रिय मनुष्यों की अपेक्षा १, आहारक संयतों की अपेक्षा १, केवलियों की अपेक्षा १ और देवों की अपेक्षा ८ भङ्ग पूर्व में बतला आये हैं। इनका जोड़ १८+१७२८+८+११५२+१+१+१+८=२९१७ होता है। अतः ३० प्रकृतिक उदयस्थान के २९१७ भङ्ग होते हैं।

३१ प्रकृतिक उदयस्थान में विकलेन्द्रियों की अपेक्षा १२, तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा ११५२, तीर्थंकर की अपेक्षा १ भङ्ग पूर्व में बतलाया है, और इनका कुल जोड़ ११६५ है, अतः ३१ प्रकृतिक उदयस्थान के ११६५ भङ्ग कहे हैं।

९ प्रकृतिक उदयस्थान का तीर्थंकर की अपेक्षा १ भंग होता है और ८ प्रकृतिक उदयस्थान का अतीर्थंकर की अपेक्षा १ भंग होता है। इन दोनों को पूर्व में बतलाया जा चुका है। अतः ९ प्रकृतिक और ८ प्रकृतिक उदयस्थान का १, १ भंग होता है।

इस प्रकार २० प्रकृतिक आदि बारह उदयस्थानों के १+४२+११+३३+६००+३३+१२०२+१७८५+२९१७+११६५+१+१=७७९१ भंग होते हैं।

नामकर्म के उदयस्थानों के भंग व अन्य विशेषताओं सम्बन्धी विवरण इस प्रकार समझना चाहिये—

उदयस्थान	२०	२१	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	९	८	भंग संख्या
सर्वभंग	१	४२	११	३३	६००	३३	१२०२	१७८५	२९१७	११६५	१	१	७७९१
एकेन्द्रिय	०	५	११	७	१३	६	०	०	०	०	०	०	४२
विकलेन्द्रिय	०	९	०	०	९	०	६	१२	१८	१२	०	०	८९
पंचें. तिर्यंच	०	९	०	०	२८९	०	५७६	११५२	१७२८	११५२	०	०	४६०९
मनुष्य	०	९	०	०	२८९	०	५७६	५७६	११५२	०	०	०	२६०२
वैक्रिय. तिर्यंच	०	०	०	८	०	८	१६	१६	८	०	०	०	५६
वैक्रिय मनुष्य	०	०	०	८	०	८	८	८	०	०	०	०	३२
देव	०	८	०	८	०	८	१६	१६	८	०	०	०	५४
तीर्थंकर	०	१	०	०	०	१	०	१	१	१	१	०	६
केवली	१	०	०	०	(म.)६	०	(म.)६	(म)६	(म.)६	०	०	१	२१
वैक्रिय यति	०	०	०	०		०	१	१	१	०	०	०	३
आहारक	०	०	०	१	०	१	२	२	१	०	०	०	७
नारक	०	१	०	१	०	१	१	१	०	०	०	०	५
												योग	७७९१

१—इय सव्वुदयविगप्पा एक्काणउया समा उ सगसयरी ।
एत्तो संतट्ठाणा ते बारस होंति नामस्स ॥

—सप्ततिका नामक षष्ठ कर्मग्रन्थ प्राकृत टिप्पण

नामकर्म के बंधस्थानों और उदयस्थानों का कथन करने के पश्चात् अब सत्तास्थानों का कथन करते हैं।

तिनउई उगुनउई अट्ठच्छलसी असीइ उगुसीई।
अट्ठयछप्पणसारे नव अट्ठ य नामसंताणि ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—तिनउई—तेरानवै, नउई—नवासी, अट्ठच्छलसी—अठासी, छियासी, असीइ—अस्सी, उगुसीई—उन्यासी, अट्ठयछप्पणसरी—अठहत्तर, छियत्तर, पचहत्तर, नव—नौ, अट्ठ—आठ, य—और, नामसंताणि—नामकर्म के सत्तास्थान।

गाथार्थ—नामकर्म के ९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७९, ७८, ७६, ७५, ९ और ८ प्रकृतिक सत्तास्थान होते हैं।[1]

विशेषार्थ—इस गाथा में नामकर्म के सत्तास्थानों को बतलाते हुए उनमें गर्भित प्रकृतियों की संख्या बतलाई है कि प्रत्येक सत्तास्थान कितनी-कितनी प्रकृति का है। इससे यह तो ज्ञात हो जाता है कि नामकर्म के सत्तास्थान बारह हैं और वे ९३, ९२ आदि प्रकृतिक हैं, लेकिन यह स्पष्ट नहीं होता है कि प्रत्येक सत्तास्थान में ग्रहण की गई प्रकृतियों के नाम क्या हैं, अतः यहाँ प्रत्येक सत्तास्थान में ग्रहण की गई प्रकृतियों के नामोल्लेखपूर्वक उनकी संख्या को स्पष्ट करते हैं।

पहला सत्तास्थान ९३ प्रकृतियों का बतलाया है। क्योंकि नामकर्म की सब उत्तर प्रकृतियाँ ९३[2] हैं, अतः ९३ प्रकृतिक सत्तास्थान में

---

१ कर्मप्रकृति और पंचसंग्रह सप्ततिका में नामकर्म के १०३, १०२, ९९, ९५, ९३, ९०, ८९, ८४, ८३, ८२, ९ और ८ प्रकृतिक, ये १२ सत्तास्थान बतलाये हैं। यहाँ बताये गये और इन १०३ आदि संख्या के सत्तास्थानों में इतना अंतर है कि ये स्थान बंधन के १५ भेद करके बतलाये गये हैं। ८२ प्रकृतिक जो सत्तास्थान बतलाया है वह दो प्रकार से बतलाया है। विशेष जानकारी वहाँ से कर लेना चाहिये।

२ नामकर्म की ९३ उत्तर प्रकृतियों के नाम प्रथम कर्मग्रन्थ में दिये हैं। अतः पुनरावृत्ति के कारण यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया है।

सब प्रकृतियों की सत्ता स्वीकार की गई है। इन ९३ प्रकृतियों में से तीर्थंकर प्रकृति को कम कर देने पर ९२ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। ९३ प्रकृतिक सत्तास्थान में से आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, आहारक संघात और आहारक बंधन, इन चार प्रकृतियों को कम कर देने पर ८९ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। इस ८९ प्रकृतिक सत्तास्थान में से तीर्थंकर प्रकृति को कम कर देने पर ८८ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है।

उक्त ८८ प्रकृतिक सत्तास्थान में से नरकगति और नरकानुपूर्वी की अथवा देवगति और देवानुपूर्वी की उद्वलना हो जाने पर ८६ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है अथवा नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करने वाले ८० प्रकृतिक सत्तास्थान वाले जीव के नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, वैक्रिय संघात और वैक्रिय बंधन इन छह प्रकृतियों का बंध होने पर ८६ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। इस ८६ प्रकृतिक सत्तास्थान में से नरकगति, नरकानुपूर्वी और वैक्रिय चतुष्क, इन छह प्रकृतियों की उद्वलना हो जाने पर ८० प्रकृतिक सत्तास्थान होता है अथवा देवगति, देवानुपूर्वी और वैक्रिय चतुष्क इन छह प्रकृतियों की उद्वलना हो जाने पर ८० प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। इसमें से मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी की उद्वलना होने पर ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है।

उक्त सात सत्तास्थान अक्षपकों की अपेक्षा कहे हैं। अब क्षपकों की अपेक्षा सत्तास्थानों को बतलाते हैं।

अब क्षपक जीव ९३ प्रकृतियों में से नरकगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, जातिचतुष्क (एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति), स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म और साधारण, इन तेरह प्रकृतियों का क्षय कर देते हैं तब उनके ८० प्रकृ-

तिक सत्तास्थान होता है। जब ९२ प्रकृतियों में से इन तेरह प्रकृतियों का क्षय करते हैं, तब ७९ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है और जब ८९ प्रकृतियों में से इन तेरह प्रकृतियों का क्षय करते हैं तब ७६ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है तथा जब ८८ प्रकृतियों में से इन तेरह प्रकृतियों का क्षय कर देते हैं, तब ७५ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है।

अब रहे ९ और ८ प्रकृतिक सत्तास्थान। सो ये दोनों अयोगिकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय में होते हैं। नौ प्रकृतिक सत्तास्थान में मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और तीर्थंकर, ये नौ प्रकृतियां हैं और इनमें से तीर्थंकर प्रकृतिक को कम करदेने पर ८ प्रकृतिक, सत्तास्थान होता है।

गो० कर्मकांड और नामकर्म के सत्तास्थान[1]

पूर्व में गाथा के अनुसार बारह सत्तास्थानों का कथन किया गया। लेकिन गो० कर्मकांड में ९३, ९२, ९१, ९०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७९, ७८, ७७, १० और ९ प्रकृतिक कुल तेरह सत्तास्थान बतलाये हैं—

तिदुइगिणउदी णउदी अट्ठचउवो अहियसीदि सीदी य।
ऊणासीदट्ठसत्तरि सत्तसत्तरि दस य णव सत्ता ॥६०९॥

विवेचन इस प्रकार है—

यहाँ ९३ प्रकृतिक सत्तास्थान में नामकर्म की सब प्रकृतियों की सत्ता मानी है। उनमें से तीर्थंकर प्रकृति को घटाने पर ९२ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग, इन दो प्रकृतियों को कम कर देने पर ९१ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। तीर्थंकर, आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग को कम कर देने पर ९० प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। इसमें से देवद्विक की उद्वलना करने पर ८८ प्रकृतिक और इस ८८ प्रकृतिक सत्तास्थान में से नरक-

---

१ तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से गो० कर्मकांड का अभिमत यहाँ दिया है।

चतुष्क की उद्वलना करने पर ८४ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। इन ८४ प्रकृतियों में से मनुष्यद्विक की उद्वलना होने पर ८२ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है।

क्षपक अनिवृत्तिकरण के ९३ प्रकृतियों में से नरकद्विक आदि तेरह प्रकृतियों का क्षय होने पर ८० प्रकृतिक सत्तास्थान होता है तथा ९२ प्रकृतियों में से उक्त १३ प्रकृतियों का क्षय होने पर ७९ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है तथा इन्हीं १३ प्रकृतियों को ९१ प्रकृतियों में से कम करने पर ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। ९० में से इन्हीं १३ प्रकृतियों को घटाने पर ७७ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। तीर्थंकर अयोगिकेवली के १० प्रकृतिक तथा सामान्य केवली के ९ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है।

इस प्रकार से नामकर्म के सत्तास्थान को बतलाने के पश्चात् अब आगे की गाथा में नामकर्म के बंधस्थान आदि के परस्पर संवेध का कथन करने का निर्देश करते हैं।

अट्ठ य बारस बारस बंधोदयसंतपयडिठाणाणि।
ओहेणादेसेण य जत्थ जहासंभवं विभजे ॥३०॥

शब्दार्थ—**अट्ठ**—आठ, **य**—और, **बारस-बारस**—बारह, बारह, **बंधोदयसंतपयडिठाणाणि**—बंध, उदय और सत्ता प्रकृतियों के स्थान, **ओहेण**—ओघ, सामान्य से, **आदेसेण**—विशेष से, **य**—और, **जत्थ**—जहाँ, **जहासंभवं**—यथासंभव, **विभजे**—विकल्प करना चाहिए।

गाथार्थ—नामकर्म के बंध, उदय और सत्ता प्रकृति स्थान क्रम से आठ, बारह और बारह होते हैं। उनके ओघ

सामान्य और आदेश विशेष से यहाँ जितने स्थान सम्भव हैं, उतने विकल्प करना चाहिये।

विशेषार्थ—ग्रन्थ में यद्यपि नामकर्म के पहले बंधस्थान, उदयस्थान और सत्तास्थान बतलाये जा चुके हैं कि नामकर्म के बंधस्थान आठ हैं, उदयस्थान बारह हैं और सत्तास्थान भी बारह हैं। फिर भी यहाँ पुनः सूचना इनके संवेध भंगों को बतलाने के लिये की गई है।

इन संवेध भंगों को जानने के दो उपाय हैं—१. ओघ और २. आदेश। ओघ सामान्य का पर्यायवाची है और आदेश विशेष का। यहाँ ओघ का यह अर्थ हुआ कि जिस प्ररूपणा में केवल यह बतलाया जाए कि अमुक बंधस्थान का बंध करने वाले जीव के अमुक उदयस्थान और अमुक सत्तास्थान होते हैं, इसको ओघप्ररूपण कहते हैं। आदेश प्ररूपण में मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान और गति आदि मार्गणाओं में बंधस्थान, उदयस्थान और सत्तास्थानों का विचार किया जाता है। ग्रन्थकार ने ओघ और आदेश के संकेत द्वारा यह स्पष्ट किया है कि दोनों प्रकार से बंधस्थान आदि के संवेध भंगों को यहाँ बतलाया जायेगा।

अब सबसे पहले ओघ से संवेध भङ्गों का विचार करते हैं।

नव पंचोदय संता तेवीसे पण्णवीस छव्वीसे।
अट्ठ चउरट्ठवीसे नव सत्तुगतीस तीसम्मि ॥३१॥

शब्दार्थ—नव पंच—नौ और पाँच, उदयसंता—उदय और सत्ता स्थान, तेवीसे—तेईस, पण्णवीस छव्वीसे—पच्चीस और छब्बीस के बंधस्थान में, अट्ठ—आठ, चउर—चार, अट्ठवीसे—अट्ठाईस के बंधस्थान में, नव—नौ, सत्त—सात, उगतीस तीसम्मि—उनतीस और तीस प्रकृतिक बंधस्थान में।

एगेगमेगतीसे एगे एगुदय अट्ठ संतम्मि।
उवरयबंधे दस दस बेयगसंतम्मि ठाणाणि[1] ॥३२॥

शब्दार्थ—एगेगं—एक, एक, एगतीसे—इकतीस प्रकृतिक बंधस्थान में, एगे—एक के बंधस्थान में, एगुदय—एक उदयस्थान, अट्ठ संतम्मि—आठ सत्तास्थान, उवरयबंधे—बंध के अभाव में, दस दस—दस-दस, बेयग—उदय में, संतम्मि—सत्ता में, ठाणाणि—स्थान।

दोनों गाथार्थ—तेईस, पच्चीस और छब्बीस प्रकृतिक बंधस्थानों में नौ-नौ उदयस्थान और पाँच-पाँच सत्तास्थान होते हैं। अट्ठाईस के बंधस्थान में आठ उदयस्थान और चार सत्तास्थान होते हैं। उनतीस एवं तीस प्रकृतिक बंधस्थानों में नौ उदयस्थान तथा आठ सत्तास्थान होते हैं।

इकतीस प्रकृतिक बंधस्थान में एक उदयस्थान व एक सत्तास्थान होता है। एक प्रकृतिक बंधस्थान में एक उदय-स्थान और आठ सत्तास्थान होते हैं। बंध के अभाव में उदय और सत्ता के दस-दस स्थान जानना चाहिए।

---

१ तुलना कीजिये—

नव पंचोदयसत्ता तेवीसे पण्णवीसछव्वीसे।
अट्ठ चउरट्ठवीसे नवसत्तिगतीसतीसे य॥
एक्केक्के इगतीसे एक्के एक्कुदय अट्ठ संतंसा।
उवरय बंधे दस दस नामोदयसंतठाणाणि॥
—पंचसंग्रह सप्ततिका, गा० ९९,१००

णवपंचोदयसत्ता तेवीसे, पण्णुवीस छव्वीसे।
अट्ठ चदुरट्ठवीसे णवसत्तुगुतीसतीसम्मि॥
एगेगं इगितीसे एगे एगुदयमट्ठ सत्ताणि।
उवरदबंधे दस दस उदयंसा होंति णियमेणं॥
—गो० कर्मकांड, गा० ७४०,७४१

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में यह बतलाया गया है कि किस बंधस्थान में कितने उदयस्थान और कितने सत्तास्थान होते हैं। लेकिन यह ज्ञात नहीं होता है कि वे उदय और सत्तास्थान कितनी प्रकृति वाले हैं और कौन-कौनसे हैं। अतः इस बात को आचार्य मलयगिरि कृत टीका के आधार से स्पष्ट किया जा रहा है।

तेईस, पच्चीस और छब्बीस प्रकृतिक बंधस्थानों में से प्रत्येक में नौ उदयस्थान और पाँच सत्तास्थान हैं—'नव पंचोदय संता·····'। इनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—तेईस प्रकृतिक बंधस्थान में अपर्याप्त एकेन्द्रिय योग्य प्रकृतियों का बंध होता है और इसको एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य बांधते हैं। इन तेईस प्रकृतियों को बांधने वाले जीवों के सामान्य से २१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, ये नौ उदयस्थान होते हैं। इन उदयस्थानों को इस प्रकार घटित करना चाहिये—जो एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य तेईस प्रकृतियों का बंध कर रहा है, उसको भव के अपान्तराल में तो २१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। क्योंकि २१ प्रकृतियों के उदय में अपर्याप्त एकेन्द्रिय के योग्य २३ प्रकृतियों का बंध सम्भव है।

२४ प्रकृतिक उदयस्थान अपर्याप्त और पर्याप्त एकेन्द्रियों के होता है। क्योंकि यह उदयस्थान एकेन्द्रियों के सिवाय अन्यत्र नहीं पाया जाता है। २५ प्रकृतिक उदयस्थान पर्याप्त एकेन्द्रियों और वैक्रिय शरीर को प्राप्त मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों के होता है। २६ प्रकृतिक उदयस्थान पर्याप्त एकेन्द्रिय तथा पर्याप्त और अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों के होता है। २७ प्रकृतिक उदयस्थान पर्याप्त एकेन्द्रियों और वैक्रिय शरीर को करने वाले तथा शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों के होता है। २८, २९, ३० प्रकृतिक, ये तीन उदयस्थान

मिथ्यादृष्टि पर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों के होते हैं तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थान मिथ्यादृष्टि विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों के होता है। उक्त उदयस्थान वाले जीवों के सिवाय शेष जीव २३ प्रकृतियों का बंध नहीं करते हैं। अतः २३ प्रकृतिक बंधस्थान में उक्त २१ आदि प्रकृतिक ९ उदयस्थान होते हैं।

२३ प्रकृतियों को बाँधने वाले जीवों के पाँच सत्तास्थान हैं। उनमें ग्रहण की गई प्रकृतियों की संख्या इस प्रकार है—९२, ८८, ८६, ८० और ७८। इनका स्पष्टीकरण यह है—२१ प्रकृतियों के उदय वाले उक्त जीवों के तो सब सत्तास्थान पाये जाते हैं, केवल मनुष्यों के ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं होता है, क्योंकि मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी की उद्वलना करने पर ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। किन्तु मनुष्यों के इन दो प्रकृतियों की उद्वलना सम्भव नहीं है।

२४ प्रकृतिक उदयस्थान के समय भी पाँचों सत्तास्थान होते हैं। लेकिन वैक्रिय शरीर को करने वाले वायुकायिक जीवों के २४ प्रकृतिक उदयस्थान के रहते हुए ८० और ७८ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान नहीं होते हैं। क्योंकि इनके वैक्रियषट्क और मनुष्यद्विक की सत्ता नियम से है। ये जीव वैक्रिय शरीर का तो साक्षात ही अनुभव कर रहे हैं। अतः इनके वैक्रियद्विक की उद्वलना सम्भव नहीं है और इसके अभाव में देवद्विक और नरकद्विक की भी उद्वलना सम्भव नहीं है, क्योंकि वैक्रियषट्क की उद्वलना एक साथ ही होती है, यह स्वाभाविक नियम है और वैक्रियषट्क की उद्वलना हो जाने पर ही मनुष्यद्विक की उद्वलना होती है, अन्यथा नहीं होती है। चूर्णि में भी कहा है—

वेउव्वियछक्कं उव्वलेउं पच्छा मणुयदुगं उव्वलेइ।

अर्थात् वैक्रियषट्क की उद्वलना करने के अनन्तर ही यह जीव मनुष्यद्विक की उद्वलना करता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि

वैक्रिय शरीर को करने वाले वायुकायिक जीवों के २४ प्रकृतिक उदयस्थान रहते ९२, ८८ और ८६ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान ही होते हैं किन्तु ८० और ७८ प्रकृति वाले सत्तास्थान नहीं होते हैं।

२५ प्रकृतिक उदयस्थान के होते हुए भी उक्त पाँच सत्तास्थान होते हैं। किन्तु उनमें से ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान वैक्रिय शरीर को नहीं करने वाले वायुकायिक जीवों के तथा अग्निकायिक जीवों के ही होते हैं, अन्य को नहीं, क्योंकि अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों को छोड़कर अन्य सब पर्याप्त जीव नियम से मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी का बंध करते हैं—

तेऊवाऊवज्जो पज्जत्तगो मणुयगइं नियमा बंधेइ।

चूर्णिकार का मत है कि अग्निकायिक, वायुकायिक जीवों को छोड़कर अन्य पर्याप्त जीव मनुष्यगति का नियम से बंध करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान अग्निकायिक जीवों को और वैक्रिय शरीर को नहीं करने वाले वायुकायिक जीवों को छोड़कर अन्यत्र प्राप्त नहीं होता है।

२६ प्रकृतिक उदयस्थान में भी उक्त पाँच सत्तास्थान होते हैं। किन्तु यह विशेष है कि ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान वैक्रिय शरीर को नहीं करने वाले वायुकायिक जीवों के तथा अग्निकायिक जीवों के होता है तथा जिन पर्याप्त और अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों में उक्त अग्निकायिक और वायुकायिक जीव उत्पन्न हुए हैं, उनको भी जब तक मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी का बंध नहीं हुआ है, तब तक ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है।

२७ प्रकृतिक उदयस्थान में ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान को छोड़कर शेष चार सत्तास्थान होते हैं। क्योंकि २७ प्रकृतिक उदयस्थान अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों को छोड़कर पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय और वैक्रिय शरीर करने वाले तिर्यंच और मनुष्यों को

होता है। परन्तु इनके मनुष्यद्विक की सत्ता होने से ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं पाया जाता है।

यहाँ जिज्ञासु का प्रश्न है कि अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों के २७ प्रकृतिक उदयस्थान न पाये जाने का कारण क्या है? तो इसका समाधान यह है कि एकेन्द्रियों के २७ प्रकृतिक उदयस्थान आतप और उद्योत में से किसी एक प्रकृति के मिलाने पर होता है, किन्तु अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों के आतप और उद्योत का उदय होता नहीं है। इसीलिये २७ प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होता है।[1]

२८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक उदयस्थानों में ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान को छोड़कर शेष चार सत्तास्थान नियम से होते हैं। क्योंकि २८, २९ और ३० प्रकृतियों का उदय पर्याप्त विकलेन्द्रियों, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों को होता है और ३१ प्रकृतिक उदयस्थान पर्याप्त विकलेन्द्रियों और पंचेन्द्रिय तिर्यंचों को होता है। परन्तु इन जीवों के मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी की सत्ता नियम से पाई जाती है। अतः उन उदयस्थानों में ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं होता। इस प्रकार २३ प्रकृतियों का बंध करने वाले जीवों के यथायोग्य नौ उदयस्थानों की अपेक्षा चालीस सत्तास्थान होते हैं।

२५ और २६ प्रकृतियों का बंध करने वाले जीवों के भी उदयस्थान और सत्तास्थान इसी प्रकार जानने चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि पर्याप्त एकेन्द्रिय योग्य २५ और २६ प्रकृतियों का बंध करने वाले देवों के २१, २५, २७, २८, २९ और ३० प्रकृतिक उदयस्थानों में ९२ और ८८ प्रकृतिक ये दो सत्तास्थान ही प्राप्त होते हैं। अपर्याप्त

---

१ अथ कथं तेजोवायूनां सप्तविंशत्युदयो न भवति येन तद्वर्जनं क्रियते? उच्यते—सप्तविंशत्युदय एकेन्द्रियाणामातप-उद्योतान्यतरप्रक्षेपे सति प्राप्यते, न च तेजोवायुष्वातप-उद्योतोदयः सम्भवति, ततस्तद्वर्जनम्।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १९०

विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों के योग्य २५ प्रकृतियों का बंध देव नहीं करते हैं। क्योंकि उक्त अपर्याप्त जीवों में देव उत्पन्न नहीं होते हैं। अतः सामान्य से २५ और २६ प्रकृतिक, इनमें से प्रत्येक बंधस्थान में नौ उदयस्थानों की अपेक्षा ४० सत्तास्थान होते हैं।

२३, २५ और २६ प्रकृतिक बंधस्थानों को बतलाने के बाद अब २८ प्रकृतिक बंधस्थान के उदय व सत्तास्थान बतलाते हैं कि "अट्ठ चउर-ट्ठवीसे" अर्थात् आठ उदयस्थान और चार सत्तास्थान होते हैं। आठ उदयस्थान इस प्रकार की संख्या वाले हैं—२१,२५,२६,२७,२८,२९,३० और ३१ प्रकृतिक। २८ प्रकृतिक बंधस्थान के दो भेद हैं—१. देवगति-प्रायोग्य, २. नरकगति-प्रायोग्य। इनमें से देवगति के योग्य २८ प्रकृतियों का बन्ध होते समय नाना जीवों की अपेक्षा उपर्युक्त आठों ही उदयस्थान होते हैं और नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध होते समय ३० और ३१ प्रकृतिक, ये दो ही उदयस्थान होते हैं।

उनमें से देवगति के योग्य २८ प्रकृतियों का बंध करने वाले जीवों के २१ प्रकृतिक उदयस्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि या वेदक सम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्यों के भव के अपान्तराल में रहते समय होता है। २५ प्रकृतिक उदयस्थान आहारक संयतों के और वैक्रिय शरीर को करने वाले सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंचों के होता है। २६ प्रकृतिक उदयस्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि या वेदक सम्यग्दृष्टि शरीरस्थ पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यों के होता है। २७ प्रकृतिक उदयस्थान आहारक संयतों के, सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि वैक्रिय शरीर करने वाले तिर्यंच और मनुष्यों के होता है। २८ और २९ प्रकृतिक उदयस्थान क्रम से शरीर पर्याप्ति और प्राणापान पर्याप्ति से पर्याप्त हुए क्षायिक सम्यग्दृष्टि या वेदक सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों के तथा आहारक संयत, वैक्रिय संयत और वैक्रिय शरीर को करने वाले सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और

मनुष्यों के होते हैं। ३० प्रकृतिक उदयस्थान सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि या सम्यग्मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों के तथा आहारक संयत और वैक्रिय संयतों के होता है। ३१ प्रकृतिक उदयस्थान सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के होता है।

नरकगति के योग्य २८ प्रकृतियों का बंध होते समय ३० प्रकृतिक उदयस्थान मिथ्यादृष्टि पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यों के होता है तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थान मिथ्यादृष्टि पंचेन्द्रिय तिर्यंचों को होता है।

अब २८ प्रकृतिक बंधस्थान में सत्तास्थानों की अपेक्षा विचार करते हैं। २८ प्रकृतियों का बंध करने वाले जीवों के सामान्य से ९२, ८९, ८८ और ८६ प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान हैं। उसमें भी जिसके २१ प्रकृतियों का उदय हो और देवगति के योग्य २८ प्रकृतियों का बंध होता हो, उसके ९२ और ८८ ये दो ही सत्तास्थान होते हैं। क्योंकि यहाँ तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता नहीं होती है। यदि तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता मानें तो देवगति के योग्य २८ प्रकृतिक बंधस्थान नहीं बनता है।

२५ प्रकृतियों का उदय रहते हुए २८ प्रकृतियों का बंध आहारक संयत और वैक्रिय शरीर को करने वाले तिर्यंच और मनुष्यों के होता है। अतः यहाँ भी सामान्य से ९२ और ८८ प्रकृतिक, ये दो ही सत्तास्थान होते हैं। इनमें से आहारक संयतों के आहारकचतुष्क की सत्ता नियम से होती है, जिससे इनके ९२ प्रकृतियों की ही सत्ता होगी। शेष जीवों के आहारकचतुष्क की सत्ता हो भी और न भी हो, जिससे इनके दोनों सत्तास्थान बन जाते हैं।

२६, २७, २८ और २९ प्रकृतियों के उदय में भी ये दो ९२ और ८८ प्रकृतिक सत्तास्थान होते हैं।

३० प्रकृतिक उदयस्थान में देवगति या नरकगति के योग्य २८ प्रकृतियों का बंध करने वाले जीवों के सामान्य से ९२, ८९, ८८ और ८६ प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान होते हैं। इनमें से ९२ और ८८ प्रकृतिक

सत्तास्थानों का विचार तो पूर्ववत् है और शेष दो सत्तास्थानों के बारे में यह विशेषता जानना चाहिए कि किसी एक मनुष्य ने नरकायु का बंध करने के बाद वेदक सम्यग्दृष्टि होकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध किया, अनन्तर मनुष्य पर्याय के अन्त में वह सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यादृष्टि हुआ तब उसके अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में तीर्थंकर प्रकृति का बंध न होकर २८ प्रकृतियों का ही बंध होता है और सत्ता में ८६ प्रकृतियाँ ही प्राप्त होती हैं, जिसमें यहाँ ८६ प्रकृतियों की सत्ता बतलाई है। ९३ प्रकृतियों में से तीर्थंकर, आहारकचतुष्क, देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी और वैक्रिय चतुष्क इन १३ प्रकृतियों के बिना ८० प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। इस प्रकार ८० प्रकृतियों की सत्ता वाला कोई जीव पंचेन्द्रिय तिर्यंच या मनुष्य होकर सब पर्याप्तियों की पूर्णता को प्राप्त हुआ और अनन्तर यदि वह विशुद्ध परिणाम वाला हुआ तो उसने देवगति के योग्य २८ प्रकृतियों का बंध किया और इस प्रकार देवद्विक और वैक्रियचतुष्क की सत्ता प्राप्त की, अतः उसके २८ प्रकृतियों के बंध के समय ८६ प्रकृतियों की सत्ता होती है और यदि वह जीव संक्लेश परिणाम वाला हुआ तो उसके नरकगति योग्य २८ प्रकृतियों का बंध होता है और इस प्रकार नरकद्विक और वैक्रिय-चतुष्क की सत्ता प्राप्त हो जाने के कारण भी ८६ प्रकृतिक सत्तास्थान होता है। इस प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थान में २८ प्रकृतियों का बंध होते समय ९२, ८९, ८८ और ८६ प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान होते हैं।

३१ प्रकृतिक उदयस्थान में ९२, ८८ और ८६ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान होते हैं। यहाँ ८९ प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं होता है। क्योंकि जिसके २८ प्रकृतियों का बंध और ३१ प्रकृतियों का उदय है, वह पंचेन्द्रिय तिर्यंच ही होगा और तिर्यंचों के तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता नहीं है, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाला मनुष्य तिर्यंचों में

उत्पन्न नहीं होता है। इसीलिये यहाँ ८६ प्रकृतिक सत्तास्थान का निषेध किया है।

२६ और ३० प्रकृतिक बंधस्थानों में से प्रत्येक में ६ उदयस्थान और ७ सत्तास्थान होते हैं—"नवसत्तुगतीस तीसम्मि"। इनका विवेचन नीचे किया जाता है।

२६ प्रकृतिक बंधस्थान में २१, २४, २५, २६, २७, २८, २६, ३० और ३१ प्रकृतिक, ये ६ उदयस्थान हैं तथा ६३, ६२, ८६, ८८, ८६, ८० और ७८ प्रकृतिक, ये ७ सत्तास्थान हैं। इनमें से पहले उदयस्थानों का स्पष्टीकरण करते हैं कि २१ प्रकृतियों का उदय तिर्यंच और मनुष्यों के योग्य २६ प्रकृतियों का बंध करने वाले पर्याप्त और अपर्याप्त एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यंच और मनुष्यों के और देव व नारकों के होता है। २४ प्रकृतियों का उदय पर्याप्त एकेन्द्रियों के, देव और नारकों के तथा वैक्रिय शरीर को करने वाले मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों के होता है। २५ प्रकृतियों का उदय पर्याप्त एकेन्द्रियों के तथा पर्याप्त और अपर्याप्त विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों के होता है। २७ प्रकृतियों का उदय पर्याप्त एकेन्द्रियों के, देव और नारकों तथा वैक्रिय शरीर को करने वाले मिथ्यादृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों को होता है। २८ और २६ प्रकृतियों का उदय विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों के तथा वैक्रिय शरीर को करने वाले तिर्यंच और मनुष्यों के तथा देव और नारकों के होता है। ३० प्रकृतियों का उदय विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों के तथा उद्योत का वेदन करने वाले देवों के होता है और ३१ प्रकृतियों का उदय उद्योत का वेदन करने वाले पर्याप्त विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रियों के होता है तथा देवगति के योग्य २६ प्रकृतियों का बंध करने वाले अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्यों के २१, २६, २८, २६ और ३० प्रकृतिक, ये पाँच उदयस्थान होते हैं। आहारक संयतों और वैक्रिय संयतों के २५, २७, २८, २६ और ३०

प्रकृतिक, ये पाँच उदयस्थान होते हैं। वैक्रिय शरीर को करने वाले असंयत और संयतासंयत मनुष्यों के ३० के बिना ५ उदयस्थान होते हैं। मनुष्यों में संयतों को छोड़कर यदि अन्य मनुष्य वैक्रिय शरीर को करते हैं तो उनके उद्योत का उदय नहीं होता। अतः यहाँ ३० प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होता है। इस प्रकार २६ प्रकृतिक बंधस्थान में उदयस्थानों का विचार किया गया कि २१, २४, २५, २६, २७, २८, २६, ३० और ३१ प्रकृतिक, ये नौ उदयस्थान हैं।

अब सत्तास्थानों का विचार करते हैं। पूर्व में संकेत किया गया है कि २६ प्रकृतिक बंधस्थान में ६३, ६२, ८६, ८८, ८६, ८० और ७८ प्रकृति वाले सात सत्तास्थान हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है— यदि विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रिय के योग्य २६ प्रकृतियों का बंध करने वाले पर्याप्त और अपर्याप्त एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय तथा तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों के २१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है तो वहाँ ६२, ८८, ८६, ८० और ७८, ये पाँच सत्तास्थान होते हैं। इसी प्रकार २४, २५ और २६ प्रकृतिक उदयस्थानों में उक्त पाँच सत्तास्थान जानना चाहिये तथा २७, २८, २६, ३० और ३१ प्रकृतिक, इन पाँच उदयस्थानों में ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान को छोड़कर शेष चार सत्तास्थान होते हैं। इसका विचार जैसा २३ प्रकृतियों का बंध करने वाले जीवों के कर आये हैं वैसा ही यहाँ भी समझ लेना चाहिए। मनुष्यगति के योग्य २६ प्रकृतियों का बंध करने वाले एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों के तथा मनुष्य व तिर्यंचगति के योग्य २६ प्रकृतियों का बंध करने वाले मनुष्यों के अपने-अपने योग्य उदयस्थानों में रहते हुए ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान को छोड़कर शेष चार वे ही सत्तास्थान होते हैं। तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यगति के योग्य २६ प्रकृतियों का बंध करने वाले देव और नारकों के अपने-अपने उदयस्थानों में ६२ और ८८ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान

होते हैं किन्तु मनुष्यगति के योग्य २९ प्रकृतियों का बन्ध करने वाले मिथ्यादृष्टि नारक के तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता रहते हुए अपने पाँच उदयस्थानों में एक ८९ प्रकृतिक सत्तास्थान ही होता है। क्योंकि जो तीर्थंकर प्रकृति सहित हो वह यदि आहारकचतुष्क रहित होगा तो ही उसका मिथ्यात्व में जाना संभव है, क्योंकि तीर्थंकर और आहारकचतुष्क इन दोनों की एक साथ सत्ता मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में नहीं पाये जाने का नियम है।[1] अतः ९३ में से आहारकचतुष्क को निकाल देने पर उस नारक के ८९ प्रकृतियों की ही सत्ता पाई जाती है।

तीर्थंकर प्रकृति के साथ देवगति के योग्य २९ प्रकृतियों का बंध करने वाले अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य के २१ प्रकृतियों का उदय रहते हुए ९३ और ८९ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान होते हैं। इसी प्रकार २५, २६, २७, २८, २९ और ३० प्रकृतिक, इन छह उदयस्थानों में भी ये ही दो सत्तास्थान जानना चाहिये। किन्तु आहारक संयतों के अपने योग्य उदयस्थानों के रहते हुए ९३ प्रकृतिक सत्तास्थान ही समझना चाहिये।

इस प्रकार सामान्य से २९ प्रकृतिक बंधस्थान में २१ प्रकृतियों के उदय में ७, चौबीस प्रकृतियों के उदय में ५, पच्चीस प्रकृतियों के उदय में ७, छब्बीस प्रकृतियों के उदय में ७, सत्ताईस प्रकृतियों के

---

१ तित्थाहारा जुगवं सत्वं तित्थं ण मिच्छगादितिए।
तस्सत्तकम्मियाणं तग्गुणठाणं ण संभवदि॥
—गो० कर्मकांड गा० ३३३

उक्त उद्धरण में यह बताया है कि तीर्थंकर और आहारकचतुष्क, इनका एक साथ सत्त्व मिथ्यादृष्टि जीव को नहीं पाया जाता है। लेकिन गो० कर्मकांड के सत्ता अधिकार की गाथा ३६५, ३६६ से इस बात का भी पता लगता है कि मिथ्यादृष्टि के भी तीर्थंकर और आहारकचतुष्क की सत्ता एक साथ पाई जा सकती है, ऐसा भी एक मत रहा है।

उदय में ६, अट्ठाईस प्रकृतियों के उदय में ६, उनतीस प्रकृतियों के उदय में ६, तीस प्रकृतियों के उदय में ६ और इकतीस प्रकृतियों के उदय में ४ सत्तास्थान होते हैं। इन सब का कुल जोड़ ७+५+७+७+६+६+६+६+४=५४ होता है।

अब तीस प्रकृतिक बंधस्थान का विचार करते हैं। जिस प्रकार तिर्यंचगति के योग्य २९ प्रकृतियों का बंध करने वाले एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय, मनुष्य, देव और नारकों के उदयस्थानों का विचार किया उसी प्रकार उद्योत सहित तिर्यंचगति के योग्य ३० प्रकृतियों का बंध करने वाले एकेन्द्रियादिक के उदयस्थान और सत्तास्थानों का चिन्तन करना चाहिये। उसमें ३० प्रकृतियों को बांधने वाले देवों के २१ प्रकृतिक उदयस्थान में ९३ और ८९ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान होते हैं तथा २१ प्रकृतियों के उदय से युक्त नारकों के ८९ प्रकृतिक एक ही सत्तास्थान होता है, ९३ प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं होता है। क्योंकि तीर्थंकर और आहारक चतुष्क की सत्ता वाला जीव नारकों में उत्पन्न नहीं होता है—

जस्स तित्थगराऽऽहारगाणि जुगवं संति सो नेरइएसु न उववज्जइ।

जिसके तीर्थंकर और आहारकचतुष्क, इनकी एक साथ सत्ता है वह नारकों में उत्पन्न नहीं होता है। यह चूर्णिकार का मत भी उक्त मंतव्य का समर्थन करता है।

इसी प्रकार २५, २७, २८, २९ और ३० प्रकृतिक उदयस्थानों में भी समझना चाहिए। किन्तु इतनी विशेषता है कि नारकों के ३० प्रकृतिक उदयस्थान नहीं है। क्योंकि ३० प्रकृतिक उदयस्थान उद्योत प्रकृति के सद्भाव में पाया जाता है परन्तु नारकों के उद्योत का उदय नहीं पाया जाता है।

इस प्रकार सामान्य से ३० प्रकृतियों का बंध करने वाले जीवों

के २१ प्रकृतियों के उदय में ७, चौबीस प्रकृतियों के उदय में ५, पच्चीस प्रकृतियों के उदय में ७, छब्बीस प्रकृतियों के उदय में ५, सत्ताईस प्रकृतियों के उदय में ६, अट्ठाईस प्रकृतियों के उदय में ६, उनतीस प्रकृतियों के उदय में ६, तीस प्रकृतियों के उदय में ६ और इकतीस प्रकृतियों के उदय में ४ सत्तास्थान होते हैं। जिनका कुल जोड़ ७+५+७+५+६+६+६+६+४=५२ होता है।

अब ३१ प्रकृतिक बंधस्थान में उदयस्थान और सत्तास्थान का विचार करते हैं। ३१ प्रकृतिक बंधस्थान में 'एगेगमेगतीसे'–एक उदयस्थान और एक सत्तास्थान होता है। उदयस्थान ३० प्रकृतिक और सत्तास्थान ९३ प्रकृतिक है। वह इस प्रकार समझना चाहिए कि तीर्थंकर और आहारक सहित देवगति योग्य ३१ प्रकृतियों का बंध अप्रमत्तसंयत और अपूर्वकरण, इन दो गुणस्थानों में होता है। परन्तु इनके न तो विक्रिय होती है और न आहारक समुद्घात ही होता है। इसलिये यहाँ २५ प्रकृतिक आदि उदयस्थान न होकर एक ३० प्रकृतिक उदयस्थान ही होता है। चूँकि इनके आहारक और तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है, इसलिये यहां एक ९३ प्रकृतिक ही सत्तास्थान होता है। इस प्रकार ३१ प्रकृतिक बंधस्थान में ३० प्रकृतिक उदयस्थान और ९३ प्रकृतिक सत्तास्थान माना गया है।

अब एक प्रकृतिक बंधस्थान में उदयस्थान और सत्तास्थानों का विचार करते हैं। एक प्रकृतिक बंधस्थान के उदयस्थान और सत्तास्थानों की संख्या बतलाने के लिये गाथा में संकेत है कि "एगे एगुदय अट्ठसंतम्मि"—अर्थात्—उदयस्थान एक है और सत्तास्थान आठ हैं। उदयस्थान ३० प्रकृतिक है और आठ सत्तास्थान ९३, ९२, ८९, ८८, ८०, ७९, ७६ और ७५ प्रकृतिक हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—एक प्रकृतिक बंधस्थान में एक यशःकीर्ति प्रकृति का बंध होता

है जो अपूर्वकरण गुणस्थान के सातवें भाग से लेकर दसवें गुणस्थान तक होता है। यह जीव अत्यन्त विशुद्ध होने के कारण वैक्रिय और आहारक समुद्घात को नहीं करता है, जिससे इसके २५ आदि प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होते किन्तु एक ३० प्रकृतिक ही उदयस्थान होता है।

एक प्रकृतिक बंधस्थान में जो आठ सत्तास्थान बताये हैं, उनमें से आदि के चार ९३, ९२, ८९ और ८८ प्रकृतिक सत्तास्थान उपशमश्रेणि की अपेक्षा और अंतिम चार ८०,७९,७६ और ७५ प्रकृतिक सत्तास्थान क्षपकश्रेणि की अपेक्षा कहे हैं। परन्तु जब तक अनिवृत्तिकरण के प्रथम भाग में स्थावर, सूक्ष्म, तिर्यंचद्विक, नरकद्विक, जातिचतुष्क, साधारण, आतप और उद्योत, इन तेरह प्रकृतियों का क्षय नहीं होता तब तक ९३ आदि प्रकृतिक, प्रारम्भ के चार सत्तास्थान भी क्षपक-श्रेणि में पाये जाते हैं।

इस प्रकार एक प्रकृतिक बंधस्थान में एक ३० प्रकृतिक उदयस्थान तथा ९३, ९२, ८९, ८८, ८०, ७९, ७६ और ७५ प्रकृतिक, ये आठ सत्तास्थान समझना चाहिये।

अब उपरतबंध की स्थिति के उदयस्थानों और सत्तास्थानों का विचार करते हैं। बंध के अभाव में भी उदय एवं सत्ता स्थानों का विचार करने का कारण यह है कि नामकर्म का बंध दसवें गुणस्थान तक होता है, आगे के चार गुणस्थानों में नहीं, किन्तु उदय और सत्ता १४वें गुणस्थान तक होती है। फिर भी उसमें विविध दशाओं और जीवों की अपेक्षा अनेक उदयस्थान और सत्तास्थान पाये जाते हैं। इनके लिये गाथा में कहा है—

उवरयबंधे दस दस वेयगसंतम्मि ठाणाणि।

अर्थात्—बंध के अभाव में भी दस उदयस्थान और दस सत्तास्थान

हैं। दस उदयस्थान २०,२१,२६,२७,२८,२९,३०,३१, ९ और ८ प्रकृतिक संख्या वाले हैं तथा सत्तास्थान ९३,९२,८९,८८,८०,७९,७६,७५, ९ और ८ प्रकृतिक संख्या वाले हैं। इनका स्पष्टीकरण यह है कि—

केवली को केवली समुद्घात में ८ समय लगते हैं। इनमें से तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में कार्मण काययोग होता है जिसमें पंचेन्द्रिय जाति, त्रसत्रिक, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति, मनुष्यगति और ध्रुवोदया १२ प्रकृतियां, इस प्रकार कुल मिलाकर २० प्रकृतिक उदयस्थान होता है और तीर्थंकर के बिना ७९ तथा तीर्थंकर और आहारकचतुष्क इन पाँच के बिना ७५ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान होते हैं। यदि इस अवस्था में विद्यमान तीर्थंकर हुए तो उनके एक तीर्थंकर प्रकृति का उदय और सत्ता होने से २१ प्रकृतिक उदयस्थान तथा ८० तथा ७६ प्रकृतिक सत्तास्थान होंगे।

जब केवली समुद्घात के समय औदारिकमिश्र काययोग में रहते हैं तब उनके औदारिकद्विक, वज्रऋषभनाराच संहनन, छह संस्थानों में से कोई एक संस्थान, उपघात और प्रत्येक, इन छह प्रकृतियों को पूर्वोक्त २० प्रकृतियों में मिलाने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है तथा ७९ और ७५ प्रकृतिक ये दो सत्तास्थान होते हैं।

यदि तीर्थंकर औदारिकमिश्र काययोग में हुए तो उनके तीर्थंकर प्रकृति उदय व सत्ता में मिल जाने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान तथा ८० और ७६ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान होते हैं।

२६ प्रकृतियों में पराघात, उच्छ्वास, शुभ और अशुभ विहायोगति में से कोई एक तथा सुस्वर और दुःस्वर में से कोई एक, इन चार प्रकृतियों के मिला देने पर ३० प्रकृतिक उदयस्थान होता है जो औदारिक काययोग में विद्यमान सामान्य केवली तथा ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में प्राप्त होता है। अतएव ३० प्रकृतिक उदयस्थान

में ९३,९२,८९,८८,७९ और ७५ प्रकृतिक, ये छह सत्तास्थान होते हैं। इनमें से आदि के चार सत्तास्थान उपशान्तमोह गुणस्थान की अपेक्षा और अंत के दो सत्तास्थान क्षीणमोह और सयोगिकेवली की अपेक्षा बताये हैं। यदि इस ३० प्रकृतिक उदयस्थान में से स्वर प्रकृति को निकालकर तीर्थंकर प्रकृति को मिलायें तो भी उक्त उदयस्थान प्राप्त होता है जो तीर्थंकर केवली के वचनयोग के निरोध करने पर होता है। किन्तु इसमें सत्तास्थान ८० और ७६ प्रकृतिक, ये दो होते हैं। क्योंकि सामान्य केवली के जो ७९ और ७५ प्रकृतिक सत्तास्थान कह आये हैं उनमें तीर्थंकर प्रकृति के मिल जाने से ८० और ७६ प्रकृतिक ही सत्तास्थान प्राप्त होते हैं।

सामान्य केवली के जो ३० प्रकृतिक उदयस्थान बतलाया गया है, उसमें तीर्थंकर प्रकृति के मिलाने पर तीर्थंकर केवली के ३१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है और उसी प्रकार ८० व ७६ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान होते हैं। क्योंकि सामान्य केवली के ७५ और ७९ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान बतलाये हैं, उनमें तीर्थंकर प्रकृति के मिलाने से ७६ और ८० की संख्या होती है।

सामान्य केवली के जो ३० प्रकृतिक उदयस्थान बतला आये हैं, उसमें से वचनयोग के निरोध करने पर स्वर प्रकृति निकल जाती है, जिससे २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है अथवा तीर्थंकर केवली के जो ३० प्रकृतिक उदयस्थान बतलाया है उसमें से श्वासोच्छ्वास के निरोध करने पर उच्छ्वास प्रकृति के निकल जाने से २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इनमें से पहला उदयस्थान सामान्य केवली के और दूसरा उदयस्थान तीर्थंकर केवली के होता है। अतः पहले २९ प्रकृतिक उदयस्थान में ७९ और ७५ प्रकृतिक और दूसरे २९ प्रकृतिक उदयस्थान में ८० और ७६ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान होते हैं।

सामान्य केवली के वचनयोग के निरोध करने पर २९ प्रकृतिक उदयस्थान बताया गया है, उसमें से उच्छ्वास का निरोध करने पर उच्छ्वास प्रकृति के कम हो जाने से २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह सामान्य केवली के होता है अतः यहाँ सत्तास्थान ७९ और ७५ प्रकृतिक, ये दो होते हैं।

तेरहवें गुणस्थान में ९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है और उपान्त्य समय तक ८० और ७९ तथा अन्तिम समय में ९ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान होते हैं। किन्तु सामान्य केवली की अपेक्षा अयोगि गुणस्थान में ८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है तथा उपान्त्य समय तक ७९ व ७५ और अन्तिम समय में ८ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान होते हैं।

इस प्रकार से बंध के अभाव में दस उदयस्थान और दस सत्तास्थान होने का कथन समझना चाहिए।

नामकर्म के बंध, उदय और सत्तास्थानों के संवेध भंगों का विवरण इस प्रकार है—

गुण स्थान	बंध स्थान ८	भंग	उदयस्थान १२		उदय भंग	सत्तास्थान १२	संवेधभंग
१	२३	४	२१		३२	९२,८८,८६,८०,७८	५
			२४		११	९२,८८,८६,८०,७८	५
			२५		२३	,, ,, ,, ,,	५
			२६		६००	,, ,, ,, ,,	५
			२७	९	२२	९२,८८,८६,८०	४
			२८		११८२	,, ,, ,, ,,	४

गुण स्थान	बंध स्थान ८	भंग	उदयस्थान १२		उदयभंग	सत्तास्थान १२	संवेधभंग
			२९		१७६४	९२,८८,८६,८०	४
			३०		२९०६	〃 〃 〃 〃	४
			३१		११६४	〃 〃 〃 〃	४
							४०
१	२५	२५	२१		४०	९२,८८,८६,८०,७८	५
			२४		११	〃 〃 〃 〃 〃	〃
			२५		३१	〃 〃 〃 〃 〃	〃
			२६		६००	〃 〃 〃 〃 〃	〃
			२७		३०	९२,८८,८६,८०	४
			२८	९	११९८	〃 〃 〃 〃	〃
			२९		१७८०	〃 〃 〃 〃	〃
			३०		२९१४	〃 〃 〃 〃	〃
			३१		११६४	〃 〃 〃 〃	〃
							४०
१	२६	१६	२१		४०	९२,८८,८६,८०,७८	५
			२४		११	〃 〃 〃 〃 〃	〃
			२५		३१	〃 〃 〃 〃 〃	〃
			२६	९	६००	〃 〃 〃 〃 〃	〃
			२७		३०	९२,८८,८६,८०	४
			२८		११९८	〃 〃 〃 〃	〃
			२९		१७८०	〃 〃 〃 〃	〃

गुण स्थान	बंध स्थान ८	भंग	उदयस्थान १२		उदयभंग	सत्तास्थान १२	सत्ताभंग
			२०		२६१४	९२,८८,८६,८०	४
			३१		११६४	,, ,, ,, ,,	,,
							४०
१से८	२८	९	२१		१६	९२,८८	२
			२५		१७	,, ,,	,,
			२६		५७६	,, ,,	,,
			२७		१७	,, ,,	,,
			२८	८	११७६	,, ,,	,,
			२९		१७५५	,, ,,	,,
			३०		२८९०	९२,८९,८८,८६	४
			३१		११५२	९२,८८,८६	३
							१९
१से८	२९	९२४८	२१		४१	९३,९२,८९,८८,८६,८०,७८	७
			२४		११	९२,८८,८६,८०,७८	५
			२५	९	३३	९३,९२,८९,८८,८६,८०,७८	७
			२६		६००	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,	७
			२७		३२	९३,९२,८९,८८,८६,८०	६
			२८		१२०२	,, ,, ,, ,, ,, ,,	६
			२९		१७८४	,, ,, ,, ,, ,, ,,	६
			३०		२९१६	,, ,, ,, ,, ,, ,,	६
			३१		११६४	९२,८८,८६,८०	४
							५४

गुण स्थान	बंध स्थान ८	भंग	उदयस्थान १२		उदय भंग	सत्तास्थान १२	संवेधभंग
१,२,४	३०	४६४१	२१		४१	९३,९२,८९,८८,८६,८०,७८	७
७,८			२४		११	९२,८८'८६,८०,७८	५
			२५		३२	९३,९२,८९,८८,८६,८०,७८	७
			२६		६००	९२,८८,८६,८०,७८	५
			२७	९	३१	९३,९२,८९,८८,८६,८०	६
			२८		११९९	९३,९२,८९,८८,८६,८०	६
			२९		१७८१	" " " " " "	६
			३०		२९१४	" " " " " "	५
			३१		११६४	९२,८८,८६,८०	४
							५२
७वें८	३१	१	३०	१	१४४	९३	१
							१
८,९	१	१	३०	१	७२	९३,९२,८९,८८,८०,७९,७६	८
१०					७५		८
११	०	०	२०		१	७९,७५	२
१२			२१		१	८०,७६	२
१३			२६		६	७९,७५	२
१४			२७	७	१	८०,७६	२
			२८		१२	७९,७५	२
			२९		१३	८०,७९,७६,७५	४

गुण स्थान	बंध स्थान	भंग	उदयस्थान १२	उदयभंग	सत्तास्थान १२	सत्तास्थान भंग
			३०	७३	९३,९२,८९,८८,८०,७९,७६,७५	८
			३१	१	८०,७६	२
			९	१	८०,७६,९	३
			८ ३	१	७९,७५,८	३
		१३९४५	६५	४६७२४		२८४

इस प्रकार आठों कर्मों की उत्तर प्रकृतियों के बंधस्थान, उदयस्थान और सत्तास्थानों और उनके परस्पर संवेध भंगों का कथन समाप्त हुआ। अब इसी क्रम में उनके जीवस्थानों और गुणस्थानों की अपेक्षा भंग का कथन करते हैं।

तिविगप्पपगइठाणेहिं जीवगुणसन्निएसु ठाणेसु।
भंगा पउंजियव्वा जत्थ जहा संभवो भवइ ॥३३॥

शब्दार्थ—**तिविगप्पपगइठाणेहिं**—तीन विकल्पों के प्रकृतिस्थानों के द्वारा, **जीवगुणसन्निएसु**—जीव और गुण संज्ञा वाले, **ठाणेसु**—स्थानों में, **भंगा**—भंग, **पउंजियव्वा**—घटित करना चाहिए, **जत्थ**—जहां, **जहा संभवो**—जितने संभव, **भवइ**—होते हैं।

गाथार्थ—तीन विकल्पों (बंध, उदय और सत्ता) के प्रकृतिस्थानों के द्वारा जीव और गुण संज्ञा वाले स्थानों (जीवस्थान, गुणस्थानों) में जहां जितने भंग संभव हों वहां उतने भंग घटित कर लेना चाहिए।

विशेषार्थ—अभी तक ग्रन्थ में मूल और उत्तर प्रकृतियों के बंधस्थान, उदयस्थान और सत्तास्थानों व उनके संवेध भंग बतलाये हैं तथा साथ ही मूल प्रकृतियों के इन स्थानों और उनके संवेध भंगों

के जीवस्थानों और गुणस्थानों की अपेक्षा स्वामी का निर्देश किया है। किन्तु उत्तर प्रकृतियों की अपेक्षा बंधस्थान, उदयस्थान और उनके संवेध भंगों के स्वामी का निर्देश नहीं किया है। इनके निर्देश करने की प्रतिज्ञा इस गाथा में की गई है कि तीनों प्रकार के प्रकृतिस्थानों के सब भंग जीवस्थानों और गुणस्थानों में घटित करके बतलाये जायेंगे।

जीवस्थानों और गुणस्थानों में से पहले यहाँ जीवस्थानों में तीनों प्रकार के प्रकृतिस्थानों के सब भंग घटित करते हैं।

जीवस्थानों के संवेध भंग

पहले अब ज्ञानावरण और अंतराय कर्म के भंग बतलाते हैं।

तेरससु जीवसंखेवएसु नाणंतराय तिविगप्पो।
एक्कम्मि तिदुविगप्पो करणं पइ एत्थ अविगप्पो ॥३४॥

शब्दार्थ—**तेरससु**—तेरह, **जीवसंखेवएसु**—जीव के संक्षेप (स्थानों) के विषय में, **नाणंतराय**—ज्ञानावरण और अंतराय कर्म के, **तिविगप्पो**—तीन विकल्प, **एक्कम्मि**—एक जीवस्थान में, **तिदुविगप्पो**—तीन अथवा दो विकल्प, **करणंपइ**—करण (द्रव्यमन के आश्रय से) की अपेक्षा, **एत्थ**—यहाँ, **अविगप्पो**—विकल्प का अभाव है।

गाथार्थ—आदि के तेरह जीवस्थानों में ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म के तीन विकल्प होते हैं तथा एक जीवस्थान (पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय) में तीन और दो विकल्प होते हैं। द्रव्य-मन की अपेक्षा इनके कोई विकल्प नहीं हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा से जीवस्थानों में संवेध भंगों का कथन प्रारम्भ करते हैं। सर्वप्रथम ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म के भंग बतलाते हैं।

ग्रन्थकार ने जीवस्थान पद के अर्थ का बोध कराने के लिये गाथा में 'जीवसंखेवएसु' पद दिया है अर्थात् जिन अपर्याप्त एकेन्द्रियत्व आदि धर्मों के द्वारा जीव संक्षिप्त यानी संगृहीत किये जाते हैं, उनकी जीवसंक्षेप संज्ञा है—उन्हें जीवस्थान कहते हैं।[1] इस प्रकार जीव-संक्षेप पद को जीवस्थान पद के अर्थ में स्वीकार किया गया है। एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त आदि जीवस्थानों के चौदह भेद चतुर्थ कर्म-ग्रन्थ में बतलाये जा चुके हैं।

उक्त चौदह जीवस्थानों में से आदि के तेरह जीवस्थानों में ज्ञाना-वरण और अंतराय कर्म के तीन विकल्प हैं—'नाणंतराए तिविगप्पो'। इसका स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है—

ज्ञानावरण और अंतराय कर्म की पांच-पांच उत्तर प्रकृतियां हैं और वे सब प्रकृतियां ध्रुवबंधिनी, ध्रुवोदया और ध्रुवसत्ताक हैं। क्योंकि इन दोनों कर्मों की उत्तर प्रकृतियों का अपने-अपने विच्छेद के अन्तिम समय तक बंध, उदय और सत्त्व निरन्तर बना रहता है। अतः आदि के तेरह जीवस्थानों में ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म की उत्तर प्रकृतियों का पांच प्रकृतिक बंध, पांच प्रकृतिक उदय और पांच प्रकृतिक सत्ता, इन तीन विकल्प रूप एक भंग पाया जाता है। क्योंकि इन जीवस्थानों में से किसी भी जीवस्थान में इनके बंध, उदय और सत्ता का विच्छेद नहीं पाया जाता है।

अन्तिम चौदहवें पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म का बंधविच्छेद पहले होता है और उसके बाद उदय तथा सत्ता का विच्छेद होता है। अतः यहां पांच प्रकृतिक बंध,

---

१ संक्षिप्यन्ते—संगृह्यन्ते जीवा एभिरिति संक्षेपाः—अपर्याप्तकैकेन्द्रियत्वा-दयोऽवान्तरजातिभेदाः, जीवानां संक्षेपा जीवसंक्षेपाः जीवस्थानानीत्यर्थः।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० १६५

पाँच प्रकृतिक उदय और पांच प्रकृतिक सत्ता, इस प्रकार तीन विकल्प रूप एक भंग होता है। अनन्तर बंधविच्छेद हो जाने पर पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्ता, इस प्रकार दो विकल्प रूप एक भंग होता है—'एक्कम्मि तिदुविगप्पो।' पाँच प्रकृतिक बंध, उदय और सत्ता, यह तीन विकल्प सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक पाये जाते हैं तथा उसके बाद बंध का विच्छेद हो जाने पर उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थान में पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्ता, यह दो विकल्प होते हैं। क्योंकि उदय और सत्ता का युगपद् विच्छेद हो जाने से अन्य भंग सम्भव नहीं हैं।

पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान की एक और विशेषता बतलाते हैं कि 'करणं पइ एत्थ अविगप्पो' अर्थात् केवलज्ञान के प्राप्त हो जाने के बाद इस जीव को भावमन तो नहीं रहता किन्तु द्रव्यमन ही रहता है और इस अपेक्षा से उसे भी पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय कहते हैं। चूर्णि में भी कहा है—

मणकरणं केवलिणो वि अत्थि तेण सण्णिणो वुच्चंति। मणोविण्णाणं पडुच्च ते सण्णिणो न हुवंति।

अर्थात्—मन नामक करण केवली के भी है, इसलिये वे संज्ञी कहलाते हैं किन्तु वे मानसिक ज्ञान की अपेक्षा संज्ञी नहीं होते हैं।

ऐसे सयोगि और अयोगि केवली जो द्रव्यमन के संयोग से पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय हैं, उनके तीन विकल्प रूप और दो विकल्प रूप भंग नहीं होते हैं। अर्थात केवल द्रव्यमन की अपेक्षा जो जीव पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय कहलाते हैं, उनके ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म के बंध, उदय और सत्व की अपेक्षा कोई भंग नहीं है क्योंकि इन कर्मों के बंध, उदय और सत्ता का विच्छेद केवली होने से पहले ही हो जाता है।

इस प्रकार से जीवस्थानों में ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म के

भंगों को बतलाने के बाद अब दर्शनावरण, वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म के बंधादि स्थानों के भंगों को बतलाते हैं।

तेरे नव चउ पणगं नव संतेगम्मि भंगमेक्कारा।
वेयणियाउयगोए विभज्ज मोहं परं वोच्छं ॥३५॥

शब्दार्थ—**तेरे**—तेरह जीवस्थानों में, **नव**—नौ प्रकृतिक बंध, **चउ पणगं**—चार अथवा पांच प्रकृतिक उदय, **नवसंत**—नौ की सत्ता, **एगम्मि**—एक जीवस्थान में, **भंगमेक्कारा**—ग्यारह भंग होते हैं, **वेयणियाउयगोए**—वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म में, **विभज्ज**—विकल्प करके, **मोहं**—मोहनीय कर्म के, **परं**—आगे, **वोच्छं**—कहेंगे।

गाथार्थ—तेरह जीवस्थानों में नौ प्रकृतिक बंध, चार या पांच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता होती है। एक जीवस्थान में ग्यारह भंग होते हैं। वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म में बंधादि स्थानों का विभाग करके मोहनीय कर्म के बारे में आगे कहेंगे।

विशेषार्थ—गाथा में दर्शनावरण, वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म के बंधादि स्थानों को बतला कर बाद में मोहनीय कर्म के विकल्प बतलाने का संकेत किया है।

दर्शनावरण कर्म के बंधादि विकल्प इस प्रकार हैं कि आदि के तेरह जीवस्थानों में नौ प्रकृतिक बंध, चार या पांच प्रकृतिक उदय तथा नौ प्रकृतिक सत्ता, ये दो भंग होते हैं। अर्थात् नौ प्रकृतिक बंध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता यह एक भंग और नौ प्रकृतिक बंध, पांच प्रकृतिक उदय तथा नौ प्रकृतिक सत्ता यह दूसरा भंग, इस प्रकार आदि के तेरह जीवस्थानों में दो भंग होते हैं। इसका कारण यह है कि प्रारम्भ के तेरह जीवस्थानों में दर्शनावरण कर्म की किसी भी उत्तर प्रकृति का न तो बंधविच्छेद होता है, न उदयविच्छेद

होता है और न सत्ताविच्छेद ही होता है। निद्रा, निद्रा-निद्रा आदि पांच निद्राओं में से एक काल में किसी एक का उदय होता भी है और नहीं भी होता है। इसीलिये इन पाँच निद्राओं में से किसी एक का उदय होने या न होने की अपेक्षा से आदि के तेरह जीवस्थानों के दो भंग बतलाये हैं।

परन्तु एक जो पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान है उसमें ग्यारह भंग होते हैं—'एगम्मि भंगमेक्कारा'। क्योंकि पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में गुणस्थानों के क्रम से दर्शनावरण कर्म की नौ प्रकृतियों का बंध, उदय और सत्ता तथा इनकी व्युच्छित्ति सब कुछ सम्भव है। इसीलिये इस जीवस्थान में दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियों के बंध, उदय और सत्ता की अपेक्षा ११ भंग होने का संकेत किया गया है। इन ग्यारह भंगों का विचार पूर्व में दर्शनावरण के सामान्य संवेध भंगों के प्रसंग में किया जा चुका है। अतः पुनः यहाँ उनका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। जिज्ञासु-जन वहां से इनकी जानकारी कर लेवें।

इस प्रकार से दर्शनावरण कर्म के संवेध भंगों का कथन करने के बाद वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म के भंग बतलाते हैं। लेकिन ग्रन्थ-कर्त्ता ने स्वयं उक्त तीन कर्मों के भंगों का निर्देश नहीं किया और न ही यह बताया कि किस जीवस्थान में कितने भंग होते हैं। किन्तु इनका विवेचन आवश्यक होने से अन्य आधार से इनका स्पष्टीकरण करते हैं।

भाष्य में एक गाथा आई है, जिसमें वेदनीय और गोत्र कर्म के भंगों का विवेचन चौदह जीवस्थानों की अपेक्षा किया गया है। उक्त गाथा इस प्रकार है—

पज्जत्तगसण्णियरे अट्ठ चउक्कं च वेयणियभंगा।
सत्तग तिगं च गोए पत्तेयं जीवठाणेसु॥

अर्थात्—पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में वेदनीय कर्म के आठ भंग और शेष तेरह जीवस्थानों में चार भंग होते हैं तथा गोत्र कर्म के पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में सात भंग और शेष तेरह जीवस्थानों में से प्रत्येक में तीन भंग होते हैं।

उक्त कथन का विशद विवेचन निम्न प्रकार है—वेदनीय कर्म के पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में चौदह गुणस्थान सम्भव हैं अतः उसमें, १. असाता का बन्ध, असाता का उदय और साता-असाता दोनों की सत्ता, २. असाता का बंध, साता का उदय और साता-असाता दोनों की सत्ता, ३. साता का बन्ध, असाता का उदय और साता-असाता की सत्ता, ४. साता का बन्ध, साता का उदय और साता-असाता दोनों की सत्ता, ५. असाता का उदय और साता-असाता दोनों की सत्ता, ६. साता का उदय और साता-असाता दोनों की सत्ता, ७. असाता का उदय और असाता की सत्ता और ८. साता का उदय तथा साता की सत्ता, ये आठ भंग होते हैं। किन्तु प्रारम्भ के तेरह जीवस्थानों में से प्रत्येक के उक्त आठ भंगों में से आदि के चार भंग ही प्राप्त होते हैं। क्योंकि इनमें साता और असाता वेदनीय इन दोनों का यथासम्भव बन्ध, उदय और सत्ता सर्वत्र सम्भव है। इसीलिये भाष्य गाथा में कहा गया है कि 'पज्जत्तगसन्नियरे अट्ठ चउक्कं च वेयणियभंगा।'

वेदनीय कर्म के उक्त आठ भंगों को पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में गुणस्थानों की अपेक्षा इस प्रकार घटित करना चाहिये—

पहला भंग—असाता का बंध, असाता का उदय और साता-असाता की सत्ता तथा दूसरा भंग—असाता का बंध, साता का उदय और साता-असाता की सत्ता, यह दो भंग पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक पाये जाते हैं। क्योंकि आगे के गुणस्थानों में असाता वेदनीय के बंध का अभाव है। तीसरा भंग—

साता का बंध, असाता का उदय और साता-असाता की सत्ता; चौथा भंग—साता का बंध, साता का उदय और साता-असाता की सत्ता, यह दो विकल्प पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान तक पाये जाते हैं। इसके बाद बंध का अभाव हो जाने से पाँचवां भंग—असाता का उदय और साता-असाता की सत्ता तथा छठा भंग—साता का उदय और साता-असाता दोनों की सत्ता, यह दो भंग अयोगिकेवली गुणस्थान में द्विचरम समय तक प्राप्त होते हैं और चरम समय में सातवां भंग—असाता का उदय और असाता की सत्ता तथा आठवां भंग—साता का उदय और साता की सत्ता, यह दो भंग पाये जाते हैं।

सयोगिकेवली और अयोगिकेवली द्रव्यमन के सम्बन्ध से संज्ञी कहे जाते हैं, अतः संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में वेदनीय कर्म के आठ भंग मानने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

इस प्रकार से वेदनीय कर्म के भंगों का कथन करके अब गोत्र कर्म के भंगों को बतलाते हैं कि 'सत्तग तिगं च गोए'—वे इस प्रकार हैं—

गोत्रकर्म के पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में सात भंग प्राप्त होते हैं। वे सात भंग इस प्रकार हैं—१. नीच का बंध, नीच का उदय और नीच की सत्ता, २. नीच का बंध, नीच का उदय और उच्च-नीच दोनों की सत्ता, ३. नीच का बंध, उच्च का उदय और उच्च-नीच दोनों की सत्ता, ४. उच्च का बंध, नीच का उदय और उच्च-नीच दोनों की सत्ता, ५. उच्च का बंध, उच्च का उदय और उच्च-नीच की सत्ता, ६. उच्च का उदय और उच्च-नीच दोनों की सत्ता तथा ७. उच्च का उदय और उच्च की सत्ता।

उक्त सात भंगों में से पहला भंग उन संज्ञियों को होता है जो

अग्निकायिक और वायुकायिक पर्याय से आकर संज्ञियों में उत्पन्न होते हैं, क्योंकि अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों के उच्च गोत्र की उद्वलना देखी जाती है। फिर भी यह भंग संज्ञी जीवों के कुछ समय तक ही पाया जाता है। संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में दूसरा और तीसरा भंग प्रारम्भ के दो गुणस्थान मिथ्यात्व, सासादन की अपेक्षा बताया है। चौथा भंग प्रारम्भ के पांच गुणस्थानों की अपेक्षा से कहा है। पांचवां भंग प्रारम्भ के दस गुणस्थानों की अपेक्षा से कहा है। छठा भंग उपशान्तमोह गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय तक होने की अपेक्षा से कहा है। और सातवां भंग अयोगिकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय की अपेक्षा से कहा है।

लेकिन शेष तेरह जीवस्थानों में उक्त सात भंगों में से पहला, दूसरा और चौथा ये तीन भंग प्राप्त होते हैं। पहला भंग नीच गोत्र का बंध, नीच गोत्र का उदय और नीच गोत्र की सत्ता अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों में उच्च गोत्र की उद्वलना के अनन्तर सर्वदा होता है किन्तु शेष में से उनके भी कुछ काल तक होता है जो अग्निकायिक और वायुकायिक पर्याय से आकर अन्य पृथ्वीकायिक, द्वीन्द्रिय आदि में उत्पन्न हुए हैं। दूसरा भंग—नीच गोत्र का बंध, नीच गोत्र का उदय और उच्च-नीच गोत्र की सत्ता तथा चौथा भंग—उच्च गोत्र का बंध, नीच गोत्र का उदय और उच्च-नीच गोत्र की सत्ता, यह दोनों भंग भी तेरह जीवस्थानों में नीच गोत्र का ही उदय होने से पाये जाते हैं। अन्य विकल्प सम्भव नहीं हैं, क्योंकि तिर्यंचों में उच्च गोत्र का उदय नहीं होता है।

इस प्रकार से भाष्य की गाथा के अनुसार जीवस्थानों में वेदनीय और गोत्र कर्मों के भंगों को बतलाने के बाद अब जीवस्थानों में आयु कर्म के भंगों को बतलाने के लिये भाष्य की गाथा को उद्धृत करते हैं—

पज्जत्तापज्जत्तग समणे पज्जत्त अमण सेसेसु ।
अट्ठावीसं दसगं नवगं पणगं च आउस्स ॥

अर्थात्—पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय, अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय और शेष ग्यारह जीवस्थानों में आयु कर्म के क्रमशः २८, १०, ९ और ५ भंग होते हैं।

आशय यह है कि पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में आयुकर्म के २८ भंग होते हैं। अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में १० तथा पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में ९ भंग होते हैं। इन तीन जीवस्थानों से शेष रहे ग्यारह जीवस्थानों में से प्रत्येक में पांच-पांच भंग होते हैं।

पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में आयुकर्म के अट्ठाईस भंग इस प्रकार समझना चाहिये कि पहले नारकों के ५, तिर्यंचों के ९, मनुष्यों के ९ और देवों के ५ भंग बतला आये हैं, जो कुल मिलाकर २८ भंग होते हैं, वे ही यहां पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय के २८ भंग कहे गये हैं। विशेष विवेचन इस प्रकार है—

नारक जीव के १. परभव की आयु के बंधकाल के पूर्व नरकायु का उदय, नरकायु की सत्ता, २. परभव की आयु बंध होने के समय तिर्यंचायु का बंध, नरकायु का उदय, नरक-तिर्यंचायु की सत्ता अथवा ३. मनुष्यायु का बंध, नरकायु का उदय, नरक-मनुष्यायु की सत्ता, ४. परभव की आयुबंध के उत्तरकाल में नरकायु का उदय और नरक-तिर्यंचायु की सत्ता अथवा ५. नरकायु का उदय और मनुष्य-नरकायु की सत्ता, यह पांच भंग होते हैं। नारक जीव भवप्रत्यय से ही देव और नरकायु बंध नहीं करते हैं अतः परभव की आयु बंधकाल में और बंधोत्तर काल में देव और नरकायु का विकल्प सम्भव नहीं होने से नारक जीवों में आयुकर्म के पांच विकल्प ही होते हैं।

इसी प्रकार देवों में आयुकर्म के पांच विकल्प समझना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि नरकायु के स्थान पर देवायु कहना चाहिये। जैसे कि देवायु का उदय और देवायु की सत्ता इत्यादि।

तिर्यंचों के नौ विकल्प इस प्रकार हैं कि १. तिर्यंचायु का उदय, तिर्यंचायु की सत्ता, यह विकल्प परभव की आयु बंधकाल के पूर्व होता है। २. परभव की आयु बंधकाल में नरकायु का बंध, तिर्यंचायु का उदय, नरक-तिर्यंच आयु की सत्ता अथवा ३. तिर्यंचायु का बंध, तिर्यंचायु का उदय और तिर्यंच-तिर्यंचायु की सत्ता अथवा ४. मनुष्यायु का बंध, तिर्यंचायु का उदय और मनुष्य-तिर्यंचायु की सत्ता अथवा ५. देवायु का बंध, तिर्यंचायु का उदय और देव-तिर्यंचायु की सत्ता। परभवायु के बंधोत्तर काल में ६. तिर्यंचायु का उदय, नरक-तिर्यंचायु की सत्ता अथवा ७. तिर्यंचायु का उदय, तिर्यंच-तिर्यंच आयु की सत्ता अथवा ८. तिर्यंचायु का उदय, मनुष्य-तिर्यंचायु की सत्ता अथवा ९. तिर्यंचायु का उदय, देव-तिर्यंचायु की सत्ता। इस प्रकार संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंच के आयुकर्म के ९ भंग होते हैं।

इसी प्रकार मनुष्यों के भी नौ भंग समझना चाहिये, लेकिन इतनी विशेषता है कि तिर्यंचायु के स्थान पर मनुष्यायु का विधान कर लेवें। जैसे कि मनुष्यायु का उदय और मनुष्यायु की सत्ता इत्यादि।

इस प्रकार नारक के ५, देव के ५, तिर्यंच के ९ और मनुष्य के ९ विकल्पों का कुल जोड़ ५+५+९+९=२८ होता है। इसीलिये पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में आयुकर्म के २८ भंग माने जाते हैं।

संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त जीव के दस भंग हैं। संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त जीव मनुष्य और तिर्यंच ही होते हैं, क्योंकि देव और नारकों

में अपर्याप्त नाम कर्म का उदय नहीं होता है तथा इनके परभव संबंधी मनुष्यायु तथा तिर्यंचायु का ही बन्ध होता है, अतः इनके मनुष्यगति की अपेक्षा ५ और तिर्यंचगति की अपेक्षा ५ भंग, इस प्रकार कुल दस भंग होते हैं। जैसे कि तिर्यंचगति की अपेक्षा १. आयुबंध के पहले तिर्यंचायु का उदय और तिर्यंचायु की सत्ता २. आयुबंध के समय तिर्यंचायु का बंध, तिर्यंचायु का उदय और तिर्यंच-तिर्यंचायु की सत्ता अथवा ३. मनुष्यायु का बंध, तिर्यंचायु का उदय और मनुष्य-तिर्यंचायु की सत्ता, ४. बंध की उपरति होने पर तिर्यंचायु का उदय और तिर्यंच-तिर्यंचायु की सत्ता अथवा ५. तिर्यंचायु का उदय और मनुष्य-तिर्यंचायु की सत्ता। कुल मिलाकर ये पाँच भंग हुए।

इसी प्रकार मनुष्यगति की अपेक्षा भी पाँच भंग समझना चाहिये, लेकिन तिर्यंचायु के स्थान पर मनुष्यायु को रखें। जैसे कि आयु बंध के पहले मनुष्यायु का उदय और मनुष्यायु की सत्ता आदि।

पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव तिर्यंच ही होता है और उसके चारों आयुओं का बंध सम्भव है, अतः यहाँ आयु के वे ही नौ भंग होते हैं जो सामान्य तिर्यंचों के बतलाये हैं।

इस प्रकार से तीन जीवस्थानों में आयुकर्म के भंगों को बतलाने के बाद शेष रहे ग्यारह जीवस्थानों के भंगों के बारे में कहते हैं कि उनमें से प्रत्येक में पाँच-पाँच भंग होते हैं। क्योंकि शेष ग्यारह जीवस्थानों के जीव तिर्यंच ही होते हैं और उनके देवायु व नरकायु का बंध नहीं होता है, अतः संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त तिर्यंचों के जो पाँच भंग बतलाये हैं, वे ही यहाँ जानना चाहिये कि बंधकाल से पूर्व का एक भंग, बंधकाल के समय के दो भंग और उपरत बंधकाल के दो भंग। इस प्रकार शेष ग्यारह जीवस्थानों में पाँच भंग होते हैं।

चौदह जीवस्थानों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, आयु, गोत्र और अंतराय, इन छह कर्मों के भंगों का विवरण इस प्रकार है—

क्रम	जीवस्थान	ज्ञाना-वरण	दर्शना-वरण	वेदनीय	आयु	गोत्र	अंतराय
१	एकेन्द्रिय सूक्ष्म अपर्याप्त	१	२	४	५	२	१
२	एकेन्द्रिय सूक्ष्म पर्याप्त	१	२	४	५	२	१
३	एकेन्द्रिय बादर अपर्याप्त	१	२	४	५	२	१
४	एकेन्द्रिय बादर पर्याप्त	१	२	४	५	२	१
५	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	१	२	४	५	२	१
६	द्वीन्द्रिय पर्याप्त	१	२	४	५	२	१
७	त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	१	२	४	५	२	१
८	त्रीन्द्रिय पर्याप्त	१	२	४	५	२	१
९	चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	१	२	४	५	२	१
१०	चतुरिन्द्रिय पर्याप्त	१	२	४	५	२	१
११	असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	१	२	४	१०	२	१
१२	असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	१	२	४	९	२	१
१३	संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	१	२	४	१०	२	१
१४	संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	२	११	८	२८	७	२

छह कर्मों के जीवस्थानों में भंगों को बतलाने के बाद अब 'मोहं परं वोच्छं'—मोहनीय कर्म के भंगों को बतलाते हैं।

अट्ठसु पंचसु एगे एग दुगं दस य मोहबंधगए।
तिग चउ नव उदयगए तिग तिग पन्नरस संतम्मि ॥३६॥

शब्दार्थ—**अट्ठसु**—आठ जीवस्थानों में, **पंचसु**—पाँच जीवस्थानों में, **एगे**—एक जीवस्थान में, **एग**—एक, **दुगं**—दो, **दस**—दस, **य**—और, **मोहबंधगए**—मोहनीय कर्म के बंधगत स्थानों में, **तिग चउ नव**—तीन चार और नौ, **उदयगए**—उदयगत स्थान, **तिग तिग पन्नरस**—तीन, तीन और पन्द्रह, **संतंमि**—सत्ता के स्थान।

गाथार्थ—आठ, पाँच और एक जीवस्थान में मोहनीय कर्म के अनुक्रम से एक, दो और दस बंधस्थान, तीन, चार और नौ उदयस्थान तथा तीन, तीन और पन्द्रह सत्तास्थान होते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में मोहनीय कर्म के जीवस्थानों में बंध, उदय और सत्ता स्थान बतलाये हैं और जीवस्थानों तथा बंधस्थानों, उदयस्थानों तथा सत्तास्थानों की संख्या का संकेत किया है कि कितने जीवस्थानों में मोहनीय कर्म के कितने बंधस्थान हैं, कितने उदयस्थान हैं और कितने सत्तास्थान हैं। परन्तु यह नहीं बताया है कि वे कौन-कौन होते हैं। अतः इसका स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है।

आठ, पाँच और एक जीवस्थान में यथाक्रम से एक, दो और दस बंधस्थान हैं। अर्थात् आठ जीवस्थानों में एक बंधस्थान है, पाँच जीवस्थानों में दो बंधस्थान हैं और एक जीवस्थान में दस बंधस्थान हैं। इनमें से पहले आठ जीवस्थानों में एक बंधस्थान होने को स्पष्ट करते हैं कि पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, अपर्याप्त त्रीन्द्रिय, अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय और अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय, इन आठ जीवस्थानों में पहला मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है अतः इनके एक २२ प्रकृतिक बंधस्थान होता है। वे २२ प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क आदि सोलह कषाय, तीन वेदों में से कोई एक वेद, हास्य-रति और शोक-अरति युगल में से कोई

एक युगल, भय और जुगुप्सा। इस बंधस्थान में तीन वेद और दो युगलों की अपेक्षा छह भंग होते हैं।

पाँच जीवस्थानों में दो बंधस्थान इस प्रकार जानना चाहिये कि पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, पर्याप्त द्वीन्द्रिय, पर्याप्त त्रीन्द्रिय, पर्याप्त चतुरिन्द्रिय और पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय, इन पाँच जीवस्थानों में २२ प्रकृतिक और २१ प्रकृतिक, यह दो बंधस्थान होते हैं। बाईस प्रकृतियों का नामोल्लेख पूर्व में किया जा चुका है और उसमें से मिथ्यात्व को कम कर देने पर २१ प्रकृतिक बंधस्थान हो जाता है। इनके मिथ्यादृष्टि गुणस्थान होता है इसलिये तो इनके २२ प्रकृतिक बंधस्थान कहा गया है तथा सासादन सम्यग्दृष्टि जीव मर कर इन जीवस्थानों में भी उत्पन्न होते हैं, इसलिये इनके २१ प्रकृतिक बंधस्थान बतलाया है। इनमें से २२ प्रकृतिक बंधस्थान के ६ भंग हैं जो पहले बतलाये जा चुके हैं और २१ प्रकृतिक बंधस्थान के ४ भंग होते हैं। क्योंकि नपुंसकवेद का बंध मिथ्यात्वोदय निमित्तिक है और यहाँ मिथ्यात्व का उदय न होने से नपुंसकवेद का भी बंध न होने से शेष दो वेद—पुरुष और स्त्री तथा दो युगलों की अपेक्षा चार भंग ही संभव हैं।

अब रहा एक संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान, सो इसमें २२ प्रकृतिक आदि मोहनीय के दस बंधस्थान होते हैं। उक्त दस बंधस्थानों की प्रकृति संख्या मोहनीय कर्म के बंधस्थानों के प्रसंग में बतलाई जा चुकी है, जो वहाँ से समझ लेना चाहिये।

अब जीवस्थानों में मोहनीय कर्म के उदयस्थान बतलाते हैं कि 'तिग चउ नव उदयगए'—आठ जीवस्थानों में तीन, पाँच जीवस्थानों में चार और एक जीवस्थान में नौ उदयस्थान हैं। पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि आठ जीवस्थानों में आठ, नौ और दस प्रकृतिक, यह

तीन उदयस्थान हैं। वे इस प्रकार जानना चाहिये कि यद्यपि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में अनन्तानुबंधी चतुष्क में से किसी एक के उदय के बिना ७ प्रकृतिक उदयस्थान भी होता है, परन्तु वह इन आठ जीवस्थानों में नहीं पाया जाता है। क्योंकि जो जीव उपशमश्रेणि से च्युत होकर क्रमशः मिथ्यादृष्टि होता है उसी के मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में एक आवली काल तक मिथ्यात्व का उदय नहीं होता, परन्तु इन जीवस्थान वाले जीव तो उपशमश्रेणि पर चढ़ते ही नहीं हैं, अतः इनको सात प्रकृतिक उदयस्थान संभव नहीं है।

उक्त आठ जीवस्थानों में नपुंसकवेद, मिथ्यात्व, कषाय चतुष्क और दो युगलों में से कोई एक युगल, इस तरह आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इस उदयस्थान में आठ भंग होते हैं, क्योंकि इन जीवस्थानों में एक नपुंसकवेद का ही उदय होता है, पुरुषवेद और स्त्रीवेद का नहीं, अतः यहाँ वेद का विकल्प तो संभव नहीं किन्तु यहाँ विकल्प वाली प्रकृतियाँ क्रोध आदि चार कषाय और दो युगल हैं, सो उनके विकल्प से आठ भंग होते हैं।

इस आठ प्रकृतिक उदयस्थान में भय और जुगुप्सा को विकल्प से मिलाने पर नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ एक-एक विकल्प के आठ-आठ भंग होते हैं अतः आठ को दो से गुणित करने पर सोलह भंग होते हैं। अर्थात् नौ प्रकृतिक उदयस्थान के सोलह भंग हैं। आठ प्रकृतिक उदयस्थान में भय और जुगुप्सा को युगपत् मिलाने से दस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह एक ही प्रकार का है, अतः पूर्वोक्त आठ भंग ही होते हैं। इस प्रकार तीनों उदयस्थानों के कुल ३२ भंग हुए, जो प्रत्येक जीवस्थान में अलग-अलग प्राप्त होते हैं।

पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय आदि पांच जीवस्थानों में से प्रत्येक में चार-चार उदयस्थान हैं—सात, आठ, नौ और दस प्रकृतिक। सो

इनमें से सासादन भाव के काल में २१ प्रकृतिक बंधस्थान में ८, ९ और १०, ये तीन-तीन उदयस्थान होते हैं तथा २२ प्रकृतिक बंधस्थान में ८, ९ और १० ये तीन-तीन उदयस्थान होते हैं। इन जीवस्थानों में भी एक नपुंसकवेद का ही उदय होता है अतः यहाँ भी ७, ८ और ९ और १० प्रकृतिक उदयस्थान के क्रमशः ८, १६ और ८ भंग होते हैं तथा इसी प्रकार ८, ९ और १० प्रकृतिक उदयस्थान के क्रमशः ८, १६ और ८ भंग होंगे, किन्तु चूर्णिकार का मत है[1] कि असंज्ञी लब्धिपर्याप्त के यथायोग्य तीन वेदों में से किसी एक वेद का उदय होता है। अतः इस मत के अनुसार असंज्ञी लब्धिपर्याप्त के सात आदि उदयस्थानों में से प्रत्येक में आठ भंग न होकर २४ भंग होते हैं।

पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में ९ उदयस्थान हैं, जिनका उल्लेख मोहनीय कर्म के उदयस्थानों के प्रसंग में किया जा चुका है। अतः उनको वहाँ से जान लेवें।

जीवस्थानों में मोहनीय कर्म के सत्तास्थान इस प्रकार जानना चाहिये कि 'तिग तिग पन्नरस संतम्मि' अर्थात् आठ जीवस्थानों में तीन, पांच जीवस्थानों में तीन और एक जीवस्थान में १५ होते हैं। पूर्वोक्त आठ जीवस्थानों में से प्रत्येक में २८, २७ और २६ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान होते हैं। क्योंकि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में इन तीन के अलावा और सत्तास्थान नहीं पाये जाते हैं। इसी प्रकार से पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय आदि पांच जीवस्थानों में भी २८, २७ और २६ प्रकृतिक सत्तास्थान समझना चाहिये और एक पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय में सभी १५ सत्तास्थान हैं। क्योंकि इस जीवस्थान में सभी गुणस्थान होते हैं।

---

१ एक्केक्कमि उदयम्मि नपुंसगवेदेण चेव अट्ठ-अट्ठ भंगा। सेसा न संभवंति....। असन्नि पज्जत्तगस्स तिहिं वि वेदेहिं उट्ठावेयव्वा।

इस प्रकार से जीवस्थानों में पृथक्-पृथक् उदय और सत्तास्थानों का कथन करने के अनन्तर अब इनके संवेध का कथन करते हैं—आठ जीवस्थानों में एक २२ प्रकृतिक बंधस्थान होता है और उसमें ८, ९ और १० प्रकृतिक, यह तीन उदयस्थान होते हैं तथा प्रत्येक उदयस्थान में २८, २७ और २६ प्रकृतिक सत्तास्थान हैं। इस प्रकार आठ जीवस्थानों में से प्रत्येक के कुल नौ भंग हुए। पाँच जीवस्थानों में २२ प्रकृतिक और २१ प्रकृतिक, ये दो बंधस्थान हैं और इनमें से २२ प्रकृतिक बंधस्थान में ८, ९ और १० प्रकृतिक तीन उदयस्थान होते हैं और प्रत्येक उदयस्थान में २८, २७ और २६ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान हैं। इस प्रकार कुल नौ भंग हुए। २१ प्रकृतिक बंधस्थान में ७, ८ और ९ प्रकृतिक, तीन उदयस्थान हैं और प्रत्येक उदयस्थान में २८ प्रकृतिक एक सत्तास्थान होता है। इस प्रकार २१ प्रकृतिक बंधस्थान में तीन उदयस्थानों की अपेक्षा तीन सत्तास्थान हैं। दोनों बंधस्थानों की अपेक्षा यहाँ प्रत्येक जीवस्थान में १२ भंग हैं।

२१ प्रकृतिक बंधस्थान में २८ प्रकृतिक एक सत्तास्थान मानने का कारण यह है कि २१ प्रकृतिक बंधस्थान सासादन गुणस्थान में होता है और सासादन गुणस्थान २८ प्रकृतिक सत्ता वाले जीव को ही होता है, क्योंकि सासादन सम्यग्दृष्टियों के दर्शनमोहत्रिक की सत्ता पाई जाती है। इसीलिये २१ प्रकृतिक बंधस्थान में २८ प्रकृतिक सत्तास्थान माना जाता है।[1]

एक संज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय जीवस्थान में मोहनीय कर्म के बंध आदि स्थानों के संवेध का कथन जैसा पहले किया गया है, वैसा ही यहाँ जानना चाहिये।

---

१ एकविंशतिबन्धो हि सासादनभावमुपागतेषु प्राप्यते, सासादनाश्चावश्यमष्टाविंशतिसत्कर्माणः, तेषां दर्शनत्रिकस्य नियमतो भावात्, तत्तस्तेषु सत्तास्थानमष्टाविंशतिरेव। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २००

जीवस्थानों में मोहनीय कर्म के संवेध भंगों का विवरण इस प्रकार जानना चाहिये—

क्रम सं०	जीवस्थान	बंध-स्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	उदय-पद	पदवृन्द	सत्तास्थान
१	सू. ए. अ.	२२	६	८,९,१०	३२	३६	२८८	२८,२७,२६
२	सू. ए. प.	२२	६	८,९,१०	३२	३६	२८८	२८,२७,२६
३	बा.ए. अ.	२२	६	८,९,१०	३२	३६	२८८	२८,२७,२६
४	बा. ए. प.	२२ २१	६ ४	८,९,१० ७,८,९	६४	६८	५४४	२८,२७,२६ २८
५	द्वी. अप.	२२	६	८,९,१०	३२	३८	२८८	२८,२७,२६
६	द्वी. पर्या.	२२ २१	६ ४	८,९,१० ७,८,९	६४	६८	५४४	२८,२७,२६ २८
७	त्री. अप.	२२	६	८,९,१०	३२	३६	२८८	२८,२७,२६
८	त्री. पर्या.	२२ २१	६ ४	८,९,१० ७,८,९	६४	६८	५४४	२८,२७,२६ २८,२७,२६
९	चतु. अप.	२२	६	८,९,१०	३२	३६	२८८	२८,२७,२६
१०	चतु. पर्या.	२२ २१	६ ४	८,९,१० ७,८,९	६४	६८	५४४	२८,२७,२६ २८
११	असं.पं.अ.	२२	६	८,९,१०	३२	३६	२८८	२८,२७,२६
१२	असं.पं.प.	२२ २१	६ ४	८,९,१० ७,८,९	६४	६८	५४४	२८,२७,२६ २८
१३	सं.प.अप.	२२	६	८,९,१०	३२	३६	२८८	२८,२७,२६
१४	सं.पं.पर्या.	सब	२१	सब	१८३	२८८	६९४७	सब

जीवस्थानों में मोहनीय कर्म के बंधादि स्थानों व संवेध भंगों को बतलाने के बाद अब नामकर्म के भंगों को बतलाते हैं—

पण दुग पणगं पण चउ पणगं पणगा हवंति तिन्नेव ।
पण छप्पणगं छक्छप्पणगं अट्ठट्ठ दसगं ति ॥३७॥
सत्तेव अपज्जत्ता सामी तह सुहुम बायरा चेव ।
विगलिंदिया उ तिन्नि उ तह य असन्नी य सन्नी य ॥३८॥

शब्दार्थ—**पण दुग पणगं**—पाँच, दो, पाँच, **पण चउ पणगं**—पाँच, चार, पाँच, **पणगा**—पाँच-पाँच, **हवंति**—होते हैं, **तिन्नेव**—तीनों ही (बंध, उदय और सत्तास्थान), **पण छप्पणगं**—पाँच, छह, पाँच, **छक्छप्पणगं**—छह, छह, पाँच, **अट्ठट्ठ**—आठ, आठ, **दसगं**—दस, **ति**—इस प्रकार ।

सत्तेव—सातों ही, **अपज्जत्ता**—अपर्याप्त, **सामी**—स्वामी, **तह**—तथा, **सुहुम**—सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, **बायरा**—बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, **चेव**—और, **विगलिंदिया**—विकलेन्द्रिय पर्याप्त, **तिन्नि**—तीन, **तह**—वैसे ही, **य**—और, **असन्नी**—असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त, **सन्नी**—संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त ।

गाथार्थ—पाँच, दो, पाँच; पाँच, चार, पाँच; पाँच, पाँच, पाँच; पाँच, छह, पाँच; छह, छह, पाँच और आठ, आठ, दस; ये बंध, उदय और सत्तास्थान हैं ।

इनके क्रम से सातों अपर्याप्त, सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त, बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त, विकलत्रिक पर्याप्त, असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव स्वामी जानना चाहिए ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में जीवस्थानों में नामकर्म के भंगों का विचार किया गया है । पहली गाथा में तीन-तीन संख्याओं का एक पुंज लिया गया है, जिसमें से पहली संख्या बंधस्थान की, दूसरी

संख्या उदयस्थान की और तीसरी संख्या सत्तास्थान की द्योतक है। गाथा में संख्या के ऐसे कुल छह पुंज हैं। दूसरी गाथा में चौदह जीवस्थानों को छह भागों में विभाजित किया गया है। जिसका यह तात्पर्य हुआ कि पहले भाग के जीवस्थान पहले पुंज के स्वामी दूसरे भाग के जीवस्थान दूसरे पुंज के स्वामी हैं इत्यादि।

यद्यपि गाथागत संकेत से इतना तो जान लिया जाता है कि अमुक जीवस्थान में इतने बंधस्थान, इतने उदयस्थान और इतने सत्तास्थान हैं, किन्तु वे कौन-कौनसे हैं और उनमें कितनी-कितनी प्रकृतियों का ग्रहण किया गया है, यह ज्ञात नहीं होता है। अतः यहाँ उन्हीं का भंगों के साथ आचार्य मलयगिरि कृत टीका के अनुसार विस्तार से विवेचन किया जाता है।

'पण दुग पणगं सत्तेव अपज्जत्ता' दोनों गाथाओं के पदों को यथाक्रम से जोड़ने पर यह एक पद्य हुआ। जिसका यह अर्थ हुआ कि चौदह जीवस्थानों में से सात अपर्याप्त जीवस्थानों में से प्रत्येक में पाँच बंधस्थान, दो उदयस्थान और पाँच सत्तास्थान हैं। जिनका स्पष्टीकरण यह है कि सात प्रकार के अपर्याप्त जीव मनुष्यगति और तिर्यंचगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करते हैं, देवगति और नरकगति के योग्य प्रकृतियों का नहीं, अतः इन सात अपर्याप्त जीवस्थानों में २८, ३१ और १ प्रकृतिक बंधस्थान न होकर २३, २५, २६, २९ और ३० प्रकृतिक, ये पाँच बंधस्थान होते हैं और इनमें भी मनुष्यगति तथा तिर्यंचगति के योग्य प्रकृतियों का ही बंध होता है। इन बंधस्थानों का विशेष विवेचन नामकर्म के बंधस्थान बतलाने के अवसर पर किया गया है, अतः वहाँ से समझ लेना चाहिये। यहाँ सब बंधस्थानों के मिलाकर प्रत्येक जीवस्थान में १३९४७ भंग होते हैं।

इन सात जीवस्थानों में दो उदयस्थान हैं—२१ और २४ प्रकृतिक। सो इनमें से २१ प्रकृतिक उदयस्थान में अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय के तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, अगुरुलघु, वर्णचतुष्क, एकेन्द्रिय जाति, स्थावर, बादर, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण इन २१ प्रकृतियों का उदय होता है। यह उदयस्थान अपान्तराल गति में पाया जाता है। यहाँ भंग एक होता है क्योंकि यहाँ परावर्तमान शुभ प्रकृतियों का उदय नहीं होता है।

अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव के भी यही उदयस्थान होता है। किन्तु इतनी विशेषता है कि उसके बादर के स्थान में सूक्ष्म प्रकृति का उदय कहना चाहिए। यहाँ भी एक भंग होता है।

इस २१ प्रकृतिक उदयस्थान में औदारिकशरीर, हुंडसंस्थान, उपघात और प्रत्येक व साधारण में से कोई एक, इन चार प्रकृतियों को मिलाने और तिर्यंचानुपूर्वी इस प्रकृति को घटा देने पर २४ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। जो दोनों सूक्ष्म व बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीवस्थानों में समान रूप से सम्भव है। यहाँ सूक्ष्म अपर्याप्त और बादर अपर्याप्त में से प्रत्येक के साधारण और प्रत्येक नामकर्म की अपेक्षा दो-दो भंग होते हैं। इस प्रकार दो उदयस्थानों की अपेक्षा दोनों जीवस्थानों में से प्रत्येक के तीन-तीन भंग होते हैं।

विकलेन्द्रियत्रिक अपर्याप्त, असंज्ञी अपर्याप्त और संज्ञी अपर्याप्त, इन पाँच जीवस्थानों में २१ और २६ प्रकृतिक, यह दो उदयस्थान होते हैं। इनमें से अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, वर्णचतुष्क, द्वीन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, अपर्याप्त, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण यह २१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। जो अपान्तराल गति में

विद्यमान जीव के ही होता है, अन्य के नहीं। यहाँ सभी प्रकृतियाँ अप्रशस्त हैं, अतः एक ही भंग जानना चाहिये।

इसी प्रकार त्रीन्द्रिय आदि जीवस्थानों में भी यह २१ प्रकृतिक उदयस्थान और १ भंग जानना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रत्येक जीवस्थान में द्वीन्द्रिय जाति न कहकर त्रीन्द्रिय जाति आदि अपनी-अपनी जाति का उदय कहना चाहिये।

अनन्तर २१ प्रकृतिक उदयस्थान में शरीरस्थ जीव के औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, हुंडसंस्थान, सेवार्त संहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियों के मिलाने और तिर्यंचानुपूर्वी के निकाल देने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी एक ही भंग होता है। इस प्रकार अपर्याप्त द्वीन्द्रिय आदि प्रत्येक जीवस्थान में दो-दो उदयस्थानों की अपेक्षा दो-दो भंग होते हैं।

लेकिन अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान इसका अपवाद है। क्योंकि अपर्याप्त संज्ञी जीवस्थान तिर्यंचगति और मनुष्यगति दोनों में होता है। अतः यहाँ इस अपेक्षा से चार भंग प्राप्त होते हैं।[1]

इन सात जीवस्थानों में से प्रत्येक में ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ प्रकृतिक पाँच-पाँच सत्तास्थान हैं। अपर्याप्त अवस्था में तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता सम्भव नहीं है अतः इन सातों जीवस्थानों में ९३ और ८९ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान नहीं होते हैं किन्तु मिथ्यादृष्टि गुणस्थान सम्बन्धी शेष सत्तास्थान सम्भव होने से उक्त पाँच सत्तास्थान कहे हैं।

इस प्रकार से सात अपर्याप्त जीवस्थानों में नामकर्म के बंधस्थान, उदयस्थान और सत्तास्थान जानना चाहिये। अब इसके अनन्तर 'पण

---

१ केवलमपर्याप्तसंज्ञिनश्चत्वारः, मतो द्वौ भंगावपर्याप्तसंज्ञिनस्तिरश्चः प्राप्येते, द्वौ चापर्याप्तसंज्ञिनो मनुष्यस्येति।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २०१

चउ पणगं' और 'सुहुमं' पद का सम्बन्ध करते हैं। जिसका अर्थ यह है कि सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में पाँच बंधस्थान हैं, चार उदयस्थान हैं और पाँच सत्तास्थान हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव भी मरकर मनुष्य और तिर्यंचगति में ही उत्पन्न होता है, जिससे उसके उन गतियों के योग्य कर्मों का बंध होता है। इसीलिए इसके भी २३, २५, २६, २९ और ३० प्रकृतिक, ये पाँच बंधस्थान माने गये हैं। इन पाँच बंधस्थानों के मानने के कारणों को पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ भी इन पाँचों स्थानों के कुल भंग १३९१७ होते हैं।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के २१, २४, २५ और २६ प्रकृतिक, ये चार उदयस्थान होते हैं। क्योंकि इन सूक्ष्म जीवों के आतप और उद्योत नामकर्म का उदय नहीं होता है। इसीलिये २७ प्रकृतिक उदयस्थान छोड़ दिया गया है।

२१ प्रकृतिक उदयस्थान में वे ही प्रकृतियाँ लेनी चाहिये, जो सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीवों को बतला आये हैं। लेकिन इतनी विशेषता है कि यहाँ सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान विवक्षित होने से अपर्याप्त के स्थान पर पर्याप्त का उदय कहना चाहिये। यह २१ प्रकृतिक उदयस्थान, अपान्तराल गति में होता है। प्रतिपक्षी प्रकृतियाँ न होने से इसमें एक ही भंग होता है।

उक्त २१ प्रकृतिक उदयस्थान में औदारिक शरीर, हुंड-संस्थान, उपघात तथा साधारण और प्रत्येक में से कोई एक प्रकृति, इन चार प्रकृतियों को मिलाने तथा तिर्यंचानुपूर्वी को कम करने पर २४ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह उदयस्थान शरीरस्थ जीव को होता है। यहाँ प्रत्येक और साधारण के विकल्प से दो भंग होते हैं।

अनन्तर शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव की अपेक्षा २४ प्रकृतिक

उदयस्थान में पराघात को मिला देने पर २५ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी २४ प्रकृतिक उदयस्थान की तरह वे ही दो भंग होते हैं।

उक्त २५ प्रकृतिक उदयस्थान में प्राणापान पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव की अपेक्षा उच्छ्वास प्रकृति को मिलाने से २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पूर्वोक्त दो भंग होते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में चार उदयस्थान और उनके सात भंग होते हैं।

अब सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में सत्तास्थान बतलाते हैं। इस जीवस्थान में पाँच सत्तास्थान बतलाये हैं। वे पाँच सत्तास्थान ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ प्रकृतिक हैं। तिर्यंचगति में तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता नहीं होती हैं। इसलिए ९३ और ८९ प्रकृतिक ये दो सत्तास्थान संभव नहीं होने से ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ प्रकृतिक पाँच सत्तास्थान पाये जाते हैं। फिर भी जब साधारण प्रकृति के उदय के साथ २५ और २६ प्रकृतिक उदयस्थान लिये जाते हैं तब इस भंग में ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान सम्भव नहीं हैं। क्योंकि अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों को छोड़कर शेष सब जीव शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त होने पर मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी का नियम से बन्ध करते हैं और २५ व २६ प्रकृतिक उदयस्थान शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवों के ही होते हैं। अतः साधारण सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के २५ और २६ उदयस्थान रहते ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं होता है। शेष चार सत्तास्थान ९२, ८८, ८६ और ८० प्रकृतिक होते हैं।

लेकिन जब प्रत्येक प्रकृति के साथ २५ और २६ प्रकृतिक उदयस्थान लिये जाते हैं तब प्रत्येक में अग्निकायिक और वायुकायिक जीव भी शामिल हो जाने से २५ और २६ प्रकृतिक उदयस्थानों में ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान भी बन जाता है।

इस प्रकार उक्त कथन का सारांश यह हुआ कि २१ और २४ प्रकृतिक में से प्रत्येक उदयस्थान में तो पाँच-पाँच सत्तास्थान होते हैं और २५ व २६ प्रकृतिक उदयस्थानों में से प्रत्येक में एक अपेक्षा से चार-चार और एक अपेक्षा से पाँच-पाँच सत्तास्थान होते हैं। अपेक्षा का कारण साधारण व प्रत्येक प्रकृति है। जिसका स्पष्टीकरण ऊपर किया गया है।

अब गाथा में निर्दिष्ट क्रमानुसार बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में बंधादि स्थानों को बतलाते हैं कि 'पणगा हवंति तिन्नेव' का सम्बन्ध "बायरा" से जोड़ें। जिसका अर्थ यह हुआ कि बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में पाँच बंधस्थान, पाँच उदयस्थान और पाँच सत्तास्थान होते हैं। जिनका विवरण नीचे लिखे अनुसार है—

बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीव भी मनुष्यगति और तिर्यंचगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करता है। इसलिए उसके भी २३, २५, २६, २९ और ३० प्रकृतिक, ये पाँच बंधस्थान होते हैं और तदनुसार इनके कुल भंग १३९१७ होते हैं।

उदयस्थानों की अपेक्षा विचार करने पर यहाँ पर भी एकेन्द्रिय सम्बन्धी पाँच उदयस्थान २१, २४, २५, २६ और २७ प्रकृतिक होते हैं। क्योंकि सामान्य से अपान्तराल गति की अपेक्षा २१ प्रकृतिक, शरीरस्थ होने की अपेक्षा २४ प्रकृतिक, शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त होने की अपेक्षा २५ प्रकृतिक और प्राणापान पर्याप्ति से पर्याप्त होने की अपेक्षा २६ प्रकृतिक, ये चार उदयस्थान तो पर्याप्त एकेन्द्रिय को नियम से होते ही हैं। किन्तु यह बादर एकेन्द्रिय है अतः यहाँ आतप और उद्योत नाम में से किसी एक का उदयस्थान और संभव है, जिससे २७ प्रकृतिक उदयस्थान भी बन जाता है। इसीलिये बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में २१, २४, २५, २६ और २७ प्रकृतिक, ये पाँच उदयस्थान माने गये हैं।

बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान के २१ प्रकृतिक उदयस्थान में ६१ प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, एकेन्द्रिय जाति, स्थावर, बादर, पर्याप्त, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, वर्णचतुष्क, निर्माण, दुर्भग, अनादेय, यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से कोई एक। इस उदयस्थान में यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति का उदय विकल्प से होता है। अतः इस अपेक्षा से यहाँ २१ प्रकृतिक उदयस्थान के दो भंग होते हैं।

उक्त २१ प्रकृतिक उदयस्थान में शरीरस्थ जीव की अपेक्षा औदारिक शरीर, हुंडसंस्थान, उपघात तथा प्रत्येक और साधारण में से कोई एक, इन चार प्रकृतियों को मिलाने तथा तिर्यंचानुपूर्वी को कम करने पर २४ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ प्रत्येक-साधारण और यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति का विकल्प से उदय होने के कारण चार भंग होते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि शरीरस्थ विक्रिया करने वाले बादर वायुकायिक जीवों के साधारण और यशःकीर्ति नामकर्म का उदय नहीं होता है, इसलिये वहाँ एक ही भंग होता है। दूसरी विशेषता यह है कि ऐसे जीवों के औदारिक शरीर का उदय न होकर वैक्रिय शरीर का उदय होता है, अतः इनके औदारिक शरीर के स्थान पर वैक्रिय शरीर कहना चाहिए।[1] इस प्रकार २४ प्रकृतिक उदयस्थान में कुल पाँच भंग हुए।

अनन्तर २४ प्रकृतिक उदयस्थान में पराघात प्रकृति को मिलाने से २५ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यह उदयस्थान शरीर पर्याप्ति से

---

१ वैक्रियं कुर्वतः पुनर्बादरवायुकायिकस्यैकः, यस्तस्य साधारण-यशःकीर्ती उदयं नागच्छतः, अन्यच्च वैक्रियवायुकायिकचतुर्विधातौदारिकशरीरस्थाने वैक्रियशरीरमिति वक्तव्यम्।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २०२

पर्याप्त हुए जीव को होता है। यहाँ भी २४ प्रकृतिक उदयस्थान की तरह पाँच भङ्ग होते हैं।

यदि शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव के आतप और उद्योत में से किसी एक का उदय हो जावे तो २५ प्रकृतिक उदयस्थान में आतप और उद्योत में से किसी एक को मिलाने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। किन्तु आतप का उदय साधारण को नहीं होता है, अतः इस पक्ष में २६ प्रकृतिक उदयस्थान के यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति की अपेक्षा दो भंग होते हैं। लेकिन उद्योत का उदय साधारण और प्रत्येक, इनमें से किसी के भी होता है अतः इस पक्ष में साधारण और प्रत्येक तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति, इनके विकल्प से चार भंग होते हैं। इस प्रकार २६ प्रकृतिक उदयस्थान के कुल ५+२+४= ११ भंग हुए।

अनन्तर प्राणापान पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव की अपेक्षा उच्छ्वास सहित २६ प्रकृतिक उदयस्थान में आतप और उद्योत में से किसी एक प्रकृति के मिला देने पर २७ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी पहले के समान आतप के साथ दो भङ्ग और उद्योत के साथ चार भङ्ग, इस प्रकार कुल छह भङ्ग हुए।

इन पाँचों उदयस्थानों के भङ्ग जोड़ने पर बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान के कुल भङ्ग २९ होते हैं।

बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ प्रकृतिक, ये पाँच सत्तास्थान होते हैं। इस जीवस्थान में जो पाँचों उदयस्थानों के २९ भङ्ग बतलाये हैं, उनमें से इक्कीस प्रकृतिक उदयस्थान के दो भङ्ग, २४ प्रकृतिक उदयस्थान में वैक्रिय बादर वायुकायिक के एक भङ्ग को छोड़कर शेष चार भङ्ग तथा २५ और २६ प्रकृतिक उदयस्थानों में प्रत्येक नाम और अयशःकीर्ति नाम के साथ प्राप्त होने

वाला एक-एक भङ्ग, इस प्रकार इन आठ भङ्गों में से प्रत्येक में उपर्युक्त पाँचों सत्तास्थान होते हैं किन्तु शेष २१ में से प्रत्येक भङ्ग में ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान को छोड़कर शेष चार-चार सत्तास्थान होते हैं।

अब गाथा में किये गये निर्देशानुसार पर्याप्त विकलेन्द्रियों में बंधादि स्थानों और उनके यथासम्भव भङ्गों को बतलाते हैं। गाथाओं में निर्देश है 'पण छप्पणगं विगलिंदिया उ तिसि उ'। अर्थात् विकलत्रिक—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय पर्याप्तों में पाँच बंधस्थान, छह उदयस्थान और पाँच सत्तास्थान हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि—विकलेन्द्रिय पर्याप्त जीव भी तिर्यंचगति और मनुष्यगति के योग्य प्रकृतियों का ही बंध करते हैं। अतः इनके भी २३, २५, २६, २९ और ३० प्रकृतिक, ये पाँच बंधस्थान होते हैं और तदनुसार इनके कुल भङ्ग १३९१७ होते हैं।

उदयस्थानों की अपेक्षा विचार करने पर यहाँ २१, २६, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, ये छह उदयस्थान होते हैं। इनमें से २१ प्रकृतिक उदयस्थान में—तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, वर्णचतुष्क, निर्माण, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, द्वीन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, दुर्भग, अनादेय और यशःकीर्ति व अयशःकीर्ति में से कोई एक—इस प्रकार २१ प्रकृतियों का उदय होता है जो अपान्तराल गति में पाया जाता है। इसके यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति के विकल्प से दो भङ्ग होते हैं।

अनन्तर शरीरस्थ जीव की अपेक्षा २१ प्रकृतिक उदयस्थान में औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, हुंडसंस्थान, सेवार्त संहनन, उपघात और प्रत्येक, इन छह प्रकृतियों को मिलाने तथा तिर्यंचानुपूर्वी को कम करने से २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी २१ प्रकृतिक उदयस्थान की तरह दो भङ्ग जानना चाहिये।

इस २६ प्रकृतिक उदयस्थान में शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीव की अपेक्षा पराघात और अप्रशस्त विहायोगति, इन दो प्रकृतियों को मिलाने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहां भी पूर्ववत् दो भङ्ग होते हैं।

२८ प्रकृतिक उदयस्थान के अनन्तर २९ प्रकृतिक उदयस्थान का क्रम है। यह २९ प्रकृतिक उदयस्थान दो प्रकार से होता है—एक तो जिसने प्राणापान पर्याप्ति को प्राप्त कर लिया है, उसके उद्योत के बिना केवल उच्छ्वास का उदय होने पर और दूसरा शरीर पर्याप्ति की प्राप्ति होने के पश्चात् उद्योत का उदय होने पर।[1] इन दोनों में से प्रत्येक स्थान में पूर्वोक्त दो-दो भङ्ग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार २९ प्रकृतिक उदयस्थान के कुल चार भङ्ग हुए।

इसी प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थान भी दो प्रकार से प्राप्त होता है। एक तो जिसने भाषा पर्याप्ति को प्राप्त कर लिया है, उसके उद्योत का उदय न होकर सुस्वर और दुःस्वर इन दो प्रकृतियों में से किसी एक का उदय होने पर होता है और दूसरा जिसने श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति को प्राप्त किया और अभी भाषा पर्याप्ति की प्राप्ति नहीं हुई किन्तु इसी बीच में उसके उद्योत प्रकृति का उदय हो गया तो भी ३० प्रकृतिक उदयस्थान हो जाता है। इनमें से पहले प्रकार के ३० प्रकृतिक उदयस्थान में यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति तथा सुस्वर और दुःस्वर के विकल्प से चार भङ्ग प्राप्त होते हैं। किन्तु दूसरे प्रकार के ३० प्रकृतिक उदयस्थान में यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति के विकल्प से दो ही भङ्ग होते हैं। इस प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थान में छह भङ्ग प्राप्त हुए।

---

१ ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत्, अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ; अथवा तस्यामेवाष्टा विंशतौ उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत्। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २०३

ऊपर जो ३० प्रकृतिक उदयस्थान के दो प्रकार बतलाये हैं उसमें से यदि जिसने भाषा पर्याप्ति को भी प्राप्त कर लिया और उद्योत का भी उदय है, उसको ३१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति तथा दोनों स्वरों के विकल्प से चार भङ्ग होते हैं। इस प्रकार पर्याप्त द्वीन्द्रिय के सब उदयस्थानों के कुल भङ्ग २० होते हैं।

द्वीन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में भी एकेन्द्रिय के समान ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ प्रकृतिक, ये पाँच सत्तास्थान होते हैं। पहले जो छह उदयस्थानों के २० भङ्ग बतलाये हैं उनमें से २१ प्रकृतिक उदयस्थान के दो भङ्ग तथा २६ प्रकृतिक उदयस्थान के दो भङ्ग, इन चार भङ्गों में से प्रत्येक भङ्ग में पाँच-पाँच सत्तास्थान होते हैं क्योंकि ७८ प्रकृतियों की सत्ता वाले जो अग्निकायिक और वायुकायिक जीव पर्याप्त द्वीन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं, उनके कुछ काल तक ७८ प्रकृतियों की सत्ता संभव है तथा इस काल में द्वीन्द्रियों के क्रमशः २१ और २६ प्रकृतिक उदयस्थान ही होते हैं। इसीलिये इन दो उदयस्थानों के चार भङ्गों में से प्रत्येक भङ्ग में उक्त पाँच सत्तास्थान कहे हैं तथा इन चार भङ्गों के अतिरिक्त जो शेष १६ भङ्ग रह जाते हैं, उनमें से किसी में भी ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान न होने से प्रत्येक में चार-चार सत्तास्थान होते हैं। क्योंकि अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों के सिवाय शेष जीव शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त होने के पश्चात् नियम से मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी का बंध करते हैं, जिससे उनके ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं पाया जाता है।

पर्याप्त द्वीन्द्रिय जीवों की तरह त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय पर्याप्त जीवों को भी बंधादि स्थानों और उनके भङ्गों को जानना चाहिये। इतनी विशेषता जानना चाहिये कि उदयस्थानों में द्वीन्द्रिय के स्थान पर त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय का उल्लेख कर दिया जाये।

अब क्रमप्राप्त असंज्ञी पर्याप्त जीवस्थान में बंधादि स्थानों और उनके भङ्गों का निर्देश करते हैं। इसके लिये गाथाओं में निर्देश किया है—'छच्छप्पणगं' 'असन्नी य' अर्थात् असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान के छह बंधस्थान हैं, छह उदयस्थान है और पाँच सत्तास्थान हैं। जिनका विवेचन यह है कि असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव मनुष्यगति और तिर्यंचगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करते ही हैं, किन्तु नरकगति और देवगति के योग्य प्रकृतियों का भी बंध कर सकते हैं। इसलिये इनके २३, २५, २६, २८, २९ और ३० प्रकृतिक ये छह बंधस्थान होते हैं और तदनुसार १३९२६ भङ्ग होते हैं।

उदयस्थानों की अपेक्षा विचार करने पर यहाँ २१, २६, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, ये छह उदयस्थान हैं। इनमें से २१ प्रकृतिक उदयस्थान में तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, वर्णचतुष्क, निर्माण, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग और दुर्भग में से कोई एक, आदेय और अनादेय में से कोई एक तथा यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति में से एक, इन २१ प्रकृतियों का उदय होता है। यह २१ प्रकृतिक उदयस्थान अपान्तरालगति में ही पाया जाता है तथा सुभग आदि तीन युगलों में से प्रत्येक प्रकृति के विकल्प से ८ भङ्ग प्राप्त होते हैं।

अनन्तर जब यह जीव शरीर को ग्रहण कर लेता है तब औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, छह संस्थानों में से कोई एक संस्थान, छह संहननों में से कोई एक संहनन, उपघात और प्रत्येक इन छह प्रकृतियों का उदय होने लगता है। किन्तु यहाँ आनुपूर्वी नामकर्म का उदय नहीं होता है। अतएव उक्त २१ प्रकृतिक उदयस्थान में छह प्रकृतियों को मिलाने और तिर्यंचानुपूर्वी को कम करने पर २६ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ छह संस्थान और छह संहननों

की अपेक्षा सुभगत्रिक की अपेक्षा से पूर्वोक्त ८ भङ्गों में दो बार छह से गुणित कर देने पर ८×६×६=२८८ भङ्ग प्राप्त होते हैं।

अनंतर इसके शरीर पर्याप्ति से पर्याप्त हो जाने पर पराघात तथा प्रशस्त विहायोगति और अप्रशस्त विहायोगति में से किसी एक का उदय और होने लगता है। अतः २६ प्रकृतिक उदयस्थान में इन दो प्रकृतियों को और मिला देने पर २८ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ दोनों विहायोगतियों के विकल्प की अपेक्षा भङ्गों के विकल्प पूर्वोक्त २८८ को दो से गुणा कर देने पर २८८×२=५७६ हो जाते हैं। २६ प्रकृतिक उदयस्थान दो प्रकार से होता है—एक तो जिसने आन-प्राण पर्याप्ति को पूर्ण कर लिया है उसके उद्योत के बिना केवल उच्छ्वास के उदय से प्राप्त होता है और दूसरा शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने पर उद्योत प्रकृति के उदय से प्राप्त होता है। इन दोनों स्थानों में से प्रत्येक स्थान में ५७६ भङ्ग होते हैं। अतः २६ प्रकृतिक उदयस्थान के कुल ५७६×२=११५२ भङ्ग हुए।

३० प्रकृतिक उदयस्थान भी दो प्रकार से प्राप्त होता है। एक तो जिसने भाषा पर्याप्ति को पूर्ण कर लिया उसके उद्योत के बिना सुस्वर और दुःस्वर प्रकृतियों में से किसी एक प्रकृति के उदय से प्राप्त होता है और दूसरा जिसने श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति को पूर्ण कर लिया, उसके उद्योत का उदय हो जाने पर होता है। इनमें से पहले प्रकार के स्थान के पूर्वोक्त ५७६ भङ्गों को स्वरद्विक से गुणित करने पर ११५२ भङ्ग प्राप्त होते हैं तथा दूसरे प्रकार के स्थान में ५७६ भंग ही होते हैं। इस प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थान के कुल भंग ११५२+५७६= १७२८ होते हैं।

अनन्तर जिसने भाषा पर्याप्ति को भी पूर्ण कर लिया और उद्योत प्रकृति का भी उदय है उसके ३१ प्रकृतिक उदयस्थान होता है।

यहाँ कुल भंग ११५२ होते हैं। इस प्रकार असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान के सब उदयस्थानों के कुल ४६०४ भङ्ग होते हैं।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ प्रकृतिक ये पांच सत्तास्थान होते हैं। इनमें से २१ प्रकृतिक उदयस्थान के ८ भङ्ग तथा २६ प्रकृतिक उदयस्थान के २८८ भङ्ग; इनमें से प्रत्येक भङ्ग में पूर्वोक्त पांच-पांच सत्तास्थान होते हैं। क्योंकि ७८ प्रकृतियों की सत्ता वाले जो अग्निकायिक और वायुकायिक जीव हैं वे यदि असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तकों में उत्पन्न होते हैं तो उनके २१ और २६ प्रकृतिक उदयस्थान रहते हुए ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान पाया जाना संभव है। किन्तु इनके अतिरिक्त शेष उदयस्थानों और उनके भङ्गों में ७८ के बिना शेष चार-चार सत्तास्थान ही होते हैं।

इस प्रकार से अभी तक तेरह जीवस्थानों के नामकर्म के बंधादि स्थानों और उनके भङ्गों का विचार किया गया। अब शेष रहे चौदहवें संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान के बंधादि स्थानों व भङ्गों का निर्देश करते हैं। इस जीवस्थान के बंधादि स्थानों के लिये गाथा में संकेत किया गया है—'अट्ठट्ठदसगं ति सन्नी य' अर्थात् संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में आठ बंधस्थान, आठ उदयस्थान और दस सत्तास्थान हैं। जिनका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

नाम कर्म के २३, २५ २६, २८ २९, ३०, ३१ और १ प्रकृतिक, ये आठ बंधस्थान बतलाये हैं। ये आठों बंधस्थान संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के होते हैं और उनके १३९४५ भङ्ग संभव हैं। क्योंकि इनके चारों गति सम्बन्धी प्रकृतियों का बंध सम्भव है, इसीलिये २३ प्रकृतिक आदि बंधस्थान इनके कहे हैं। तीर्थंकर नाम और आहारकचतुष्क का भी इनके बंध होता है इसीलिये ३१ प्रकृतिक बंधस्थान कहा है। इस जीवस्थान में उपशम और क्षपक दोनों श्रेणियाँ पाई जाती हैं इसीलिये १ प्रकृतिक बंधस्थान भी कहा है।

उदयस्थानों की अपेक्षा विचार करने पर और २०, ९ और ८ प्रकृतिक ये तीन उदयस्थान केवली सम्बन्धी हैं और २४ प्रकृतिक उदयस्थान एकेन्द्रियों को होता है अतः इस जीवस्थान में २०, २४, ९ और ८ प्रकृतिक, इन चार उदयस्थानों को छोड़कर शेष यह जीवस्थान बारहवें गुणस्थान तक ही पाया जाता है। २१, २५, २६, २७, २८, २९ ३०, ३१ प्रकृतिक ये आठ उदयस्थान पाये जाते हैं। इन आठ उदयस्थानों के कुल भंग ७६७१ होते हैं। क्योंकि १२ उदयस्थानों के कुल भंग ७७९१ हैं सो उनमें से १२० भंग कम हो जाते हैं, क्योंकि उन भंगों का संबंध संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव से नहीं है।

नामकर्म के सत्तास्थान १२ हैं, उनमें से ९ और ८ प्रकृतिक सत्तास्थान केवली के पाये जाते हैं, अतः वे दोनों संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में संभव नहीं होने से उनके अतिरिक्त ९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७९ ७८, ७६ और ७५ प्रकृतिक, ये दस सत्तास्थान पाये जाते हैं।[1] २१ और २६ प्रकृतिक उदयस्थानों के क्रमशः ८ और २८८ भंगों में से तो प्रत्येक भंग में ९२, ८८, ८९, ८० और ७९ प्रकृतिक, ये पाँच-पाँच सत्तास्थान ही पाये जाते हैं।

१ गो० कर्मकांड गाथा ६०९ में नामकर्म के ९३, ९२, ९१, ९०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७९, ७८, ७७, १० और ९ प्रकृतिक ये १३ सत्तास्थान बतलाये हैं। इनमें से संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवस्थान में १० और ९ प्रकृतिक सत्तास्थान को छोड़कर शेष ११ सत्तास्थान बतलाये हैं—दसणवपरिहीणसव्वसं सत्तं ॥७०९॥

श्वेताम्बर और दिगम्बर कर्मग्रन्थों में नामकर्म के निम्नलिखित सत्तास्थान समान प्रकृतिक हैं, ९३, ९२, ८८, ८०, ७९, ७८ और ९ प्रकृतिक और बाकी के सत्तास्थानों में प्रकृतियों की संख्या में भिन्नता है। श्वेताम्बर कर्मग्रन्थों में ८९, ८६, ७६, ७५ प्रकृतिक तथा दिगम्बर साहित्य में ९१, ९०, ८४, ८२, ७७, १० प्रकृतिक सत्तास्थान बतलाये हैं।

इस प्रकार चौदह जीवस्थानों में बंधादि स्थानों और उनके भंगों का विचार किया गया। अब उनके परस्पर संवेध का विचार करते हैं।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त जीवों के २३ प्रकृतिक बंधस्थान में २१ प्रकृतिक उदयस्थान के रहते ९२, ८८, ८९, ८० और ७८ प्रकृतिक, ये पांच सत्तास्थान होते हैं। इसी प्रकार २४ प्रकृतिक उदयस्थान में भी पांच सत्तास्थान होते हैं। कुल मिलाकर दोनों उदयस्थानों के १० सत्तास्थान हुए। इसी प्रकार २५, २६, २९ और ३० प्रकृतियों का बंध करने वाले उक्त जीवों के दो-दो उदयस्थानों की अपेक्षा दस-दस सत्तास्थान होते हैं। जो कुल मिलाकर ५० हुए। इसी प्रकार बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त आदि शेष छह अपर्याप्तों के ५०-५० सत्तास्थान जानना किन्तु सर्वत्र अपने-अपने दो-दो उदयस्थान कहना चाहिये।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त के २३, २५, २६, २९ और ३० प्रकृतिक, ये पांच बंधस्थान होते हैं और एक-एक बंधस्थान में २१, २४, २५ और २६ प्रकृतिक, ये चार उदयस्थान होते हैं। अतः पांच को चार से गुणित करने पर २० हुए तथा प्रत्येक उदयस्थान में पांच-पांच सत्तास्थान होते हैं अतः २० को ५ से गुणा करने पर १०० सत्तास्थान सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में होते हैं।

बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त के भी पूर्वोक्त २३, २५, २६, २९ और ३० प्रकृतिक, पांच बंधस्थान होते हैं और एक-एक बंधस्थान में २१, २४, २५, २६ और २७ प्रकृतिक, ये पांच-पांच उदयस्थान होते हैं, अतः ५ को ५ से गुणा करने पर २५ हुए। इनमें से अन्तिम पांच उदयस्थानों में ७८ के बिना चार-चार सत्तास्थान होते हैं, जिनके कुल भंग २० हुए और शेष २० उदयस्थानों में पांच-पांच सत्तास्थान होते हैं, जिनके कुल भंग १०० हुए। इस प्रकार यहाँ कुल भंग १२० होते हैं।

द्वीन्द्रिय पर्याप्त के २३, २५, २६, २७ और ३० प्रकृतिक, ये पांच

बंधस्थान होते हैं और प्रत्येक बंधस्थान में २१, २६, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, ये छह उदयस्थान होते हैं। इनमें से २१ और २६ प्रकृतिक उदयस्थानों में पांच-पांच सत्तास्थान हैं तथा शेष चार उदयस्थानों में ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान के सिवाय चार-चार सत्तास्थान हैं। ये कुल मिलाकर २६ सत्तास्थान हुए। इस प्रकार पांच बंधस्थानों के १३० भंग हुए।

द्वीन्द्रिय पर्याप्त की तरह त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय पर्याप्त के बंधस्थान आदि जानना चाहिये तथा उनके भी १३०, १३० भङ्ग होते हैं।

असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में भी २३, २५, २६, २९ और ३० प्रकृतिक, इन पांच बंधस्थानों में से प्रत्येक बंधस्थान में विकलेन्द्रियों की तरह छब्बीस भङ्ग होते हैं जिनका योग १३० है। परन्तु २८ प्रकृतिक बंधस्थान में ३० और ३१ प्रकृतिक ये दो उदयस्थान ही होते हैं। अतः यहां प्रत्येक उदयस्थान में ९२, ८८ और ८६ प्रकृतिक ये तीन-तीन सत्तास्थान होते हैं। इनके कुल ६ भङ्ग हुए। यहां तीन सत्तास्थान होने का कारण यह है कि २८ प्रकृतिक बंधस्थान देवगति और नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध पर्याप्त के ही होता है।[1] इसी प्रकार असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में १३०+६=१३६ भङ्ग होते हैं।

संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के २३ प्रकृतिक बंधस्थान में जैसे असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के २६ सत्तास्थान बतलाये, वैसे यहां भी जानना

---

१ अष्टाविंशतिबंधकानां पुनस्तेषां द्वे एवोदयस्थाने, तद्यथा—त्रिंशदेकत्रिंशच्च। तत्र प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि, तद्यथा—द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च। अष्टाविंशतिर्हि देवगतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या वा, ततस्तस्यां बध्यमानायामवश्यं वैक्रियचतुष्टयादि बध्यते इत्यशीति-अष्टसप्ततौ न प्राप्येते। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २०५

चाहिये। २५ प्रकृतिक बंधस्थान में २१, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, ये आठ उदयस्थान बतलाये हैं सो इनमें से २१ और २६ प्रकृतिक उदयस्थानों में तो पाच-पांच सत्तास्थान होते हैं तथा २५ और २७ प्रकृतिक उदयस्थान देवों के ही होते हैं, अतः इनमें ९२ और ८८ प्रकृतिक, ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। शेष रहे चार उदयस्थानों में से प्रत्येक में ७८ प्रकृतिक के बिना चार-चार सत्तास्थान होते हैं। *इस प्रकार यहाँ कुल ३० सत्तास्थान होते हैं।* २६ प्रकृतिक बंधस्थान में भी इसी प्रकार ३० सत्तास्थान होते हैं।

२८ प्रकृतिक बंधस्थान में आठ उदयस्थान होते हैं। इनमें से २१ २५, २६, २७, २८ और २९ प्रकृतिक इन छह उदयस्थानों में ९२ और ८८ प्रकृतिक, ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। ३० प्रकृतिक उदयस्थान में ९२, ८८, ८६ और ८० प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान होते हैं तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थान में ९२, ८८ और ८६ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार यहां कुल १९ सत्तास्थान होते हैं।

२९ प्रकृतिक बंधस्थान में ३० प्रकृतिक सत्तास्थान तो २५ प्रकृतियों का बंध करने वाले के समान जानना किन्तु यहाँ कुछ विशेषता है कि जब अविरत सम्यग्दृष्टि मनुष्य देवगति के योग्य २९ प्रकृतियों का बंध करता है तब उसके २१, २६, २८, २९ और ३० प्रकृतिक ये पाँच उदयस्थान तथा प्रत्येक उदयस्थान में ९३ और ८९ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान होते हैं जिनका जोड़ १० हुआ।

इसी प्रकार विक्रिया करने वाले संयत और संयतासंयत जीवों के भी २९ प्रकृतिक बंधस्थान के समय २५ और २७ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान तथा प्रत्येक उदयस्थान में ९३ और ८९ प्रकृतिक ये दो उदयस्थान होते हैं। जिनका जोड़ ४ होता है अथवा आहारक संयत के भी इन दो उदयस्थानों में ९३ प्रकृतियों की सत्ता होती है और तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाले मिथ्यादृष्टि को अपेक्षा ८९ की सत्ता होती है। इस

प्रकार इन १४ सत्तास्थानों को पहले के ३० सत्तास्थानों में मिला देने पर २९ प्रकृतिक बंधस्थान में कुल ४४ सत्तास्थान होते हैं।

इसी प्रकार ३० प्रकृतिक बन्धस्थान में भी २५ प्रकृतिक बन्धस्थान के समान ३० सत्तास्थानों को ग्रहण करना चाहिए। किन्तु यहाँ भी कुछ विशेषता है कि तीर्थंकर प्रकृति के साथ मनुष्यगति के योग्य ३० प्रकृतियों का बंध होते समय २१, २५, २७, २८, २९ और ३१ प्रकृतिक, ये छह उदयस्थान तथा प्रत्येक उदयस्थान में ९३ और ८९ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान होते हैं। जिनका कुल जोड़ १२ होता है। इन्हें पूर्वोक्त ३० में मिला देने पर ३० प्रकृतिक बंधस्थान में कुल ४२ सत्तास्थान होते हैं।

३१ प्रकृतिक बन्धस्थान में तीर्थंकर और आहारकद्विक का बन्ध अवश्य होता है। अतः यहाँ भी ९३ प्रकृतियों की सत्ता है तथा १ प्रकृतिक बंध के समय ८ सत्तास्थान होते हैं। इनमें से ९३, ९२, ८९ और ८८ प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान उपशमश्रेणि में होते हैं और ८०, ७९, ७६ और ७५ प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान क्षपकश्रेणि में होते हैं।

बंध के अभाव में भी संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के पूर्वोक्त आठ सत्तास्थान होते हैं। जिनमें से प्रारम्भ के ४ सत्तास्थान उपशांतमोह ग्यारहवें गुणस्थान में प्राप्त होते हैं और अन्तिम ४ सत्तास्थान बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव के सब मिलाकर २०८ सत्तास्थान होते हैं।

द्रव्यमन के संयोग से केवली को भी संज्ञी माना जाता है। सो उनके भी २६ सत्तास्थान प्राप्त होते हैं। क्योंकि केवली के २०, २१, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ९ और ८ प्रकृतिक, ये दस उदयस्थान होते हैं। इनमें से २० प्रकृतिक उदयस्थान में ७९ और ७५ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान होते हैं तथा २६ और २८ प्रकृतिक उदयस्थानों में भी यही

दो सत्तास्थान जानना चाहिए। २१ तथा २७ प्रकृतिक उदयस्थान में ८० और ७६ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान होते हैं। २९ प्रकृतिक उदयस्थान में ८०, ७९, ७६ और ७५ प्रकृतिक ये चार सत्तास्थान होते हैं। क्योंकि २९ प्रकृतिक उदयस्थान तीर्थंकर और सामान्य केवली दोनों को प्राप्त होता है। उनमें से यदि तीर्थंकर को २९ प्रकृतिक उदयस्थान होगा तो ८० और ७६ प्रकृतिक ये दो सत्तास्थान होंगे और यदि सामान्य केवली के २९ प्रकृतिक उदयस्थान होगा तो ७९ और ७५ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान होंगे। इसी प्रकार ३० प्रकृतिक उदयस्थान में भी चार सत्तास्थान प्राप्त होते हैं। ३१ प्रकृतिक उदयस्थान में ८० और ७६ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान होते हैं, क्योंकि यह उदयस्थान तीर्थंकर केवली के ही होता है। ९ प्रकृतिक उदयस्थान में ८०, ७६ और ९ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान होते हैं। इनमें से प्रारम्भ के दो सत्तास्थान तीर्थंकर के अयोगिकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय तक होता है और अन्तिम ९ प्रकृतिक सत्तास्थान अयोगिकेवली गुणस्थान के अंत समय में होता है। ८ प्रकृतिक उदयस्थान में ७९, ७५ और ८ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान होते हैं। इनमें से आदि के दो सत्तास्थान (७९, ७५) सामान्य केवली के अयोगिकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय तक प्राप्त होते हैं और अन्तिम ८ प्रकृतिक सत्तास्थान अन्तिम समय में प्राप्त होता है। इस प्रकार ये २६ सत्तास्थान होते हैं।

अब यदि इन्हें पूर्वोक्त २०८ सत्तास्थानों में शामिल कर दिया जाये तो संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवस्थान में कुल २३४ सत्तास्थान होते हैं।

चौदह जीवस्थानों में नामकर्म के बंधस्थानों, उदयस्थानों और उनके भंगों का विवरण नीचे लिखे अनुसार है। पहले बंधस्थानों और उनके भंगों को बतलाते हैं।

१ सूक्ष्म एके० अप०		२ सूक्ष्म एके० प०		३ बादर एके० अप०		४ बादर एके० प०	
२३	४	२३	४	२३	४	२३	४
२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५
२६	१६	२६	१६	२६	१६	२६	१६
२९	९२४०	२९	९२४०	२७	९२४०	२९	९२४०
३०	४६३२	३०	४६३२	३०	४६३२	३०	४६३२
५	१३९१७	५	१३९१७	५	१३९१७	५	१३९१७

५ द्वीन्द्रिय अपर्याप्त		६ द्वीन्द्रिय पर्याप्त		७ त्रीन्द्रिय अपर्याप्त		८ त्रीन्द्रिय पर्याप्त	
२३	४	२३	४	२३	४	२३	४
२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५
२६	१६	२६	१६	२६	१६	२६	१६
२९	९२४०	२९	९२४०	२९	९२४०	२९	९२४०
३०	४६३२	३०	४६३२	३०	४६३२	३०	४६३२
५	१३९१७	५	१३९१७	५	१३९१७	५	१३९१७

९ चतुरिन्द्रिय अप०		१० चतु० पर्याप्त		११ असं० पंचे० अप०		१२ असं० पं० पर्याप्त	
२३	४	२३	४	२३	४	२३	४
२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५	२५
२६	१६	२६	१६	२६	१६	२६	१६
२९	९२४०	२९	९२४०	२८	९२४०	२८	९
३०	४६३२	३०	४६३२	३०	४६३२	२९	९२४०
						३०	४६३२
५	१३९१७	५	१३९१७	५	१३९१७	६	१३९२६

१३ संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त		१४ संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	
२३	४	२३	४
२५	२५	२५	२५
२६	१६	२६	१६
२९	९२४०	२८	९
३०	४६३२	२९	९२४८
		३०	४६४१
		३१	१
		१	१
५	१३९१७	८	१३९४५

बंधस्थानों के भंगों को बतलाने के बाद अब उदयस्थानों के भंगों को बतलाते हैं।

१ सूक्ष्म एके० अप०		२ सूक्ष्म एके० पर्याप्त		३ बादर एके० अप०		४ बादर एके० पर्याप्त	
२१	१	२१	१	२१	१	२१	२
२४	२	२४	२	२४	२	२५	५
		२५	२			२५	५
		२६	२			२६	११
						२७	६
२	३	४	७	२	३	५	२९

५ द्वीन्द्रिय अपर्याप्त		६ द्वीन्द्रिय पर्याप्त		७ त्रीन्द्रिय अपर्याप्त		८ त्रीन्द्रिय पर्याप्त	
२१	१	२१	२	२१	१	२१	२
२६	१	२६	२	२६	१	२६	२
		२८	२			२८	२
		२९	४			२९	४
		३०	६			३०	६
		३१	४			३१	४
२	२	६	२०	२	२	६	२०

९ चतुरि० अप०		१० चतुरि० पर्याप्त		११ असं० पंचे० अप०		१२ असं० पंचे० पर्याप्त	
२१	१	२१	२	२१	२	२१	८
२६	१	२६	२	२६	२	२६	२८८
		२८	२		असंज्ञी मनुष्य १	२८	५७६
		२९	४			२९	११५२
		३०	६			३०	१७२८
		३१	४		असंज्ञी तिर्यंच १	३१	२३०४
२	२	३	२०	२	६	६	४६०४

१३ संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त		१४ संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	
२१	२	२१	२४
२६	२	२५	२६
		२६	५७६
		२७	२६
		२८	११९६
		२९	१७७२
		३०	२८९८
		३१	११५२
		२०	१
		९	१
		८	१
		०	५
२	४	११	७६७९

जीवस्थानों में नामकर्म की प्रकृतियों के बंध, उदय, सत्तास्थानों के भंगों का विवरण

क्रम सं०	जीवस्थान	बंधस्थान ८	भंग १३६४५	उदयस्थान १२	भंग ७७६१	सत्तास्थान १२
१	सू० एके० अप०	५ २३,२५,२६,२९,३०	१३६१७	२ २१,२४	३	५ ९२,८८,८६,८०,७८
२	सू० एके० पर्या०	५ २३,२५,२६,२९,३०	१३६१७	४ २१,२४,२५,२६	७	५ ९२,८८,८६,८०,७८
३	बा० एके० अप०	५ २३,२५,२६,२९,३०	१३६१७	२ २१,२४	३	५ ९२,८८,८६,८०,७८
४	बा० एके० पर्या०	५ २३,२५,२६,२९,३०	१३६१७	५ २१,२४,२५,२६,२७	२९	५ ९२,८८,८६,८०,७८
५	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	५ २३,२५,२६,२९,३०	१३६१७	२ २१,२६	२	५ ९२,८८,८६,८०,७८
६	द्वीन्द्रिय पर्याप्त	५ २३,२५,२६,२९,३०	१३६१७	६ २१,२६,२८,२९,३०,३१	२०	५ ९२,८८,८६,८०,७८
७	त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	५ २३,२५,२६,२९,३०	१३६१७	२ २१,२६	२	५ ९२,८८,८६,८०,७८
८	त्रीन्द्रिय पर्याप्त	५ २३,२५,२६,२९,३०	१३६१७	६ २१,२६,२८,२९,३०,३१	२०	५ ९२,८८,८६,८०,७८
९	चतु० अपर्याप्त	५ २३,२५,२६,२९,३०	१३६१७	२ २१,२६	२	५ ९२,८८,८६,८०,७८
१०	चतु० पर्याप्त	५ २३,२५,२६,२९,३०	१३६१७	६ २१,२६,२८,२९,३०,३१	२०	५ ९२,८८,८६,८०,७८
११	असं० पंचे० अप०	५ २३,२५,२६,२९,३०	१३६१७	२ २१,२६	४	५ ९२,८८,८६,८०,७८
१२	असं० पंचे० पर्या०	६ २३,२५,२६,२८,२९,३०	१३६२६	९ २१,२६,२८,२९,३०,३१	४६०४	५ ९२,८८,८६,८०,७८
१३	संज्ञी पंचे० अप०	५ २३,२५,२६,२९,३०	१३६१७	२ २१,२६	४	५ ९२,८८,८६,८०,७८
१४	संज्ञी पंचे० पर्या०	८ २३,२५,२६,२८,२९,३० ३१,१	१३६४५	११ २१,२५,२६,२७,२८,२९ ३०,३१, के० २०,९,८	७६७६	१२ ९३,९२,८९,८८,८६,८० ७९,७८,७६,७५ के० ९,८

इस प्रकार से जीवस्थानों में आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियों के बंध, उदय व सत्ता स्थान तथा उनके भंगों का कथन करने के बाद अब गुणस्थानों में भंगों का कथन करते हैं।

गुणस्थानों में संवेध भंग

सर्वप्रथम गुणस्थानों में ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म के बंधादि स्थानों का कथन करते हैं—

नाणंतराय तिविहमवि दससु दो होंति दोसु ठाणेसुं।

शब्दार्थ—**नाणंतराय**—ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म, **तिविहमवि**—तीन प्रकार से (बंध, उदय और सत्ता की अपेक्षा), **दससु**—आदि के दस गुणस्थानों में, **दो**—दो (उदय और सत्ता), **होंति**—होता है, **दोसु**—दो (उपशांतमोह और क्षीणमोह में), **ठाणेसुं**—गुणस्थानों में।

गाथार्थ—प्रारम्भ के दस गुणस्थानों में ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म बन्ध, उदय और सत्ता की अपेक्षा तीन प्रकार का है और दो गुणस्थानों (उपशांतमोह, क्षीणमोह) में उदय और सत्ता की अपेक्षा दो प्रकार का है।

विशेषार्थ—पूर्व में चौदह जीवस्थानों में आठ कर्मों के बंध, उदय और सत्ता स्थान तथा उनके संवेध भंगों का कथन किया गया। अब गुणस्थानों में उनका कथन करते हैं।

ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म के बारे में यह नियम है कि ज्ञानावरण की पाँचों और अन्तराय की पाँचों प्रकृतियों का बन्धविच्छेद दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अन्त में तथा उदय और सत्ता का विच्छेद बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान के अन्त में होता है। अतएव इससे यह सिद्ध हो जाता है कि पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान तक दस गुणस्थानों में ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म के पाँच

प्रकृतिक बन्ध, पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्ता, ये तीनों प्राप्त होते हैं।[1] लेकिन दसवें गुणस्थान में इन दोनों का बन्धविच्छेद हो जाने से उपशांतमोह और क्षीणमोह—ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थान में पाँच प्रकृतिक उदय और पाँच प्रकृतिक सत्ता ये दो ही प्राप्त होते हैं।[2] बारहवें गुणस्थान से आगे तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में इन दोनों कर्मों के बन्ध, उदय और सत्ता का अभाव हो जाने से बंध, उदय और सत्ता में से कोई भी नहीं पाई जाती है।

ज्ञानावरण और अंतराय कर्म के बंधादि स्थानों को बतलाने के बाद अब दर्शनावरण कर्म के भंगों का कथन करते हैं।

मिच्छासाणे बिइए नव चउ पण नव य संतंसा ॥३९॥
मिस्साइ नियट्टीओ छ चउ पण नव य संतकम्मंसा।
चउबंध तिगे चउ पण नवंस दुसु जुयल छ स्संता ॥४०॥
उवसंते चउ पण नव खीणे चउउदय छच्च चउ संतं।

शब्दार्थ—मिच्छासाणे—मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थान में, **बिइए**—दूसरे कर्म के, **नव**—नौ, **चउ पण**—चार या पाँच **नव**—नौ, **य**—और, **संतंसा**—सत्ता।

मिस्साइ—मिश्र गुणस्थान से लेकर, **नियट्टीओ**—अपूर्वकरण गुणस्थान तक, **छ चउ पण**—छह, चार या पाँच, **नव**—नौ, **य**—और, **संतकम्मंसा** सत्ता प्रकृति, **चउबंध**—चार का बंध, **तिगे**—

१ मिथ्यादृष्ट्यादिषु दशसु गुणस्थानकेषु ज्ञानावरणस्यान्तरायस्य च पंचविधो बंधः पंचविध उदयः पंचविधा सत्ता इत्यर्थः।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २०७

२ बन्धाभावे उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च ज्ञानावरणीयाऽन्तरायगोः प्रत्येकं पंचविध उदयः पंचविधा च सत्ता भवतीति, परतः उदय-सत्तयोरप्यभावः।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २०७

अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानों में, **चउपण**—चार अथवा पाँच, **नवंस**—नौ की सत्ता, **दुसु**—दो गुणस्थानों (अनिवृत्तिबादर और सूक्ष्मसंपराय) में, **जुयल**—बंध और उदय, **छस्संता**—छह की सत्ता।

उवसंते—उपशांतमोह गुणस्थान में, **चउ पण**—चार अथवा पाँच, **नव**—नौ, **खीणे**—क्षीणमोह गुणस्थान में, **चउरुदय**—चार का उदय, **छच्च चउ**—छह और चार की, **संतं**—सत्ता।

गाथार्थ—दूसरे दर्शनावरण कर्म का मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थान में नौ प्रकृतियों का बंध, चार या पांच प्रकृतियों का उदय तथा नौ प्रकृति की सत्ता होती है।

मिश्र गुणस्थान से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान के पहले संख्यातवें भाग तक छह का बंध, चार या पाँच का उदय और नौ की सत्ता होती है। अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानों में चार का बंध, चार या पाँच का उदय और नौ की सत्ता होती है। क्षपक के नौ और दस इन दो गुणस्थानों में चार का बंध, चार का उदय और छह की सत्ता होती है।

उपशांतमोह गुणस्थान में चार या पाँच का उदय और नौ की सत्ता होती है। क्षीणमोह गुणस्थान में चार का उदय तथा छह और चार की सत्ता होती है।[1]

---

१ (क) मिच्छा सासयणेसु नव बंधुवलक्खिया उ दो भंगा।
मीसाओ य नियट्टी जा छब्बंधेण दो दो उ॥
चउबंधे नवसंते दोण्णि अपुव्वाउ सुहुमरागो जा।
अब्बंधे णव संते उवसंते हुंति दो भंगा॥
चउबंधे छस्संते बायर सुहुमाणमेगुवलवयाणं।
छसु चउसु व संतेसु दोण्णि अबंधंमि खीणस्स॥
—पंचसंग्रह सप्ततिका गा० १०२-१०४

(ख) णव सासणोत्ति बंधो छच्चेव अपुव्वपढमभागोत्ति।
चत्तारि होंति तत्तो सुहुमकसायस्स चरमोत्ति॥

विशेषार्थ—इन गाथाओं में गुणस्थानों की अपेक्षा दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियों के बंध, उदय और सत्ता स्थानों का निर्देश किया गया है।

दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ ९ हैं। इनमें से स्त्यानर्द्धित्रिक का बंध सासादन गुणस्थान तक ही होता है तथा चक्षुर्दर्शनावरण आदि चार का उदय अपने उदयविच्छेद होने तक निरंतर बना रहता है किन्तु निद्रा आदि पाँच का उदय कदाचित होता है और कदाचित नहीं होता है तथा उसमें भी एक समय में एक का ही उदय होता है, एक साथ दो का या दो से अधिक का नहीं होता है। इसीलिये मिथ्यात्व और सासादन इन दो गुणस्थानों में ९ प्रकृतिक बंध, ४ प्रकृतिक उदय और ९ प्रकृतिक सत्ता तथा ९ प्रकृतिक बंध, ५ प्रकृतिक उदय और ९ प्रकृतिक सत्ता, ये दो भंग प्राप्त होते हैं—'मिच्छासाणे बिइए नव चउ पण नव य संतंसा।'

इन दो—मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थानों के आगे तीसरे मिश्र गुणस्थान से लेकर आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम भाग तक—'मिस्साइ नियट्टीओ छच्चउ पण नव य संतकम्मंसा'—छह का बंध, चार या पाँच का उदय और नौ की सत्ता होती है। इसका कारण यह है कि स्त्यानर्द्धित्रिक का बंध सासादन गुणस्थान तक होने से छह प्रकृतिक बंध होता है। किन्तु उदय और सत्ता प्रकृतियों में कोई अंतर नहीं पड़ता है। अतः इन गुणस्थानों में छह प्रकृतिक बंध, चार प्रकृतिक

खीणो त्ति चारि उदया पंचसु णिद्दासु दोसु णिद्दासु।
एक्के उदयं पत्ते खीणदुचरिमोत्ति पंचुदया॥
मिच्छादुवसंतो त्ति य अणियट्टी खवग पढममागोत्ति।
णवसत्ता खीणस्स दुचरिमोत्ति य छच्चदूवरिमे॥

—गो० कर्मकांड ४६०-४६२

उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता तथा छह प्रकृतिक बंध, पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता, ये दो भंग प्राप्त होते हैं। यद्यपि स्त्यानर्द्धित्रिक का उदय प्रमत्तसंयत गुणस्थान के अंतिम समय तक ही हो सकता है, फिर भी इससे पाँच प्रकृतिक उदयस्थान के कथन में कोई अंतर नहीं आता है, सिर्फ विकल्प रूप प्रकृतियों में ही अंतर पड़ता है। छठे गुणस्थान तक निद्रा आदि पाँचों प्रकृतियाँ विकल्प से प्राप्त होती हैं, आगे निद्रा और प्रचला ये दो प्रकृतियाँ ही विकल्प से प्राप्त होती हैं।

अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम भाग में निद्रा और प्रचला की भी बंधव्युच्छित्ति हो जाने से आगे सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान पर्यन्त तीन गुणस्थानों में बंध में चार प्रकृतियाँ रह जाती हैं, किन्तु उदय और सत्ता पूर्ववत् प्रकृतियों की रहती है। अतः अपूर्वकरण के दूसरे भाग से लेकर सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक तीन गुणस्थानों में चार प्रकृतिक बंध, चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता तथा चार प्रकृतिक बंध, पाँच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता, यह दो भंग प्राप्त होते हैं—'चउबंध तिगे चउ पण नवंस'।

लेकिन उक्त कथन उपशमश्रेणि की अपेक्षा समझना चाहिये, क्योंकि ऐसा नियम है कि निद्रा या प्रचला का उदय उपशमश्रेणि में ही होता है, क्षपकश्रेणि में नहीं होता है। अतः क्षपकश्रेणि में अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानों में पाँच प्रकृतिक उदय रूप भङ्ग प्राप्त नहीं होता है तथा अनिवृत्तिकरण के कुछ भागों के व्यतीत होने पर स्त्यानर्द्धित्रिक की सत्ता का क्षय हो जाता है। जिससे छह प्रकृतियों की ही सत्ता रहती है। अतः अनिवृत्तिकरण के अंतिम संख्यात भाग और सूक्ष्मसंपराय इन दो क्षपक गुणस्थानों में चार प्रकृतिक बंध, चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्ता, यह एक भङ्ग प्राप्त होता है—'दुसु जुयल छस्संता'।

उपशमश्रेणि या क्षपकश्रेणि वाले के दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अंत में दर्शनावरण कर्म का बंधाव्यच्छेद हो जाता है। इसलिये आगे ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में बंध की अपेक्षा दर्शनावरण के भंग प्राप्त नहीं होते हैं। अतः उपशांतमोह गुणस्थान में जो उपशमश्रेणि का गुणस्थान है, उदय और सत्ता तो दसवें गुणस्थान के समान बनी रहती है किन्तु बंध नहीं होने से—'उवसंते चउपण नव'—चार प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता तथा पांच प्रकृतिक उदय और नौ प्रकृतिक सत्ता, यह दो भङ्ग प्राप्त होते हैं।

क्षीणमोह गुणस्थान में—'खीणे चउरुदय छच्च चउसंत'—चार का उदय और छह या चार की सत्ता होती है। इसका कारण यह है कि बारहवां क्षीणमोह गुणस्थान क्षपकश्रेणि का है और क्षपक श्रेणि में निद्रा या प्रचला का उदय नहीं होने से चार प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है तथा छह या चार प्रकृतिक सत्तास्थान होते हैं। क्योंकि जब क्षीणमोह गुणस्थान में निद्रा और प्रचला का उदय ही नहीं होता है तब क्षीणमोह गुणस्थान के अंतिम समय में इनकी सत्ता भी प्राप्त नहीं हो सकती है और नियमानुसार अनुदय प्रकृतियाँ जो होती हैं, उनका प्रत्येक निषेक स्तिबुकसंक्रमण के द्वारा सजातीय उदयवती प्रकृतियों में परिणम जाता है, जिससे क्षीणमोह गुणस्थान के अंतिम समय में निद्रा और प्रचला की सत्ता न रहकर केवल चक्षुर्दर्शनावरण आदि चार की ही सत्ता रहेगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि क्षीणमोह गुणस्थान में जो चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्ता तथा चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्ता, इन दो भङ्गों में से पहला भङ्ग चार प्रकृतिक उदय और छह प्रकृतिक सत्ता का क्षीणमोह गुणस्थान के उपान्त्य समय तक जानना चाहिये और अंतिम समय में चार प्रकृतिक उदय और चार प्रकृतिक सत्ता

का दूसरा भङ्ग प्राप्त होता है। इस प्रकार क्षीणमोह गुणस्थान में भी दो भंग प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार से ज्ञानावरण, अंतराय और दर्शनावरण कर्म की उत्तर प्रकृतियों के गुणस्थानों में बंध, उदय और सत्ता स्थानों को बतलाने के बाद अब वेदनीय, आयु और गोत्र कर्मों के भंगों को बतलाते हैं।

वेयणियाउयगोए विभज्ज मोहं परं वोच्छं ॥४१॥

शब्दार्थ—**वेयणियाउयगोए**—वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म के, **विभज्ज**—विभाग करके, **मोहं**—मोहनीय कर्म के, **परं**—इसके बाद, **वोच्छं**—कहेंगे।

गाथार्थ—वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म के भंगों का कथन करने के बाद मोहनीय कर्म के भंगों का कथन करेंगे।

विशेषार्थ—गाथा में वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म के भंगों के विभाग करने की सूचना दी है किन्तु उनके कितने-कितने भंग होते हैं यह नहीं बतलाया है। अतः आचार्य मलयगिरि की टीका में भाष्य की गाथाओं के आधार पर वेदनीय, आयु और गोत्र कर्म के जो भंग-विकल्प बतलाये हैं, उनको यहाँ स्पष्ट करते हैं।

भाष्य की गाथा में वेदनीय और गोत्र कर्म के भङ्गों का निर्देश इस प्रकार किया गया है—

चउ छस्सु दोण्णि सत्तसु एगे चउ गुणिसु वेयणियभंगा।
गोए पण चउ दो तिसु एगट्ठसु दोण्णि एक्कम्मि ॥

अर्थात् वेदनीय कर्म के छह गुणस्थानों में चार, सात में दो और एक में चार भङ्ग होते हैं तथा गोत्रकर्म के पहले में पाँच, दूसरे में चार, तीसरे आदि तीन में दो, छठे आदि आठ में एक और एक में एक भङ्ग होता है जिनका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

पहले गाथा में वेदनीय कर्म के विकल्पों का निर्देश किया है। पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक छह गुणस्थानों में-- 'चउ छस्सु'—चार भङ्ग होते हैं। क्योंकि बंध और उदय की अपेक्षा साता और असातावेदनीय, ये दोनों प्रकृतियाँ प्रतिपक्षी हैं। अर्थात् दोनों में से एक काल में किसी एक का बंध और किसी एक का ही उदय होता है किन्तु दोनों की एक साथ सत्ता पाये जाने में कोई विरोध नहीं है तथा असाता वेदनीय का बंध आदि के छह गुणस्थानों में ही होता है, आगे नहीं। इसलिये प्रारंभ के छह गुणस्थानों में वेदनीय कर्म के निम्नलिखित चार भंग प्राप्त होते हैं—

१. असाता का बंध असाता का उदय और साता-असाता की सत्ता।

२. असाता का बंध, साता का उदय और साता-असाता की सत्ता।

३. साता का बंध, असाता का उदय और साता-असाता की सत्ता।

४. साता का बंध, साता का उदय और साता-असाता की सत्ता।

'दोण्णि सत्तसु'—सातवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक सात गुणस्थानों में दो भङ्ग होते हैं। क्योंकि छठे गुणस्थान में असातावेदनीय का बंधविच्छेद हो जाने से सातवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक सिर्फ सातावेदनीय का बंध होता है, किन्तु उदय और सत्ता दोनों की पाई जाती है, जिससे इन सात गुणस्थानों में—१. साता का बंध, साता का उदय और साता-असाता की सत्ता तथा २. साता का बंध, असाता का उदय और साता-असाता की सत्ता, यह दो भङ्ग प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार से तेरहवें गुणस्थान तक वेदनीय कर्म के बंधादि

स्थानों के विकल्पों को बतलाने के बाद अब चौदहवें गुणस्थान के भङ्गों को बतलाने के लिये कहते हैं कि 'एगे चउ' अर्थात् एक गुणस्थान—चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान में चार भङ्ग होते हैं। क्योंकि अयोगिकेवली गुणस्थान में साता वेदनीय का भी बंध नहीं होता है, अतः वहाँ बंध की अपेक्षा तो कोई भङ्ग प्राप्त नहीं होता है किन्तु उदय और सत्ता की अपेक्षा भङ्ग बनते हैं। फिर भी जिसके इस गुणस्थान में असाता का उदय है, उसके उपान्त्य समय में साता की सत्ता का नाश हो जाने से तथा जिसके साता का उदय है उसके उपान्त्य समय में असाता की सत्ता का नाश हो जाने से उपान्त्य समय तक—१. साता का उदय और साता-असाता की सत्ता, २. असाता का उदय और साता-असाता की सत्ता, ये दो भङ्ग प्राप्त होते हैं। तथा अंतिम समय में, ३. साता का उदय और साता की सत्ता तथा ४. असाता का उदय और असाता की सत्ता, यह दो भङ्ग प्राप्त होते हैं।[1] इस प्रकार अयोगिकेवली गुणस्थान में वेदनीय कर्म के चार भंग बनते हैं।

अब गोत्रकर्म के भंगों को गुणस्थानों में बतलाते हैं।

गोत्रकर्म के बारे में भी वेदनीय कर्म की तरह एक विशेषता तो यह है कि साता और असाता वेदनीय के समान उच्च और नीच गोत्र बंध और उदय की अपेक्षा प्रतिपक्षी प्रकृतियाँ हैं, एक काल में इन दोनों में से किसी एक का बंध और एक का ही उदय हो सकता है, लेकिन

---

१ 'एकस्मिन्' अयोगिकेवलिनि चत्वारो भंगा, ते चेमे—असातस्योदयः सातासाते सती, अथवा सातस्योदयः सातासाते सती, एतौ, द्वौ विकल्पावयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावत्प्राप्येते, चरमसमये तु असातस्योदयः असातस्य सत्ता यस्य द्विचरम-समये सातं क्षीणम्, यस्य स्वसातं द्विचरम समये क्षीणं तस्यायं विकल्पः—सातस्योदयः सातस्य सत्ता।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २०६

सत्ता दोनों की होती है और दूसरी विशेषता यह है कि अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों के उच्चगोत्र की उद्वलना होने पर बंध, उदय और सत्ता नीच गोत्र की ही होती है, तथा जिनमें ऐसे अग्निकायिक और वायुकायिक जीव उत्पन्न होते हैं, उनके भी कुछ काल तक बंध, उदय और सत्ता नीच गोत्र की होती है। इन दोनों विशेषताओं को ध्यान में रखकर मिथ्यात्व गुणस्थान में गोत्रकर्म के भंगों का विचार करते हैं तो पांच भंग प्राप्त होते हैं—'गोए पण'। वे पांच भंग इस प्रकार हैं—

१. नीच का बंध, नीच का उदय तथा नीच और उच्च गोत्र की सत्ता।

२. नीच का बंध, उच्च का उदय तथा नीच और उच्च की सत्ता।

३. उच्च का बंध, उच्च का उदय और उच्च व नीच की सत्ता।

४. उच्च का बंध, नीच का उदय तथा उच्च व नीच की सत्ता।

५. नीच का बंध, नीच का उदय और नीच की सत्ता।

उक्त पाँच भंगों में से पाँचवां भंग—नीच गोत्र का बंध, उदय और सत्ता—अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों तथा उन जीवों में भी कुछ काल के लिए प्राप्त होता है जो अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों में से आकर जन्म लेते हैं।[1] शेष मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीवों के पहले चार विकल्प प्राप्त होते हैं।

सासादन गुणस्थान में चार भंग प्राप्त होते हैं। क्योंकि नीच गोत्र का बंध सासादन गुणस्थान तक ही होता है और मिश्र आदि

---

१ नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रं सत्, एष विकल्पस्तेजस्कायिक-वायुकायिकेषु लभ्यते, तद्भवादुद्वृत्तेषु वा शेषजीवेषु कियत्कालम्।
—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २०६

गुणस्थानों में एक उच्चगोत्र का ही बंध होता है। इसका यह अर्थ हुआ कि मिथ्यात्व गुणस्थान के समान सासादन गुणस्थान में भी किसी एक का बंध किसी एक का उदय और दोनों की सत्ता बन जाती है। इस हिसाब से यहाँ चार भंग पाये जाते हैं और वे चार भंग वही हैं जिनका मिथ्यात्व गुणस्थान के भंग १, २, ३ और ४ में उल्लेख किया गया है।

'दो तिसु' अर्थात् तीसरे, चौथे, पांचवें—मिश्र, अविरत सम्यग्दृष्टि और देशविरति गुणस्थानों में दो भंग होते हैं। क्योंकि तीसरे से लेकर पांचवें गुणस्थान तक बंध एक उच्च गोत्र का ही होता है किन्तु उदय और सत्ता दोनों की पाई जाती है। इसलिये इन तीन गुणस्थानों में—१. उच्च का बंध, उच्च का उदय और उच्च-नीच की सत्ता, तथा २ उच्च का बंध, नीच का उदय और नीच-उच्च की सत्ता, यह दो भंग पाये जाते हैं। यहाँ कितने ही आचार्यों का यह भी अभिमत है कि पांचवें गुणस्थान में उच्च का बंध, उच्च का उदय और उच्च-नीच की सत्ता यही एक भंग होता है। इस विषय में आगम वचन है कि—

सामन्नेणं वयजाईए उच्चागोयस्स उदओ होइ।

अर्थात्—सामान्य से संयत और संयतासंयत जाति वाले जीवों के उच्च गोत्र का उदय होता है।

'एगट्ठसु'—यानी छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान से लेकर आठ गुणस्थानों में से प्रत्येक गुणस्थान में एक भंग प्राप्त होता है। क्योंकि छठे से लेकर दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक ही उच्च गोत्र का बंध होता है। अतः छठे, सातवें, आठवें, नौवें, दसवें—प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्ति बादर और सूक्ष्मसंपराय—गुणस्थानों में से प्रत्येक में—उच्च का बंध, उच्च का उदय और उच्च-

नीच की सत्ता यह एक भंग प्राप्त होता है तथा दसवें गुणस्थान में उच्च गोत्र का बंधविच्छेद हो जाने से ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें—उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगिकेवली गुणस्थान में उच्च-गोत्र का उदय और उच्च-नीच की सत्ता, यह एक भंग प्राप्त होता है। इस प्रकार छठे से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में एक भंग प्राप्त होता है, यह सिद्ध हुआ।

'दोण्णि एक्कम्मि'—शेष रहे एक चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान मे दो भंग होते हैं। इसका कारण यह है कि अयोगिकेवली गुणस्थान में नीच गोत्र की सत्ता उपान्त्य समय तक ही होती है क्योंकि चौदहवें गुणस्थान में यह उदयरूप प्रकृति न होने से उपान्त्य समय में ही इसका स्तिबुक संक्रमण के द्वारा उच्च गोत्र रूप से परिणमन हो जाता है, अतः इस गुणस्थान के उपान्त्य समय तक उच्च का उदय और उच्च-नीच की सत्ता, यह एक भंग तथा अन्त समय में उच्च का उदय और उच्च की सत्ता, यह दूसरा भंग होता है। इस प्रकार चौदहवें गुणस्थान में दो भंगों का विधान जानना चाहिए।

गुणस्थानों में वेदनीय और गोत्र कर्मों के भंगों का विवेचन करने के बाद अब आयुकर्म के भंगों का विचार भाष्य गाथा के आधार से करते हैं। इस सम्बन्धी गाथा निम्न प्रकार है—

अट्ठच्छाहिगवीसा सोलस वीसं च बार छ दोसु।
बो चउसु तीसु एक्कं मिच्छाइसु आउगे भंगा॥

अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान में २८, सासादन में २६, मिश्र में १६, अविरत सम्यग्दृष्टि में २०, देशविरत में १२, प्रमत्त और अप्रमत्त में ६, अपूर्वकरण आदि चार में २ और क्षीणमोह आदि में १, इस प्रकार मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में आयुकर्म के भंग जानना चाहिए। जिनका विशेष स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है—

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में आयुकर्म के २८ भंग होते हैं। क्योंकि चारों गतियों के जीव मिथ्यादृष्टि भी होते हैं और नारकों के पांच, तिर्यंचों के नौ, मनुष्यों के नौ और देवों के पांच, इस प्रकार आयुकर्म के २८ भंग पहले बतलाये गये हैं। अतः वे सब भंग मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में संभव होने से २८ भंग मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में कहे हैं।

सासादन गुणस्थान में २६ भंग होते हैं। क्योंकि नरकायु का बंध मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होने से सासादन सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्य नरकायु का बंध नहीं करते हैं। अतः उपर्युक्त २८ भंगों में से— १ भुज्यमान तिर्यंचायु, बध्यमान नरकायु और तिर्यंच-नरकायु की सत्ता, तथा भुज्यमान मनुष्यायु बध्यमान नरकायु और मनुष्य-नरकायु की सत्ता, ये दो भंग कम होने जाने से सासादन गुणस्थान में २६ भंग प्राप्त होते हैं।[1]

तीसरे मिश्र गुणस्थान में परभव संबंधी आयु के बंध न होने का नियम होने से परभव संबंधी किसी भी आयु का बन्ध नहीं होता है। अतः पूर्वोक्त २८ भंगों में से बंधकाल में प्राप्त होने वाले नारकों के दो, तिर्यंचों के चार, मनुष्यों के चार और देवों के दो, इस प्रकार २+४+४+२=१२ भंगों को कम कर देने पर १६ भंग प्राप्त होते हैं।

चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में २० भंग होते हैं। क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में तिर्यंचों और मनुष्यों में से प्रत्येक के नरक, तिर्यंच और मनुष्य आयु का बन्ध नहीं होने से तीन-तीन भंग

---

१ यतस्तिर्यंचो मनुष्या वा सासादनभावे वर्तमाना नरकायुर्न बध्नन्ति, ततः प्रत्येकं तिरश्चां मनुष्याणां च परभवायुर्बन्धकाले एकैको भंगो न प्राप्यत इति षड्विंशतिः।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २१०

तथा देव और नारकों में प्रत्येक के तिर्यंचायु का बन्ध नहीं होने से एक-एक भंग, इस प्रकार कुल आठ भेद हुए। जिनको पूर्वोक्त २८ भंगों में से कम करने पर २० भंग होते हैं।

देशविरत गुणस्थान में १२ भंग होते हैं। क्योंकि देशविरति तिर्यंच और मनुष्यों के होती है और यदि वे परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध करते हैं तो देवायु का ही बन्ध करते हैं अन्य आयु का नहीं। देशविरता आयुर्बध्नन्तो देवायुरेव बध्नन्ति न शेषमायुः। अतः इनके आयुबन्ध के पहले एक-एक ही भंग होता है और आयुबन्ध के काल में भी एक-एक भंग ही होता है। इस प्रकार तिर्यंच और मनुष्यों, दोनों को मिलाकर कुल चार भंग हुए तथा उपरत बंध की अपेक्षा तिर्यंचों के भी चार भंग होते हैं और मनुष्यों के भी चार भंग। क्योंकि चारों गति सम्बन्धी आयु का बन्ध करने के पश्चात तिर्यंच और मनुष्यों के देशविरति गुणस्थान के प्राप्त होने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है। इस प्रकार उपरत बंध की अपेक्षा तिर्यंचों के चार और मनुष्यों के चार, जो कुल मिलाकर आठ भङ्ग हैं। इनमें पूर्वोक्त चार भङ्गों को मिलाने पर देशविरत गुणस्थान में कुल बारह भङ्ग हो जाते हैं।

'छ दोसु'—अर्थात् पांचवें गुणस्थान के बाद के प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत, इन दो गुणस्थानों में छह भङ्ग होते हैं। इसका कारण यह है कि ये दोनों गुणस्थान मनुष्यों के ही होते हैं। और ये देवायु को ही बांधते हैं। अतः इनके आयु बन्ध के पहले एक भङ्ग और आयुबन्ध काल में भी एक भङ्ग होता है। किन्तु उपरत बन्ध की अपेक्षा यहाँ चार भङ्ग होते हैं, क्योंकि चारों गति सम्बन्धी आयुबन्ध के पश्चात प्रमत्त और अप्रमत्त संयत गुणस्थान प्राप्त होने में कोई बाधा नहीं है। इस प्रकार आयुबन्ध के पूर्व का एक, आयु बन्ध के समय का एक और उपरत बन्ध काल के चार भङ्गों को मिलाने से प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत, इन दोनों गुणस्थानों में छह भङ्ग प्राप्त होते हैं।

आयुकर्म का बन्ध सातवें गुणस्थान तक ही होता है। आगे आठवें अपूर्वकरण आदि शेष गुणस्थानों में नहीं होता है। किन्तु एक विशेषता है कि जिसने देवायु का बन्ध कर लिया, ऐसा मनुष्य उपशमश्रेणि पर आरोहण कर सकता है और जिसने देवायु को छोड़कर अन्य आयु का बन्ध किया है, वह, उपशमश्रेणि पर आरोहण नहीं करता है—

तिसु आउगेसु बद्धेसु णेण सेढिं न आरुहइ।[1]

तीन आयु का बन्ध करने वाला (देवायु को छोड़कर) जीव श्रेणि पर आरोहण नहीं करता है। अतः उपशमश्रेणि की अपेक्षा अपूर्वकरण आदि उपशांतमोह गुणस्थान पर्यन्त आठ, नौ, दस और ग्यारह, इन चार गुणस्थानों में दो-दो भङ्ग प्राप्त होते हैं—'दो चउसु'। वे दो भङ्ग इस प्रकार हैं—१ मनुष्यायु का उदय, मनुष्यायु की सत्ता, २ मनुष्यायु का उदय मनुष्य-देवायु की सत्ता। इनमें से पहला भङ्ग परभव संबंधी आयु बन्धकाल के पूर्व में होता और दूसरा भङ्ग उपरत बन्धकाल में होता है।

लेकिन क्षपकश्रेणि की अपेक्षा अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानों में मनुष्यायु का उदय और मनुष्यायु की सत्ता, यही एक भङ्ग होता है।

क्षीणमोह, सयोगिकेवली, अयोगिकेवली इन तीन गुणस्थानों में भी मनुष्यायु का उदय और मनुष्यायु की सत्ता, यही एक भङ्ग होता है—'तीसु एक्कं'।

इस प्रकार प्रत्येक गुणस्थान में आयुकर्म के सम्भव भङ्गों का विचार किया गया कि प्रत्येक गुणस्थान में कितने-कितने भङ्ग होते हैं।

१४ गुणस्थानों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, आयु, गोत्र और अंतराय, इन छह कर्मों का विवरण इस प्रकार है—

---

१ कर्म प्रकृति गाथा ३७५।

क्रम सं०	गुणस्थान	ज्ञाना-वरण	दर्शना-वरण	वेदनीय	आयु	गोत्र	अंतराय
१	मिथ्यात्व	५	२	४	२८	२	५
२	सासादन	५	२	४	२६	२	५
३	मिश्र	५	२	४	१९	२	५
४	अविरत	५	२	४	२०	२	५
५	देशविरत	५	२	४	१२	२	५
६	प्रमत्तविरत	५	२	४	९	२	५
७	अप्रमत्तविरत	५	२	२	९	२	५
८	अपूर्वकरण	५	४	२	२	२	५
९	अनिवृत्तिकरण	५	४	२	२	२	५
१०	सूक्ष्मसंपराय	५	४	२	२	२	५
११	उपशांतमोह	५	२	२	२	२	५
१२	क्षीणमोह	५	२	२	२	२	५
१३	सयोगिकेवली	०	०	२	२	२	०
१४	अयोगिकेवली	०	०	२	२	२	०

अब गाथा के निर्देशानुसार मोहनीय कर्म के भंगों का विचार करते हैं। उनमें से भी पहले बंधस्थानों के भंगों को बतलाते हैं।

गुणठाणगेसु अट्ठसु एक्केक्कं मोहबंधठाणेसु।
पंचानियट्टिठाणे बंधोवरमो परं तत्तो ॥४२॥

शब्दार्थ—**गुणठाणगेसु**—गुणस्थानों में, **अट्ठसु**—आठ में, **एक्केक्कं**—एक-एक, **मोहबंधठाणेसु**—मोहनीय कर्म के बंधस्थानों में से, **पंच**—पाँच, **अनियट्टिठाणे**—अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में, **बंधोवरमो**—बंध का अभाव है, **परं**—आगे, **तत्तो**—उससे (अनिवृत्तिबादर गुणस्थान से)।

गाथार्थ—मिथ्यात्व आदि आठ गुणस्थानों में मोहनीय कर्म के बंधस्थानों में से एक, एक बंधस्थान होता है तथा अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में पाँच और अनन्तर आगे के गुणस्थानों में बंध का अभाव है।

विशेषार्थ—इस गाथा में मोहनीय कर्म के बंध सम्बन्धी गुणस्थानों में से बंधस्थानों को बतलाया है। सामान्य से मोहनीय कर्म के बंधस्थान पहले बताये जा चुके हैं, जो २२, २१, १७, १३, ९, ५, ४, ३, २, १ प्रकृतिक हैं। इन दस स्थानों को गुणस्थानों में घटाते हैं।

'गुणठाणगेसु अट्ठसु एक्केक्कं' अर्थात् पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यन्त प्रत्येक गुणस्थान में मोहनीय कर्म का एक-एक बंधस्थान होता है। वह इस प्रकार जानना चाहिए कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानों में एक २२ प्रकृतिक, सासादन गुणस्थान में २१ प्रकृतिक, मिश्र गुणस्थान और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में १७ प्रकृतिक, देशविरति में १३ प्रकृतिक तथा प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत और अपूर्वकरण में ९ प्रकृतिक बंधस्थान होता है। इनके भंगों का विवरण मोहनीय कर्म के बंधस्थानों के प्रकरण में कहे गये अनुसार जानना चाहिए, लेकिन यहाँ इतनी विशेषता है कि अरति और शोक का बंधविच्छेद प्रमत्तसंयत गुणस्थान में हो जाता है अतः अप्रमत्तसंयत और अपूर्वकरण गुणस्थान में नौ प्रकृतिक बंधस्थान में एक-एक ही भंग प्राप्त होता है। पहले जो नौ प्रकृतिक

बंधस्थान में दो भंग बतलाये हैं वे प्रमत्तसंयत गुणस्थान की अपेक्षा कहे गये हैं।[1]

'पंचानियट्टिठाणे' आठवें गुणस्थान के अनन्तर नौवें अनिवृत्ति-बादर नामक गुणस्थान में ५, ४, ३, २ और १ प्रकृतिक ये पाँच बंधस्थान होते हैं। इसका कारण यह है कि नौवें गुणस्थान के पाँच भाग हैं और प्रत्येक भाग में क्रम से मोहनीय कर्म की एक-एक प्रकृति का बंधविच्छेद होने से पहले भाग में ५, दूसरे भाग में ४, तीसरे भाग में ३, चौथे भाग में २ और पाँचवें भाग में १ प्रकृतिक बंधस्थान होने से नौवें गुणस्थान में पाँच बंधस्थान माने हैं। इसके बाद सूक्ष्मसंपराय आदि आगे के गुणस्थानों में बंध का अभाव हो जाने से बंधस्थान का निषेध किया है।

उक्त कथन का सारांश यह है कि आदि के आठ गुणस्थानों में से प्रत्येक में एक-एक बंधस्थान है। नौवें गुणस्थान में पाँच बंधस्थान हैं तथा उसके बाद दसवें, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें, चौदहवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म के बंध का अभाव होने से कोई भी बंधस्थान नहीं है।

इस प्रकार से गुणस्थानों में मोहनीय कर्म के बंधस्थानों का निर्देश करने के बाद अब आगे तीन गाथाओं में उदयस्थानों का कथन करते हैं।[2]

---

१ केवलमप्रमत्ताऽपूर्वकरणयोर्भंग एकैक एव वक्तव्यः, अरतिशोकयोर्बन्धस्य प्रमत्तगुणस्थानक एव व्य-च्छेदात्। प्राक् च प्रमत्तापेक्षया नवकबंधस्थाने द्वौ भंगौ दर्शितौ। सप्ततिका प्रकरण टीका पृ०, २११

२ तुलना कीजिए—

(क) मिच्छे सगाहचउरो सासणमीसे सगाइ तिण्णुदया।
छप्पंच चउरपुव्वा तिअ चउरो अविरयाईणं॥

—पंचसंग्रह सप्ततिका गा० २६

सत्ताइ दसउ मिच्छे सासायणमीसए नवुक्कोसा।
छाई नव उ अविरए देसे पंचाइ अट्ठेव ॥४३॥
विरए खओवसमिए, चउराई सत्त छच्चअपुव्वम्मि।
अनियट्टिबायरे पुण इक्को व दुवे व उदयंसा ॥४४॥
एगं सुहुमसरागो वेएइ अवेयगा भवे सेसा।
भंगाणं च पमाणं पुव्वुद्दिट्ठेण नायव्वं ॥४५॥

शब्दार्थ—**सत्ताइ दसउ**—सात से लेकर दस प्रकृति तक, **मिच्छे**—मिथ्यात्व गुणस्थान में, **सासायण मीसए**—सासादन और मिश्र में, **नवुक्कोसा**—सात से लेकर नौ प्रकृति तक, **छाईनवउ**—छह से लेकर नौ तक, **अविरए**—अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में, **देसे**—देशविरति गुणस्थान में, **पंचाइअट्ठेव**—पांच से लेकर आठ प्रकृति तक,

विरए खओवसमिए—प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान में, **चउराईसत्त**—चार से सात प्रकृति तक, **छच्च**—और छह तक, **अपुव्वम्मि**—अपूर्वकरण गुणस्थान में, **अनियट्टिबायरे**—अनिवृत्ति बादर गुणस्थान में, **पुण**—तथा, **इक्को**—एक, **व**—अथवा **दुवे**—दो, **उदयंसा**—उदयस्थान।

एगं—एक, **सुहुमसरागो**—सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान वाला, **वेएइ**—वेदन करता है, **अवेयगा**—अवेदक, **भवे**—होते हैं, **सेसा**—बाकी के गुणस्थान वाले, **भंगाणं**—भंगों का, **च**—और, **पमाणं**—प्रमाण, **पुव्वुद्दिट्ठेण**—पहले कहे अनुसार, **नायव्वं**—जानना चाहिए।

(ख) दसणवणवादि चउतियपंचट्ठाण णवट्ठसगसगादि भङ्ग।
ठाणा छादि तियं च य चदुवीसगदा अपुव्वो त्ति ॥
उदयट्ठाणं दोण्हं पणबंधे होदि दोण्हमेकस्स।
चदुबिहबंधट्ठाणे सेसेसेयं हवे ठाणं ॥

—गो० कर्मकांड गा० ४८० व ४८२

गाथार्थ—मिथ्यात्व गुणस्थान में सात से लेकर उत्कृष्ट दस प्रकृति पर्यन्त, सासादन और मिश्र में सात से नौ पर्यन्त, अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में छह से नौ तक, देशविरत में पाँच से आठ पर्यन्त तथा—

प्रमत्त और अप्रमत्त संयत गुणस्थान में चार से लेकर सात तक, अपूर्वकरण में चार से छह तक और अनिवृत्ति-बादर गुणस्थान में एक अथवा दो उदयस्थान मोहनीयकर्म के होते हैं।

सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान वाला एक प्रकृति का वेदन करता है और इसके आगे के शेष गुणस्थान वाले अवेदक होते हैं, इनके भंगों का प्रमाण पहले कहे अनुसार जानना चाहिए।

विशेषार्थ—इन तीन गाथाओं में मोहनीयकर्म के गुणस्थानों में उदय-स्थान बतलाये हैं कि किस गुणस्थान में एक साथ अधिक से अधिक कितनी प्रकृतियों का और कम से कम कितनी प्रकृतियों का उदय होता है।

मोहनीयकर्म की कुल उत्तर प्रकृतियाँ २८ हैं। उनमें से एक साथ अधिक से अधिक दस प्रकृतियों का और कम से कम एक प्रकृति का एक काल में उदय होता है। इस प्रकार से एक से लेकर दस तक, दस उदयस्थान होना चाहिये किंतु तीन प्रकृतियों का उदय कहीं प्राप्त नहीं होता है क्योंकि दो प्रकृतिक उदयस्थान में हास्य-रति युगल या अरति-शोक युगल इन दोनों युगलों में से किसी एक युगल के मिलाने पर चार प्रकृतिक उदयस्थान ही प्राप्त होता है। अतः तीन प्रकृतिक उदयस्थान नहीं बतलाकर शेष १, २, ४, ५, ६, ७, ८, ९, और १० प्रकृतिक ये कुल नौ उदयस्थान मोहनीयकर्म के बतलाये हैं।

यद्यपि गाथा ११ में मोहनीयकर्म के उदयस्थानों की सामान्य विवेचना के प्रसंग में विशेष स्पष्टीकरण किया जा चुका है, फिर भी गुणस्थानों की अपेक्षा उनका कथन करने के लिए गाथानुसार यहाँ विवेचन करते हैं।

'सत्ताइ दसग मिच्छे' अर्थात् पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ७, ८, ९ और १० प्रकृतिक, ये चार उदयस्थान होते हैं। मिथ्यात्व, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन, क्रोधादि में से अन्यतम तीन क्रोधादि, तीन वेदों में से कोई एक वेद, हास्य-रति युगल, शोक-अरति युगल में से कोई एक युगल, इन सात प्रकृतियों का ध्रुव रूप से उदय होने से सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इन ध्रुवोदया सात प्रकृतियों में भय अथवा जुगुप्सा अथवा अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क में से किसी एक कषाय को मिलाने पर आठ प्रकृतिक तथा उन सात प्रकृतियों में भय, जुगुप्सा अथवा भय, अनन्तानुबंधी अथवा जुगुप्सा, अनन्तानुबंधी में से किन्हीं दो को मिलाने से नौ प्रकृतिक और उक्त सात प्रकृतियों में भय, जुगुप्सा और अनन्तानुबन्धी अन्यतम एक कषाय को एक साथ मिलाने पर दस प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इन चार उदयस्थानों में सात की एक, आठ की तीन, नौ की तीन और दस की एक, इस प्रकार भंगों की आठ चौबीसी प्राप्त होती हैं।

सासादन और मिश्र गुणस्थान में सात, आठ और नौ प्रकृतिक, ये तीन-तीन उदयस्थान होते हैं।

सासादन गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन क्रोधादि में से अन्यतम क्रोधादि कोई चार, तीन वेदों में कोई एक वेद, दो युगलों में से कोई एक युगल इन सात प्रकृतियों का ध्रुवोदय होने से सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है। इस स्थान में भय या जुगुप्सा में से किसी एक को मिलाने पर आठ प्रकृतिक तथा भय और जुगुप्सा को एक साथ मिलाने पर नौ प्रकृतिक उदयस्थान

होता है। इसमें भंगों की चौबीसी चार हैं। वे इस प्रकार हैं कि सात की एक, आठ की दो और नौ की एक।

मिश्र गुणस्थान में अनन्तानुबंधी को छोड़कर शेष अप्रत्याख्यानावरण आदि तीन कषायों में से अन्यतम तीन क्रोधादि, तीन वेदों में से कोई एक वेद, दो युगलों में से कोई एक युगल और मिश्र मोहनीय, इन सात प्रकृतियों का नियम से उदय होने के कारण सात प्रकृतिक उदयस्थान प्राप्त होता है। इसमें भंगों की एक चौबीसी होती है। सात प्रकृतिक उदयस्थान में भय अथवा जुगुप्सा को मिलाने पर आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भंगों की दो चौबीसी होती हैं तथा सात प्रकृतिक उदयस्थान में भय, जुगुप्सा को युगपत् मिलाने से नौ प्रकृतिक उदयस्थान बनता है और भंगों की एक चौबीसी होती है। इस प्रकार मिश्र गुणस्थान में ७, ८ और ९ प्रकृतिक उदयस्थान तथा भंगों की चार चौबीसी जानना चाहिये।

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में छह से लेकर नौ प्रकृतिक चार उदयस्थान हैं—'छाई नव उ अविरए'। अर्थात् ६ प्रकृतिक, ७ प्रकृतिक, ८ प्रकृतिक और ९ प्रकृतिक, ये चार उदयस्थान हैं। छह प्रकृतिक उदयस्थान में अप्रत्याख्यानावरण आदि तीन कषायों में से अन्यतम तीन क्रोधादि, तीन वेदों में से कोई एक वेद, दो युगलों में से कोई एक युगल, इन छह प्रकृतियों का उदय होता है। इस स्थान में भंगों की एक चौबीसी होती है। इस छह प्रकृतिक उदयस्थान में भय या जुगुप्सा या वेदक सम्यक्त्व को मिलाने से सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ विकल्प से तीन प्रकृतियों के मिलाने के कारण भंगों की तीन चौबीसी होती हैं। उक्त छह प्रकृतियों में भय, जुगुप्सा अथवा भय, वेदक सम्यक्त्व अथवा जुगुप्सा, वेदक सम्यक्त्व, इस प्रकार इन दो प्रकृतियों को अनुक्रम से मिलाने पर आठ प्रकृतिक उदयस्थान हैं। यह स्थान तीन विकल्पों से बनने के कारण भंगों की तीन चौबीसियाँ होती हैं।

छह प्रकृतिक उदयस्थान में भय, जुगुप्सा और वेदक सम्यक्त्व को एक साथ मिलाने पर भी नौ प्रकृतिक उदयस्थान होता है और विकल्प नहीं होने से भंगों की एक चौबीसी प्राप्त होती है। चौथे गुणस्थान में कुल मिलाकर आठ चौबीसी होती हैं।

'देसे पंचाइ अट्ठेव'—देशविरत गुणस्थान में पाँच से लेकर आठ प्रकृति पर्यन्त चार उदयस्थान हैं—पाँच, छह, सात और आठ प्रकृतिक। पाँच प्रकृतिक उदयस्थान में पाँच प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—प्रत्याख्यानावरण, सज्वलन क्रोधादि में से अन्यतम दो क्रोधादि, तीन वेदों में से कोई एक वेद, दो युगलों में से कोई एक युगल। यहां भङ्गों की एक चौबीसी होती है। छह प्रकृतिक उदयस्थान उक्त पाँच प्रकृतियों में भय या जुगुप्सा या वेदक सम्यक्त्व में से किसी एक को मिलाने से बनता है। इस स्थान में प्रकृतियों के तीन विकल्प होने से तीन चौबीसी होती हैं। सात प्रकृतिक उदयस्थान के लिये पाँच प्रकृतियों के साथ भय, जुगुप्सा या भय, वेदक सम्यक्त्व या जुगुप्सा, वेदक सम्यक्त्व को एक साथ मिलाया जाता है। यहाँ भी तीन विकल्पों के कारण भङ्गों की तीन चौबीसी जानना चाहिये। पूर्वोक्त पाँच प्रकृतियों के साथ भय, जुगुप्सा और वेदक सम्यक्त्व को युगपत् मिलाने से आठ प्रकृतिक उदयस्थान होता है। प्रकृतियों का विकल्प न होने से भङ्गों की एक चौबीसी होती है।

पाँचवें देशविरत गुणस्थान के अनन्तर छठे, सातवें प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत गुणस्थानों का संकेत करने के लिये गाथा में 'विरए खओवसमिए' पद दिया है—जिसका अर्थ क्षायोपशमिक विरत होता है। क्योंकि क्षायोपशमिक विरत, यह संज्ञा इन दो गुणस्थानों की ही होती है। इसके आगे के गुणस्थानों के जीवों को या तो उपशमक संज्ञा दी जाती है या क्षपक। उपशमश्रेणि चढ़ने वाले को उपशमक और क्षपकश्रेणि चढ़ने वाले को क्षपक कहते हैं। अतः

प्रमत्त और अप्रमत्त विरत इन दो गुणस्थानों में उदयस्थानों को बतलाने के लिये गाथा में निर्देश किया है—'चउराई सत्त'। अर्थात् चार से लेकर सात प्रकृति तक के चार उदयस्थान हैं—चार पाँच, छह और सात प्रकृतिक। इन दोनों गुणस्थानवर्ती जीवों के संज्वलन चतुष्क में से क्रोधादि कोई एक, तीन वेदों में से कोई एक वेद, दो युगलों में से कोई एक युगल, यह चार प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भङ्गों की एक चौबीसी होती है। भय या जुगुप्सा या वेदक सम्यक्त्व में से किसी एक को चार प्रकृतिक में मिलाने पर पाँच प्रकृतिक उदयस्थान होता है। विकल्प प्रकृतियां तीन हैं अतः यहाँ भङ्गों की तीन चौबीसी बनती हैं। उक्त चार प्रकृतियों के साथ भय, जुगुप्सा अथवा भय, वेदक सम्यक्त्व अथवा जुगुप्सा, वेदक सम्यक्त्व को एक साथ मिलाने पर छह प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ भी भङ्गों की तीन चौबीसी होती है। भय, जुगुप्सा और वेदक सम्यक्त्व, इन तीनों प्रकृतियों को चार प्रकृतिक उदयस्थान में मिलाने पर सात प्रकृतिक उदयस्थान होता है। यहाँ पर विकल्प प्रकृतियाँ न होने से भंगों की एक चौबीसी होती है। कुल मिलाकर छठे और सातवें गुणस्थान में से प्रत्येक में भङ्गों की आठ-आठ चौबीसी होती हैं।

आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में चार, पाँच और छह प्रकृतिक, यह तीन उदयस्थान हैं। संज्वलन कषाय चतुष्क में से कोई एक कषाय, तीन वेदों में से कोई एक वेद और दो युगलों में से कोई एक युगल के मिलाने से चार प्रकृतिक उदयस्थान बनता है तथा भङ्गों की एक चौबीसी होती है। भय, जुगुप्सा में से किसी एक को उक्त चार प्रकृतियों में मिलाने पर पाँच प्रकृतिक उदयस्थान होता है। विकल्प प्रकृतियाँ दो होने से यहाँ भङ्गों की दो चौबीसी प्राप्त होती हैं। भय जुगुप्सा को युगपत् चार प्रकृतियों में मिलाने पर छह प्रकृतिक

उदयस्थान जानना चाहिये तथा भंगों की एक चौबीसी होती है। इस प्रकार आठवें गुणस्थान में भंगों की चार चौबीसी होती हैं।

'अनियट्टिबायरे पुण इक्को वा दुवे व'—अर्थात् नौवें अनिवृत्ति-बादर गुणस्थान में दो उदयस्थान हैं—दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक। यहाँ दो प्रकृतिक उदयस्थान में संज्वलन कषाय चतुष्क में से किसी एक कषाय और तीन वेदों में से किसी एक वेद का उदय होता है। यहां तीन वेदों से संज्वलन कषाय चतुष्क को गुणित करने पर १२ भंग प्राप्त होते हैं। अनन्तर वेद का विच्छेद हो जाने पर एक प्रकृतिक उदयस्थान होता है, जो चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक बंध के समय होता है। अर्थात् सवेद भाग तक दो प्रकृतिक और अवेद भाग में एक प्रकृतिक उदयस्थान समझना चाहिये। यद्यपि एक प्रकृतिक उदय में चार प्रकृतिक बंध की अपेक्षा चार, तीन प्रकृतिक बंध की अपेक्षा तीन, दो प्रकृतिक बंध की अपेक्षा दो, और एक प्रकृतिक बंध की अपेक्षा एक, इस प्रकार कुल दस भंग बतलाये हैं किन्तु यहाँ बंधस्थानों के भेद की अपेक्षा न करके सामान्य से कुल चार भंग विवक्षित हैं।

दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में एक सूक्ष्म लोभ का उदय होने से वहाँ एक ही भंग होता है—'एगं सुहुमसरागो वेएइ'। इस प्रकार एक प्रकृतिक उदयस्थान में कुल पाँच भंग जानना चाहिये।

दसवें गुणस्थान के बाद आगे के उपशान्तमोह आदि गुणस्थानों में मोहनीयकर्म का उदय न होने से उन गुणस्थानों में उदय की अपेक्षा एक भी भंग नहीं होता है।

इस प्रकार यहाँ गाथाओं के निर्देशानुसार गुणस्थानों में मोहनीय कर्म के उदयस्थानों और उनके भंगों का कथन किया गया है और गाथा के अंत में जो भंगों का प्रमाण पूर्वोद्दिष्ट क्रम से जानने का

संकेत दिया है सो उसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पहले सामान्य से मोहनीयकर्म के उदयस्थानों का कथन करते समय भंग बतला आये हैं, उसी प्रकार यहाँ भी उनका प्रमाण समझ लेना चाहिये। स्पष्टता के लिये पुनः यहाँ भी उदयस्थानों का निर्देश करते समय भंगों का संकेत दिया है। लेकिन इस निर्देश में पूर्वोल्लेख से किसी प्रकार का अंतर नहीं समझना चाहिये।

अब मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों की अपेक्षा दस से लेकर एक पर्यन्त उदयस्थानों के भंगों की संख्या बतलाते हैं—

एक्क छडेक्कारेक्कारसेव एक्कारसेव नव तिन्नि।
एए चउवीसगया बार दुगे पंच एक्कम्मि ॥४६॥

शब्दार्थ—**एक्क**—एक, **छडेक्कार**—छह, ग्यारह, **इक्कारसेव**—ग्यारह, **नव**—नौ, **तिन्नि**—तीन, **एए**—यह, **चउवीसगया**—चौबीसी भंग, **बार**—बारह भंग, **दुगे**—दो के उदय में, **पंच**—पाँच, **एक्कम्मि**—एक के उदय में।

गाथार्थ—दो और एक उदयस्थानों को छोड़कर दस आदि उदयस्थानों में अनुक्रम से एक, छह, ग्यारह, ग्यारह नौ और तीन चौबीसी भंग होते हैं तथा दो के उदय में बारह और एक के उदय में पाँच भंग होते हैं।

विशेषार्थ—मोहनीयकर्म के नौ उदयस्थानों को पहले बतलाया जा चुका है। इस गाथा में प्रकृति संख्या के उदयस्थान का उल्लेख न करके उस स्थान के भंगों की संख्या को बतलाया है। वह अनुक्रम से इस प्रकार समझना चाहिये कि दस प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की एक चौबीसी, नौ प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की छह चौबीसी, आठ प्रकृतिक उदयस्थान में ग्यारह चौबीसी, सात प्रकृतिक उदयस्थान में ग्यारह चौबीसी, छह प्रकृतिक उदयस्थान में ग्यारह

चौबीसी, पाँच प्रकृतिक उदयस्थान में नौ चौबीसी, चार प्रकृतिक उदयस्थान में तीन चौबीसी होती हैं तथा दो प्रकृतिक उदयस्थान के बारह भंग एवं एक प्रकृतिक उदस्थान के पांच भंग हैं। इनका विशेष विवेचन नीचे किया जाता है।

दस प्रकृतिक उदयस्थान एक है अतः उसमें भंगों की एक चौबीसी कही है। यह उदयस्थान मिथ्यात्व गुणस्थान में पाया जाता है। नौ प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की छह चौबीसी होती हैं क्योंकि यह उदयस्थान मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र और अविरत सम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानों में पाया जाता है और मिथ्यात्व गुणस्थान में प्रकृति-विकल्प तीन होने से तीन प्रकार से होता है, अतः वहाँ भंगों की तीन चौबीसी और शेष तीन गुणस्थानों में प्रकृतिविकल्प न होने से प्रत्येक में भंगों की एक चौबीसी होती है। आठ प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की ग्यारह चौबीसी होती हैं। यह आठ प्रकृतिक उदयस्थान पहले से लेकर पाँचवें गुणस्थान तक होता है और मिथ्यात्व व अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानों में प्रकृतियों के तीन-तीन विकल्पों से तथा सासादन व मिश्र में दो-दो विकल्पों से बनता है और देशविरत गुणस्थान में प्रकृतियों का विकल्प नहीं है। अतः मिथ्यात्व और अविरत में तीन-तीन, सासादन और मिश्र में दो-दो और देशविरत में एक, भंगों की चौबीसी होती है। इनका कुल जोड़ ३+३+२+२+१=११ होता है। इसी प्रकार सात प्रकृतिक उदयस्थान में भी भंगों की ग्यारह चौबीसी हैं। यह उदयस्थान पहले से सातवें गुणस्थान तक पाया जाता है तथा चौथे और पांचवें गुणस्थान में प्रकृतियों के तीन-तीन विकल्प होने से तीन प्रकार से बनता है। अतः इन दो गुणस्थानों में से प्रत्येक में तीन-तीन और शेष पहले, दूसरे, तीसरे, छठे और सातवें, इन पांच गुणस्थानों में प्रकृतिविकल्प नहीं होने से भंगों की एक-एक चौबीसी होती है जिनका कुल जोड़ ग्यारह है।

छह प्रकृतिक उदयस्थान में भी भंगों की ग्यारह चौबीसी इस प्रकार हैं—अविरत सम्यग्दृष्टि और अपूर्वकरण में एक-एक तथा देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत में तीन-तीन। इनका जोड़ कुल ग्यारह होता है। पाँच प्रकृतिक उदयस्थान में भंगों की नौ चौबीसी हैं। उनमें से देशविरत में एक, प्रमत्त और अप्रमत्त विरत गुणस्थानों में से प्रत्येक में तीन-तीन और अपूर्वकरण में दो चौबीसी होती हैं। चार प्रकृतिक उदयस्थान में प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत और अपूर्वकरण गुणस्थान में भंगों की एक-एक चौबीसी होने से कुल तीन चौबीसी होती हैं। इन सब उदयस्थानों की कुल मिलाकर ५२ चौबीसी होती हैं तथा दो प्रकृतिक उदयस्थान के बारह और एक प्रकृतिक उदयस्थान के पाँच भंग हैं—'बार दुगे पंच एक्कम्मि' जिनका स्पष्टीकरण पूर्व गाथा के संदर्भ में किया जा चुका है।

इस प्रकार दस से लेकर एक प्रकृतिक उदयस्थानों में कुल मिलाकर ५२ चौबीसी और १७ भंग प्राप्त होते हैं। जिनका गुणस्थानों की अपेक्षा अन्तर्भाष्य गाथा में निम्न प्रकार से विवेचन किया गया है—

अट्ठग चउ चउ चउरट्ठगा य चउरो य होंति चउवीसा।
मिच्छाइ अपुव्वंता बारस पणगं च अनियट्टे॥

अर्थात् मिथ्यादृष्टि से लेकर अपूर्वकरण तक आठ गुणस्थानों में भंगों की क्रम से आठ, चार, चार, आठ, आठ, आठ, आठ, और चार चौबीसी होती हैं तथा अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में बारह और पाँच भंग होते हैं।

इस प्रकार भंगों के प्राप्त होने पर कुल मिलाकर १२६५ उदय विकल्प होते हैं, वे इस प्रकार समझना चाहिये कि ५२ चौबीसियों की कुल संख्या १२४८ (५२×२४=१२४८) और इसमें अनिवृत्तिबादर गुणस्थान के १७ भंगों को मिला देने पर १२४८+१७=१२६५ संख्या होती है तथा १० से लेकर ४ प्रकृतिक उदयस्थानों तक के सब पद ३५२ होते हैं, अतः इन्हें २४ से गुणित करने देने पर ८४४८ प्राप्त होते

हैं जो पदवृन्द कहलाते हैं। अनन्तर इनमें से प्रकृतिक उदयस्थान के २×१२=२४ और एक प्रकृतिक उदयस्थान के ५ भंग इस प्रकार २९ भंगों को और मिला देने पर पदवृन्दों की कुल संख्या ८४७७ प्राप्त होती है। जिससे सब संसारी जीव मोहित हो रहे हैं कहा भी है—

बारसपणसट्ठसया उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा।
चुलसीईसत्ततरिपयविबसएहिं विन्नेया॥

अर्थात् ये संसारी जीव १२६५ उदयविकल्पों और ८४७७ पदवृन्दों से मोहित हो रहे हैं।

गुणस्थानों की अपेक्षा उदयविकल्पों और पदवृन्दों का विवरण इस प्रकार जानना चाहिये—

क्रम सं०	गुणस्थान	उदयस्थान	भंग	गुण्य (पद)	गुणकार	गुणनफल (पदवृन्द)
१	मिथ्यात्व	७,८,९,१०	८ चौबीसी	६८[1]	२४	१६३२
२	सासादन	७,८,९,१०	४ चौबीसी	३२	२४	७६८
३	मिश्र	७,८,९	४ चौबीसी	३२	२४	७६८
४	अविरत	६,७,८,९	८ चौबीसी	६०	२४	१४४०
५	देशविरत	५,६,७,८	८ चौबीसी	५२	२४	१२४८
६	प्रमत्तविरत	४,५,६,७	८ चौबीसी	४४	२४	१०५६
७	अप्रमत्तवि०	४,५,६,७	८ चौबीसी	४४	२४	१०५६
८	अपूर्वकरण	४,५,६,७	४ चौबीसी	२०	२४	४८०
९	अनिवृत्ति०	२,१	१६ भंग	२।१	१२।१	२४।४
१०	सूक्ष्म०	१	१	१	१	१

१ मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में ६८ आदि पद (गुण्य) होने का स्पष्टीकरण आगे की गाथाओं में किया जा रहा है।

इस प्रकार गुणस्थानों की अपेक्षा मोहनीयकर्म के उदयस्थानों व उनके भङ्गों का कथन करने के बाद अब आगे की गाथा में उपयोग आदि की अपेक्षा भङ्गों का निर्देश करते हैं—

योग, उपयोग और लेश्याओं में भंग

जोगोवओगलेसाइएहिं गुणिया हवंति कायव्वा।
जे जत्थ गुणट्ठाणे हवंति ते तत्थ गुणकारा[1] ॥४७॥

शब्दार्थ—**जोगोवओगलेसाइएहि**—योग, उपयोग और लेश्यादिक से, **गुणिया**—गुणा, **हवंति**—होते हैं, **कायव्वा**—करना चाहिये, **जे**—जो योगादि, **जत्थ गुणट्ठाणे**—जिस गुणस्थान में, **हवंति**—होते हैं, **ते**—उतने, **तत्थ**—उसमें, **गुणकारा**—गुणकार संख्या।

गाथार्थ—पूर्वोक्त उदयभङ्गों को, योग, उपयोग और लेश्या आदि से गुणा करना चाहिये। इसके लिये जिस गुणस्थान में जितने योगादि हों वहाँ उतने गुणकार संख्या होती है।

विशेषार्थ—गुणस्थान में मोहनीयकर्म के उदयविकल्पों और पदवृन्दों का निर्देश पूर्व में किया जा चुका है। अब इस गाथा में योग, उपयोग और लेश्याओं की अपेक्षा उनकी संख्या का कथन करते हैं कि वह संख्या कितनी-कितनी होती है।

---

१ तुलना कीजिये—

(क) एवं जोगुवओगा लेसाई भेयओ बहुभेया।
जा जस्स जंमि उ गुणे संखा सा तंमि गुणगारो॥
—पंचसंग्रह सप्ततिका गा० ११७

(ख) उदयट्ठाणं पयडि सगसगउवजोगजोगआदीहिं।
गुणयित्ता मेलविदे पदसंखा पयडिसंखा य॥
—गो० कर्मकांड गा० ४६०

गुणस्थानों में योग आदि की अपेक्षा उदयविकल्पों और पदवृन्दों की संख्या जानने के सम्बन्ध में सामान्य नियम यह है कि जिस गुणस्थान में योगादिक की जितनी संख्या है उसमें उस गुणस्थान के उदयविकल्प और पदवृन्दों को गुणित कर देने पर योगादि की अपेक्षा प्रत्येक गुणस्थान में उदयविकल्प और पदवृन्द की संख्या ज्ञात हो जाती है। अतः यह जानना जरूरी है कि किस गुणस्थान में कितने योग आदि हैं। परन्तु इनका एक साथ कथन करना अशक्य होने से क्रमशः योग, उपयोग और लेश्या की अपेक्षा विचार करते हैं।

योग की अपेक्षा भंगों का विचार इस प्रकार है—मिथ्यात्व गुणस्थान में १३ योग और भंगों की आठ चौबीसी होती हैं। इनमें से चार मनोयोग, चार वचनयोग, औदारिक और वैक्रिय काययोग इन दस योगों में से प्रत्येक में भंगों की आठ-आठ चौबीसी होती हैं, जिससे १० को ८ से गुणित कर देने पर ८० चौवीसी हुई। किन्तु औदारिक मिश्र काययोग, वैक्रियमिश्र काययोग और कार्मण काययोग इन तीन योगों में से प्रत्येक में अनन्तानुबन्धी के उदय सहित वाली चार-चार चौबीसी होती हैं। इसका कारण यह है कि अनन्तानुबंधी चतुष्क की विसंयोजना करने पर जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में जाता है, उसको जब तक अनन्तानुबंधी का उदय नहीं होता तब तक मरण नहीं होता। अतः इन तीन योगों में अनन्तानुबन्धी के उदय से रहित चार चौबीसी सम्भव नहीं हैं। विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जिसने अनन्तानुबंधी की विसंयोजना की है, ऐसा जीव जब मिथ्यात्व को प्राप्त होता है तब उसके अनन्तानुबंधी का उदय एक आवली काल के बाद होता है, ऐसे जीव का अनन्तानुबन्धी का उदय होने पर ही मरण होता है, पहले नहीं। जिससे उक्त तीनों योगों में अनन्तानुबन्धी के उदय से रहित चार चौबीसी नहीं पाई जाती हैं।

इसीलिए इन तीन योगों में भंगों की कुल बारह चौबीसी मानी हैं। इनको पूर्वोक्त ८० चौबीसी में मिला देने पर (८०+१२=९२) कुल ९२ चौबीसी होती हैं और इनके कुल भंग ९२ को २४ से गुणा करने पर २२०८ होते हैं।

दूसरे सासादन गुणस्थान में भी योग १३ होते हैं और प्रत्येक योग की चार-चार चौबीसी होने से कुल भंगों की ५२ चौबीसी होनी चाहिए थी किन्तु सासादन गुणस्थान में नपुंसकवेद का उदय नहीं होता है, अतः बारह योगों की तो ४८ चौबीसी हुईं और वैक्रियमिश्र काययोग के ४ षोडशक हुए। इस प्रकार ४८ को २४ से गुणा करने पर ११५२ भंग हुए तथा इस संख्या में चार षोडकश के ६४ भंग मिला देने पर सासादन गुणस्थान में सब भंग १२१६ होते हैं।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में चार मनोयोग, चार वचनयोग और औदारिक व वैक्रिय ये दो काययोग कुल दस योग हैं और प्रत्येक योग में भंगों की ४ चौबीसी। अतः १० को चार चौबीसियों से गुणा करने पर २४×४=९६×१०=९६० कुल भंग होते हैं।

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में १३ योग और प्रत्येक योग में भंगों की ८ चौबीसी होनी चाहिये थीं। किन्तु ऐसा नियम है कि चौथे गुणस्थान के वैक्रियमिश्र काययोग और कार्मण काययोग में स्त्रीवेद नहीं होता है, क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्री वेदियों में उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए इन दो योगों में भंगों की ८ चौबीसी प्राप्त न होकर ८ षोडशक प्राप्त होते हैं। इसके कारण को स्पष्ट करते हुए आचार्य मलयगिरि ने कहा है कि—स्त्रीवेदी सम्यग्दृष्टि जीव वैक्रियमिश्र काययोगी और कार्मण काययोगी नहीं होता है। यह कथन बहुलता की अपेक्षा से किया गया है, वैसे कदाचित इनमें भी

स्त्रीवेद के साथ सम्यग्दृष्टियों का उत्पाद देखा जाता है।[1] इसी बात को चूर्णि में भी स्पष्ट किया है—

कयाइ होज्ज इत्थिवेदगेसु वि।

अर्थात्—कदाचित् सम्यग्दृष्टि जीव स्त्रीवेदियों में भी उत्पन्न होता है। तथा चौथे गुणस्थान के औदारिकमिश्र काययोग में स्त्रीवेद और नपुंसकवेद नहीं होता है। क्योंकि स्त्रीवेदी और नपुंसकवेदी तिर्यंच और मनुष्यों में अविरत सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होते हैं, अतः औदारिक मिश्र काययोग में भंगों की ८ चौबीसी प्राप्त न होकर आठ अष्टक प्राप्त होते हैं। स्त्रीवेदी और नपुंसकवेदी सम्यग्दृष्टि जीव औदारिकमिश्र काययोगी नहीं होता है। यह बहुलता की अपेक्षा से समझना चाहिए।[2] इस प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में दस योगों की ८० चौबीसी, वैक्रियमिश्र काययोग और कार्मण काययोग, इन दोनों में प्रत्येक के आठ-आठ षोडशक और औदारिकमिश्र काययोग के आठ अष्टक होते हैं। जिनके भंग ८०×२४=१९२० तथा १६×८=१२८ पुनः १६×८=१२८ और ८×८=६४ होते हैं, इनका कुल जोड़

---

१ (क) ये चाविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकमष्टावष्टौ उदयस्थानविकल्पा एषु स्त्रीवेदो न लभ्यते, वैक्रियकाययोगिषु स्त्रीवेदिषु मध्येऽविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पादाभावत्। एतच्च प्रायोवृत्तिमाश्रित्योक्तम्, अन्यथा कदाचित् स्त्रीवेदिष्वपि मध्ये तदुत्पादो भवति। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २१७

(ख) दिगम्बर परम्परा में यही एक मत मिलता है कि स्त्रीवेदियों में सम्यग्दृष्टि जीव मरकर उत्पन्न नहीं होता है।

२ अविरतसम्यग्दृष्टेरौदारिकमिश्रकाययोगे येऽष्टावुदयस्थानविकल्पास्ते पुंवेदसहिता एव प्राप्यन्ते, न स्त्रीवेद-नपुंसकवेदसहिताः तिर्यग्-मनुष्येषु स्त्रीवेदनपुंसकवेदिषु मध्येऽविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पादाभावत्, एतच्च प्राचुर्यमाश्रित्योक्तम्। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २१७

१६२०+१२८+१२८+६४=२२४० है। योग की अपेक्षा ये २२४० भंग चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में प्राप्त होते हैं।

पांचवें देशविरति गुणस्थान में औदारिकमिश्र, कार्मण काययोग और आहारकद्विक के बिना ११ योग होते हैं। यहाँ प्रत्येक योग में भंगों की ८ चौबीसी संभव हैं अतः यहाँ कुल भंग (११×८=८८×२४=२११२) २११२ होते हैं।

छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान में औदारिकमिश्र और कार्मण काययोग के बिना १३ योग और प्रत्येक योग में भंगों की ८ चौबीसी होनी चाहिए। किन्तु ऐसा नियम है कि स्त्रीवेद में आहारक काययोग और आहारकमिश्र काययोग नहीं होता है। क्योंकि आहारक समुद्घात चौदह पूर्वधारी ही करते हैं। किन्तु स्त्रियों के चौदह पूर्वों का ज्ञान नहीं पाया जाता है। इसके कारण को स्पष्ट करते हुए बताया भी है कि—

तुच्छा गारवबहुला चलिंदिया दुब्बला य धीईए।
इय इहसेसज्झयणा भूयावाओ य नो थीणं॥[1]

अर्थात् स्त्रीवेदी जीव तुच्छ, गारवबहुल, चंचल इन्द्रिय और बुद्धि से दुर्बल होते हैं। अतः वे बहुत अध्ययन करने में समर्थ नहीं हैं और उनमें दृष्टिवाद अंग का भी ज्ञान नहीं पाया जाता है।

इसलिये ग्यारह योगों में तो भंगों की आठ-आठ चौबीसी प्राप्त होती हैं किन्तु आहारक और आहारकमिश्र काययोगों में भंगों के आठ-आठ षोडशक प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यहाँ ११×८=८८×२४=२११२ तथा १६×८=१२८ और १६×८=१२८ भंग हैं। इन सबका जोड़ २११२+१२८+१२८=२३६८ होता है। अतः प्रमत्तसंयत गुणस्थान में कुल भंग २३६८ होते हैं।

---

१ बृहत्कल्पभाष्य गा० १४६

जो जीव प्रमत्तसंयत गुणस्थान में वैक्रिय काययोग और आहारक काययोग को प्राप्त करके अप्रमत्तसंयत हो जाता है, उसके अप्रमत्तसंयत अवस्था में रहते हुए ये दो योग होते हैं। वैसे अप्रमत्तसंयत जीव वैक्रिय और आहारक समुद्घात का प्रारम्भ नहीं करता है, अतः इस गुणस्थान में वैक्रियमिश्र काययोग और आहारकमिश्र काययोग नहीं माना है। इसी कारण सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में चार मनोयोग, चार वचनयोग और औदारिक, वैक्रिय व आहारक काययोग, ये ग्यारह योग होते हैं। इन योगों में भंगों की आठ-आठ चौबीसी होनी चाहिये थीं। किन्तु आहारक काययोग में स्त्रीवेद नहीं होने से दस योगों में तो भंगों की आठ चौबीसी और आहारक काययोग में आठ षोडशक प्राप्त होते हैं। इन सब भंगों का जोड़ २०४८ होता है जो अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में योगापेक्षा होते हैं।

आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में नौ योग और प्रत्येक योग में भंगों की चार चौबीसी होती हैं। अतः यहाँ कुल भंग ८६४ होते हैं। नौवें अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में योग ९ और भंग १६ होते हैं अतः १६ को ९ से गुणित करने पर यहाँ कुल भंग १४४ प्राप्त होते हैं तथा दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में योग ९ और भंग १ है। अतः यहाँ कुल ९ भंग प्राप्त होते हैं।

उपर्युक्त दसों गुणस्थानों के कुल भंगों को जोड़ने पर २२०८+१२१६+९६०+२२४०+२११२+२३६८+२०४८+८६४+१४४+९ =१४१६९ प्रमाण होता है। कहा भी है—

चउदस य सहस्साइं सयं च गुणहत्तरं उदयमाणं।[1]

अर्थात् योगों की अपेक्षा मोहनीयकर्म के कुल उदयविकल्पों का प्रमाण १४१६९ होता है।

---

१ पंचसंग्रह सप्ततिका गा० १२०

योगों की अपेक्षा गुणस्थानों में उदयविकल्पों का विवरण इस प्रकार जानना चाहिये—

गुणस्थान	योग		गुणकार	जोड़	
मिथ्यात्व	१३	१०	८ × २४ = १९२	१९२ × १० = १९२०	२२०८
		३	४ × २४ = ९६	९६ × ३ = २८८	
सासादन	१३	१२	४ × २४ = ९६	९६ × २२ = ११५२	१२१६
		१	४ × १६ = ६४	६४ × १ = ६४	
मिश्र	१०	१०	४ × २४ = ९६	९६ × १० = ९६०	९६०
अविरत	१३	१०	८ × २४ = १९२	१९२ × १० = १९२०	२२४०
		२	८ × १६ = १२८	१२८ × २ = २५६	
		१	८ × ८ = ६४	६४ × १ = ६४	
देशविरत	११	११	८ × २४ = १९२	१९२ × ११ = २११२	२११२
प्रमत्तसंयत	१३	११	८ × २४ = १९२	१९२ × ११ = २११२	२३६८
		२	८ × १६ = १२८	१२८ × २ = २५६	
अप्रमत्तसं०	११	१०	८ × २४ = १९२	१९२ × १० = १९२०	२०४८
		१	८ × १६ = १२८	१२८ × १ = १२८	
अपूर्व०	९	३	४ × २४ = ९६	९६ × ९ = ८६४	८६४
अनिवृत्ति०	९	९	१६	१६ × ९ = १४४	१४४
सूक्ष्म०	९	९	१	९ × १ = ९	९
				कुल जोड़	१४१६९

योगों की अपेक्षा गुणस्थानों में उदयविकल्पों का विचार करने के अनन्तर अब क्रम प्राप्त पदवृन्दों का विचार करने के लिये अन्तर्भाष्य गाथा उद्धृत करते हैं—

अट्ठट्ठ बत्तीसं बत्तीसं सट्ठिमेव बावन्ना।
चोयालं चोयालं बीसा वि य मिच्छमाईसु॥

अर्थात्—मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में क्रम से ६८, ३२, ३२, ६०, ५२, ४४, ४४ और २० उदयपद होते हैं।

यहाँ उदयपद से उदयस्थानों की प्रकृतियां ली गई हैं। जैसे कि मिथ्यात्व गुणस्थान में १०, ९, ८ और ७ प्रकृतिक, ये चार उदयस्थान हैं और इनमें से १० प्रकृतिक उदयस्थान एक है अतः उसकी दस प्रकृतियाँ हुईं। ९ प्रकृतिक उदयस्थान तीन प्रकृतियों के विकल्प से बनने के कारण तीन हैं अतः उसकी २७ प्रकृतियां हुईं। आठ प्रकृतिक उदयस्थान भी तीन प्रकृतियों के विकल्प से बनता है अतः उसकी २४ प्रकृतियां हुईं और सात प्रकृतिक उदयस्थान एक है अतः उसकी ७ प्रकृतियाँ हुईं। इस प्रकार मिथ्यात्व में चारों उदयस्थानों की १०+२७+२४+७=६८ प्रकृतियां होती हैं। सासादन आदि गुणस्थानों में जो ३२ आदि उदयपद बतलाये हैं, उनको भी इसी प्रकार समझना चाहिये।

अब यदि इन आठ गुणस्थानों के सब उदयपद (६८ से लेकर २० तक) जोड़ दिये जायें तो इनका कुल प्रमाण ३५२ होता है। किन्तु इनमें से प्रत्येक उदयपद में चौबीस-चौबीस भङ्ग होते हैं, अतः ३५२ को २४ से गुणित करने पर ८४४८ प्राप्त होते हैं। ये पदवृन्द अपूर्वकरण गुणस्थान तक के जानना चाहिये। इनमें अनिवृत्तिकरण के २८ और सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान का १, कुल २९ भङ्ग मिला देने पर ८४४८+२९=८४७७ प्राप्त होते हैं। ये मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक के सामान्य से पदवृन्द हुए।

अब यदि योगों की अपेक्षा दसों गुणस्थानों के पदवृन्द लाना चाहें तो दो बातों पर ध्यान देना होगा—१. किस गुणस्थान में पदवृन्द और योगों की संख्या कितनी है और २. उन योगों में से किस योग में कितने पदवृन्द सम्भव हैं। इन्हीं दो बातों को ध्यान में रखकर अब योगापेक्षा गुणस्थानों के पदवृन्द बतलाते हैं।

यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में ४ उदयस्थान और उनके कुल पद ६८ हैं। इनमें से एक सात प्रकृतिक उदयस्थान, दो आठ प्रकृतिक उदयस्थान और एक नौ प्रकृतिक उदयस्थान अनंतानुबंधी के उदय से रहित है जिनके कुल उदयपद ३२ होते हैं और एक आठ प्रकृतिक उदयस्थान, दो नौ प्रकृतिक उदयस्थान और एक दस प्रकृतिक उदयस्थान, ये चार उदयस्थान अनन्तानुबंधी के उदय सहित हैं जिनके कुल उदयपद ३६ होते हैं। इनमें से पहले के ३२ उदयपद, ४ मनोयोग, ४ वचनयोग, औदारिक काययोग और वैक्रिय काययोग, इन दस योगों के साथ पाये जाते हैं। क्योंकि यहाँ अन्य योग संभव नहीं है, अतः इन ३२ को १० से गुणित करने पर ३२० होते हैं और ३६ उदयपद पूर्वोक्त दस तथा औदारिक-मिश्र, वैक्रियमिश्र और कार्मणयोग इन १३ योगों के साथ पाये जाते हैं। क्योंकि ये पद पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों अवस्थाओं में संभव हैं, अतः ३६ को १३ से गुणित करने पर ४६८ प्राप्त होते हैं।

मिथ्यात्व गुणस्थान के कुल पदवृन्द प्राप्त करने की रीति यह है कि ३२० और ४६८ को जोड़कर इनको २४ से गुणित करदें तो मिथ्यात्व गुणस्थान के कुल पदवृन्द आ जाते हैं, जो ३२०+४६८=७८८×२४=१८९१२ होते हैं।

सासादन गुणस्थान में योग १२ और उदयपद ३२ हैं। सो १२ योगों में तो ये सब उदयपद संभव हैं किन्तु सासादन सम्यग्दृष्टि को वैक्रियमिश्र में नपुंसकवेद का उदय नहीं होता है, अतः यहाँ नपुंसकवेद

के भङ्ग कम कर देना चाहिये। इसका तात्पर्य यह हुआ कि १३ योगों की अपेक्षा १२ से ३२ को गुणित करके २४ से गुणित करें और वैक्रिय-मिश्र की अपेक्षा ३२ को १६ से गुणित करें। इस प्रकार १२×३२=३८४×२४=६२१६ तथा वैक्रियमिश्र के ३२×१६=५१२ हुए और इन ६२१६ और ५१२ का कुल जोड़ ६७२८ होता है। यही ६७२८ पदवृन्द सासादन गुणस्थान में होते हैं।

मिश्र गुणस्थान में दस योग और उदयपद ३२ हैं। यहाँ सब योगों में सब उदयपद और उनके कुल भङ्ग संभव हैं, अतः १० को ३२ से गुणित करके २४ से गुणित करने पर (३२×१०=३२०×२४=७६८०) ७६८० पदवृन्द प्राप्त होते हैं।

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में योग १३ और उदयपद ६० होते हैं। सो यहाँ १० योगों में तो सब उदयपद और उनके कुल भङ्ग संभव होने से १० से ६० को गुणित करके २४ से गुणित कर देने पर १० योगों संबंधी कुल भङ्ग १४४०० प्राप्त होते हैं। किन्तु वैक्रियमिश्र काययोग और कार्मण काययोग में स्त्रीवेद का उदय नहीं होने से स्त्रीवेद संबंधी भङ्ग प्राप्त नहीं होते हैं, इसलिये यहां २ को ६० से गुणित करके १६ से गुणित करने पर उक्त दोनों योगों सम्बन्धी कुल भङ्ग १९२० प्राप्त होते हैं तथा औदारिकमिश्र काययोग में स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का उदय नहीं होने से दो योगों संबंधी भङ्ग प्राप्त नहीं होते हैं। अतः यहाँ ६० को ८ से गुणित करने पर औदारिकमिश्र काययोग की अपेक्षा ४८० भङ्ग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में १३ योग संबंधी कुल पदवृन्द १४४००+१९२०+४८०=१६८०० होते हैं।

देशविरत गुणस्थान में योग ११ और पद ५२ हैं और यहाँ सब योगों में सब उदयपद और उनके भङ्ग सम्भव हैं अतः यहाँ ११ से ५२ को गुणित करके २४ से गुणित करने पर कुल भङ्ग १३७२८ होते हैं।

प्रमत्तसंयत गुणस्थान में योग १३ और पद ४४ हैं किन्तु आहारकद्विक में स्त्रीवेद का उदय नहीं होता है, इसलिये ११ योगों की अपेक्षा तो ११ को ४४ से गुणित करके २४ से गुणित करने से ११×४४=४८४×२४=११६१६ हुए और आहारकद्विक की अपेक्षा २ से ४४ को गुणित करके १६ से गुणित करें तो २×४४=८८×१६=१४०८ हुए। तब ११६१६+१४०८ को जोड़ने पर कुल १३०२४ पदवृन्द प्रमत्तसंयत गुणस्थान में प्राप्त होते हैं।

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में भी योग ११ और पद ४४ हैं, किन्तु आहारक काययोग में स्त्रीवेद का उदय नहीं होता है। इसलिये १० योगों की अपेक्षा १० से ४४ को गुणित करके २४ से गुणित करें और आहारक काययोग की अपेक्षा ४४ से १६ को गुणित करें। इस प्रकार करने पर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में कुल पदवृन्द ११२६४ होते हैं।

अपूर्वकरण में योग ९ और पद २० होते हैं। अतः २० को ९ से गुणित करके २४ से गुणित करने पर यहाँ कुल पदवृन्द ४३२० प्राप्त होते हैं।

अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में योग ९ और भङ्ग २८ हैं। यहाँ योग पद नहीं है अतः पद न कहकर भङ्ग कहे हैं। सो इन ९ को २८ से गुणित कर देने पर अनिवृत्तिबादर में २५२ पदवृन्द होते हैं तथा सूक्ष्मसंपराय में योग ९ और भङ्ग १ है, अतः ९ से १ को गुणित करने पर ९ भङ्ग होते हैं।

इस प्रकार पहले से लेकर दसवें गुणस्थान तक के पदवृन्दों को जोड़ देने पर सब पदवृन्दों की कुल संख्या ९५७१७ होती है। कहा भी है—

सत्तरसा सत्त सया पणनउइसहस्स पयसंखा।[1]

अर्थात् योगों की अपेक्षा मोहनीयकर्म के सब पदवृन्द पंचानवै हजार सातसौ सत्रह ९५७१७ होते हैं।[2]

१ पंचसंग्रह सप्ततिका गा० १२०

२ गो० कर्मकांड गा० ४९८ और ५०० में योगों की अपेक्षा उदयस्थान १२९५३ और पदवृन्द ८८६४५ बतलाये हैं।

उक्त पदवृन्दों का विवरण इस प्रकार जानना चाहिये—

गुणस्थान	योग	उदयपद	गुणकार	गुणनफल (पदवृन्द)	
मिथ्यात्व	१३	३६	२४	११२३२	१८६१२
	१०	३२	२४	७६८०	
सासादन	१२	३२	२४	९२१६	९७२८
	१	३२	१६	५१२	
मिश्र	१०	३२	२४	७६८०	७६८०
अविरत सम्यग्दृष्टि	१०	६०	२४	१४४००	१६८००
	२	६०	१६	१९२०	
	१	६०	८	४८०	
देशविरत	११	५२	२४	१३७२८	१३७२८
प्रमत्तसंयत	११	४४	२४	११६१६	१३०२४
	२	४४	१६	१४०८	
अप्रमत्तसंयत	१०	४४	२४	१०५६०	११२६४
	१	४४	१६	७०४	
अपूर्वकरण	९	२०	२४	४३२०	४३२०
अनिवृत्ति बादर	९	२	१२	२१६	२५२
	९	१	४	३६	
सूक्ष्मसंपराय	९	१	१	९	९
					९५७१७ पदवृन्द

इस प्रकार से भंगों की अपेक्षा गुणस्थानों में मोहनीयकर्म के उदयस्थानों, भंगों और पदवृन्दों का विचार करने के बाद अब आगे उपयोगों की अपेक्षा उदयस्थानों आदि का विचार करते हैं।

मिथ्यात्व और सासादन इन दो गुणस्थानों में मतिअज्ञान, श्रुत-अज्ञान, विभंगज्ञान, चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन, ये पांच उपयोग होते हैं। मिश्र में तीन मिश्र ज्ञान और चक्षु व अचक्षु दर्शन, इस प्रकार ये पांच उपयोग हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि और देशविरत में आरम्भ के तीन सम्यग्ज्ञान और तीन दर्शन, ये छह उपयोग होते हैं तथा छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान से लेकर दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान तक पांच गुणस्थानों में पूर्वोक्त छह तथा मनपर्यायज्ञान सहित सात उपयोग होते हैं तथा प्रत्येक गुणस्थान के उदयस्थान के भंगों का कथन पूर्व में अन्तर्भाष्य गाथा 'अट्ठग चउ चउ चउरट्ठगा य''''' के संदर्भ में किया जा चुका है। अतः जिस गुणस्थान में जितने उपयोग हों, उनसे उस गुणस्थान के उदयस्थानों को गुणित करके अनन्तर भंगों से गुणित कर देने पर उपयोगों की अपेक्षा उस गुणस्थान के कुल भंग ज्ञात हो जाते हैं। जैसे कि मिथ्यात्व और सासादन में क्रम से ८ और ४ चौबीसी तथा ५ उपयोग हैं अतः ८+४=१२ को ५ से गुणित कर देने पर ६० हुए। मिश्र में ४ चौबीसी और ५ उपयोग हैं अतः ४ को ५ से गुणित करने पर २० हुए। अविरत सम्यग्दृष्टि और देशविरत गुणस्थान में आठ-आठ चौबीसी और ६ उपयोग हैं अतः ८+८=१६ को ६ से गुणित कर देने पर ९६ हुए। प्रमत्त, अप्रमत्त संयत और अपूर्वकरण गुणस्थान में आठ, आठ और चार चौबीसी तथा ७ उपयोग हैं, अतः ८+८+४=२० को सात से गुणा कर देने पर १४० हुए तथा इन सबका जोड़ ६०+२०+९६+१४०=३१६ हुआ। इनमें से प्रत्येक चौबीसी में २४, २४ भंग होते हैं अतः इन ३१६ को २४ से गुणित कर देने पर कुल ३१६×२४=७५८४ होते हैं तथा दो प्रकृतिक उदयस्थान

में १२ भंग और एक प्रकृतिक उदयस्थान में ५ भंग होते हैं, जिनका कुल जोड़ १७ हुआ। इन्हें वहाँ संभव उपयोगों की संख्या ७ से गुणित कर देने पर ११९ होते हैं। जिनको पूर्व राशि ७५८४ में मिला देने पर कुल भंग ७७०३ होते हैं। कहा भी है—

उवयागुणजोगेसुं सगसयरिसया तिउत्तरा होंति।[1]

अर्थात्—मोहनीय के उदयस्थान विकल्पों को वहाँ संभव उपयोगों से गुणित करने पर उनका कुल प्रमाण ७७०३ होता है।

किन्तु मिश्र गुणस्थान में उपयोगों के बारे में एक मत यह भी है कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में पांच के बजाय अवधि दर्शन सहित छह उपयोग पाये जाते हैं। अतः इस मत को स्वीकार करने पर मिश्र गुणस्थान की ४ चौबीसी को ६ से गुणित करने से २४ होते हैं और इन २४ को २४ से गुणित करने पर ५७६ होते हैं अर्थात् इस गुणस्थान में ४८० की बजाय ९६ भंग और बढ़ जाते हैं। अतः पूर्व बताये गये ७७०३ भंगों में ९६ को जोड़ने पर कुल भंगों की संख्या ७७९९ प्राप्त होती है। इस प्रकार ये उपयोग[2]-गुणित उदयस्थान भंग जानना चाहिये।

उपयोगों की अपेक्षा उदयविकल्पों का विवरण इस प्रकार है—

गुणस्थान	उपयोग	गुणकार	गुणनफल (उदयविकल्प)
मिथ्यात्व	५	८ × २४	१९०
सासादन	५	४ × २४	४८०
मिश्र	५	४ × २४	४८०

१ पंचसंग्रह सप्ततिका, गा० ११८।

२ गो० कर्मकांड गा० ४९२ और ४९३ में उपयोगों की अपेक्षा उदयस्थान ७७९९ और पदवृन्द ५१०८३ बतलाये हैं।

अविरत	६	८×२४	११५२
देशविरत	६	८×२४	११५२
प्रमत्तविरत	७	८×२४	१३४४
अप्रमत्तविरत	७	८×२४	१३४४
अपूर्वकरण	७	४×२४	६७२
अनिवृत्तिबादर	७	१२	८४
	७	४	२८
सूक्ष्म संपराय	७	१	७
			७७०३ उदयविकल्प

विशेष—जब दूसरे मत के अनुसार मिश्र गुणस्थान में अवधिदर्शन सहित छह उपयोग होते हैं तब इसकी अपेक्षा प्राप्त हुए ९६ भंगों को ७७०३ भंगों में मिला देने पर कुल उदयविकल्प ७७९९ होते हैं।

इस प्रकार से उपयोगों की अपेक्षा उदयविकल्पों को बतलाने के बाद अब उपयोगों से गुणित करने पर प्राप्त पदवृन्दों के प्रमाण को बतलाते हैं।

पूर्व में भाष्य गाथा 'अट्ठट्ठी बत्तीसं·····' में गुणस्थानों में उदयस्थान पदों का संकेत किया जा चुका है। तदनुसार मिथ्यात्व में ६८, सासादन में ३२ और मिश्र गुणस्थान में ३२ उदयस्थान पद हैं, जिनका जोड़ १३२ होता है। इन्हें इन गुणस्थानों में सम्भव ५ उपयोगों से गुणित करने पर १३२×५=६६० हुए। अविरत सम्यग्दृष्टि में ६० और देशविरत में ५२ उदयस्थान पद हैं। जिनका जोड़ ११२ होता है, इन्हें यहाँ संभव ६ उपयोगों से गुणित करने पर ६७२ हुए। प्रमत्तसंयत

में ४४, अप्रमत्तसंयत में ४४ और अपूर्वकरण में २० उदयस्थान पद हैं। इनका कुल जोड़ ४४+४४+२०=१०८ होता है। इन्हें यहाँ संभव ७ उपयोगों से गुणित करने पर ७५६ हुए। इस प्रकार पहले से लेकर आठवें गुणस्थान तक के सब उदयस्थान पदों का जोड़ ६६०+६७२+७५६=२०८८ हुआ। इन्हें भंगों की अपेक्षा २४ से गुणित कर देने पर आठ गुणस्थानों के कुल पदवृन्दों का प्रमाण २०८८×२४=५०११२ होता है। अनन्तर दो प्रकृतिक उदयस्थान के पदवृन्द २४ और एक प्रकृतिक उदयस्थान के पदवृन्द ५, इनका जोड़ २९ हुआ। सो इन २९ को यहाँ संभव ७ उपयोगों से गुणित कर देने पर २०३ पदवृन्द और प्राप्त हुए। जिन्हें पूर्वोक्त ५०११२ पदवृन्दों में मिला देने पर कुल पदवृन्दों का प्रमाण ५०३१५ होता है कहा भी है—

पन्नासं च सहस्सा तिण्णि सया चेव पन्नारा।[1]

अर्थात्—मोहनीय के पदवृन्दों को यहाँ संभव उपयोगों से गुणित करने पर उनका कुल प्रमाण पचास हजार तीनसौ पन्द्रह ५०३१५ होता है।

उक्त पदवृन्दों की संख्या मिश्र गुणस्थान में पांच उपयोग मानने की अपेक्षा जानना चाहिये। लेकिन जब मतान्तर से पांच की बजाय ६ उपयोग स्वीकार किये जाते हैं तब इन पदवृन्दों में एक अधिक उपयोग के पदवृन्द १×३२×२४=७६८ भंग और बढ़ जाते हैं और कुल पदवृन्दों की संख्या ५०३१५ की बजाय ५१०८३ हो जाती है।

उपयोगों की अपेक्षा पदवृन्दों का विवरण इस प्रकार जानना चाहिये—

---

१ पंचसंग्रह सप्ततिका गा० ११८।

गुणस्थान	उपयोग	उदयपद	गुणकार	गुणनफल (पदवृन्द)
मिथ्यात्व	५	६८	२४	८१६०
सासादन	५	३२	२४	३८४०
मिश्र	५	३२	२४	३८४०
अविरत	६	६०	२४	८६४०
देशविरत	६	५२	२४	७४८८
प्रमत्तविरत	७	४४	२४	७३९२
अप्रमत्तविरत	७	४४	२४	७३९२
अपूर्वकरण	७	२०	२४	३३६०
अनिवृत्तिबादर	७	२	१२	१६८
	७	१	४	२८
सूक्ष्मसंपराय	७	१	१	७
				५०२१५ पदवृन्द

इसमें मिश्र गुणस्थान संबंधी अवधिदर्शन के ७६८ भंगों को और मिला दिया जाये तो उस अपेक्षा से कुल पदवृन्द ५१०८३ होते है।

इस प्रकार से उपयोगों की अपेक्षा उदयस्थान पदवृन्दों का वर्णन करने के बाद अब लेश्याओं की अपेक्षा उदयस्थान विकल्पों और पदवृन्दों का विचार करते हैं। पहले उदयस्थान विकल्पों को बतलाते हैं।

मिथ्यात्व से लेकर अविरत सम्यग्दृष्टि, इन चार गुणस्थानों तक प्रत्येक स्थान में छहों लेश्यायें होती हैं। देशविरत, प्रमत्तसंयत और

अप्रमत्तसंयत, इन तीन गुणस्थानों में तेजोलेश्या आदि तीन शुभ लेश्या हैं और अपूर्वकरण आदि आगे के गुणस्थानों में एक शुक्ललेश्या होती है।

मिथ्यात्व आदि गुणस्थानों में से प्रत्येक में प्राप्त चौबीसी पहले बतलाई जा चुकी है। इसलिये तदनुसार मिथ्यात्व में ८, सासादन में ४ और मिश्र में ४ तथा अविरत सम्यग्दृष्टि में ८ चौबीसी हुई। इनका कुल जोड़ २४ हुआ। इन्हें ६ से गुणित कर देने पर २४×६=१४४ हुए। देशविरत में ८, प्रमत्तविरत में ८ और अप्रमत्तविरत में ८ चौबीसी हैं। जिनका कुल जोड़ २४ हुआ। इन तीन गुणस्थानों में तीन शुभ लेश्यायें होने के कारण २४×३=७२ होते हैं। अपूर्वकरण गुणस्थान में ४ चौबीसी हैं, लेकिन यहाँ सिर्फ एक शुक्ल लेश्या होने से सिर्फ ४ ही प्राप्त होते हैं। उक्त आठ गुणस्थानों की कुल संख्या का जोड़ १४४+७२+४=२२० हुआ। इन्हें २४ से गुणित कर देने पर आठ गुणस्थानों के कुल उदयस्थान विकल्प २२०×२४=५२८० होते हैं। अनन्तर इनमें दो प्रकृतिक उदयस्थान के १२ और एक प्रकृतिक उदयस्थान के ५ इस प्रकार १७ भंगों को और मिला देने पर कुल उदयस्थान विकल्प ५२८०+१७=५२९७ होते हैं। ये ५२९७ लेश्याओं की अपेक्षा उदयस्थान विकल्प जानना चाहिये।

इन उदयस्थान विकल्पों का विवरण क्रमशः इस प्रकार है—

गुणस्थान	लेश्या	गुणकार	गुणनफल (उदयविकल्प)
मिथ्यात्व	६	८×२४	११५२
सासादन	६	४×२४	५७६
मिश्र	६	४×२४	५७६
अविरत	६	८×२४	११५२

देशविरत	३	८×२४	५७६
प्रमत्तसंयत	३	८×२४	५७६
अप्रमत्तसंयत	३	८×२४	५७६
अपूर्वकरण	१	४×२४	९६
अनिवृत्तिकरण	१	१२	१२
	१	४	४
सूक्ष्मसंपराय	१	१	१
			५२९७

अब लेश्याओं की अपेक्षा पदवृन्द बतलाते हैं :—

मिथ्यात्व के ६८, सासादन के ३२, मिश्र के ३२ और अविरत सम्यग्दृष्टि के ६० पदों का जोड़ ६८+३२+३२+६०=१९२ हुआ। इन्हें यहाँ संभव ६ लेश्याओं से गुणित कर देने पर ११५२ होते हैं। सो देशविरत के ५२, प्रमत्तविरत के ४४ और अप्रमत्तविरत के ४४ पदों का जोड़ १४० हुआ। इन्हें इन तीन गुणस्थानों में संभव ३ लेश्याओं से गुणित कर देने पर ४२० होते हैं तथा अपूर्वकरण में पद २० हैं, किन्तु यहाँ एक ही लेश्या है अतः इसका प्रमाण २० हुआ। इन सबका जोड़ ११५२+४२०+२०=१५९२ हुआ। इन १५९२ को भंगों की अपेक्षा २४ से गुणित कर देने पर आठ गुणस्थानों के कुल पदवृन्द ३८२०८ होते हैं। अनन्तर इनमें दो प्रकृतिक और एक प्रकृतिक पदवृन्द २९ और मिला देने पर कुल पदवृन्द ३८२३७ होते हैं। कहा भी है—

तिगहीणा तेवन्ना सया य उदयाण होंति लेसाणं।
अडतीस सहस्साइं पमाण सय दो य सगतीसा॥[1]

१ पंचसंग्रह सप्ततिका गा० ११७

अर्थात्—मोहनीयकर्म के उदयस्थान और पदवृन्दों को लेश्याओं से गुणित करने पर उनका कुल प्रमाण क्रम से ५२९७ और ३८२३७[1] होता है।

लेश्याओं की अपेक्षा पदवृन्दों का विवरण इस प्रकार जानना चाहिये—

गुणस्थान	लेश्या	उदयपद	गुणकार	गुणनफल (पदवृन्द)
मिथ्यात्व	६	६८	२४	९७९२
सासादन	६	३२	२४	४६०८
मिश्र	६	३२	२४	४६०८
अविरत	६	६०	२४	८६४०
देशविरत	३	५२	२४	३७४४
प्रमत्तसंयत	३	४४	२४	३१६८
अप्रमत्तसंयत	३	४४	२४	३१६८
अपूर्वकरण	१	२०	२४	४८०
अनिवृत्तिबादर	१	२	१२	२४
	१	१	४	४
सूक्ष्मसंपराय	१	१	१	१
				३८२३७ पदवृन्द

१ गो० कर्मकांड गा० ५०४ और ५०५ में भी लेश्याओं की अपेक्षा उदय-विकल्प ५२९७ और पदवृन्द ३८२३७ बतलाये हैं।

इस प्रकार मोहनीयकर्म के प्रत्येक गुणस्थान सम्बन्धी उदयस्थान विकल्प और पदवृन्दों तथा वहाँ सम्भव योग, उपयोग और लेश्याओं से गुणित करने पर उनके प्राप्त प्रमाण को बतलाने के बाद अब संवेध भङ्गों का कथन करने के लिये सत्तास्थानों का विचार करते हैं।

गुणस्थानों में मोहनीयकर्म के संवेध भङ्ग

तिण्णेगे एगेगं तिग मीसे पंच चउसु नियट्टिए[1] तिन्नि।
एक्कार बायरम्मी सुहुमे चउ तिन्नि उवसंते ॥४८॥

शब्दार्थ— **तिण्ण**— तीन सत्तास्थान, **एगे**— एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में, **एगे** — एक में, (सासादन में), **एगं** - एक, **तिग**—तीन, **मीसे**— मिश्र में, **पंच**—पांच, **चउसु**—अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान आदि चार में, **नियट्टिए**— अपूर्वकरण में, **तिन्नि**—तीन, **एक्कार**— ग्यारह, **बायरम्मी**—अनिवृत्तिबादर में, **सुहुमे**—सूक्ष्मसंपराय में, **चउ**—चार, **तिन्नि**—तीन, **उवसंते**—उपशान्त मोह में।

गाथार्थ—मोहनीयकर्म के मिथ्यात्व गुणस्थान में तीन, सासादन में एक, मिश्र में तीन, अविरत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में से प्रत्येक में पांच-पांच, अपूर्वकरण में तीन, अनिवृत्तिबादर में ग्यारह, सूक्ष्मसंपराय में चार और उपशान्तमोह में तीन सत्तास्थान होते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में मोहनीय कर्म के गुणस्थानों में सत्तास्थान बतलाये हैं। प्रत्येक गुणस्थान में मोहनीयकर्म के सत्तास्थानों के

१ अन्य प्रतियों में, 'चउसु तिगऽपुव्वे' यह पाठ देखने में आता है। उक्त पाठ समीचीन प्रतीत होता है, किन्तु टीकाकार ने 'नियट्टिए तिन्नि' इस पाठ का अनुसरण करके टीका की है, अतः यहाँ भी यही 'नियट्टिए तिन्नि' पाठ रखा है।

होने के कारण का विचार पहले किया जा चुका है। अतः यहाँ संकेत मात्र करते हैं कि—'तिण्णेगे'—अर्थात् पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में २८, २७ और २६ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान हैं तथा 'एगेगं' दूसरे सासादन गुणस्थान में सिर्फ एक २८ प्रकृतिक सत्तास्थान ही होता है। मिश्र गुणस्थान में २८, २७ और २४ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान हैं—'तिग मीसे'। इसके बाद चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक चार गुणस्थानों में से प्रत्येक में २८, २४, २३, २२ और २१ प्रकृतिक, ये पाँच-पाँच सत्तास्थान हैं। आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में २८, २४ और २१ प्रकृतिक ये तीन सत्तास्थान हैं। नौवें गुणस्थान—अनिवृत्तिबादर में २८, २४, २१, १३, १२, ११, ५, ४, ३, २ और १ प्रकृतिक, ये ग्यारह सत्तास्थान हैं—'एक्कार बायरम्मी'। सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में २८, २४, २१ और १ प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान हैं तथा 'तिन्नि उवसंते' उपशांतमोह गुणस्थान में २८, २४ और २१ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान होते हैं।[1]

इस प्रकार से गुणस्थानों में मोहनीयकर्म के सत्तास्थानों को बतलाने के बाद अब प्रसंगानुसार संवेध भङ्गों का विचार करते हैं—

---

१ तिण्णेगे एगेगं दो मिस्से चदुसु पण णियट्टीए।
तिण्णि य थूलेयारं सुहुमे चत्तारि तिण्णि उवसंते॥
—गो० कर्मकांड गा० ५०९

मोहनीयकर्म के मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ३, सासादन में १, मिश्र में २, अविरत सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानों में पांच-पांच, अपूर्वकरण में ३, अनिवृत्तिबादर में ११, सूक्ष्मसंपराय में ४ और उपशान्तमोह में ३ सत्तास्थान हैं।

विशेष—कर्मग्रन्थ में मिश्र गुणस्थान के ३ और गो० कर्मकांड में २ सत्तास्थान बतलाये हैं।

मिथ्यात्व गुणस्थान में २२ प्रकृतिक बंधस्थान और ७,८,९ और और १० प्रकृतिक, ये चार उदयस्थान होते हैं। इनमें से ७ प्रकृतिक उदयस्थान में एक २८ प्रकृतिक सत्तास्थान ही होता है किन्तु शेष तीन ८, ९ और १० प्रकृतिक उदयस्थानों में २८, २७ और २६ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान संभव हैं। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में कुल सत्तास्थान १० हुए--१+३×३=१०।

सासादन गुणस्थान में २१ प्रकृतिक बंधस्थान और ७, ८, ९ प्रकृतिक, ये तीन उदयस्थान रहते हुए प्रत्येक में २८ प्रकृतिक सत्तास्थान हैं। इस प्रकार यहाँ तीन सत्तास्थान हुए।

मिश्र गुणस्थान में १७ प्रकृतिक बंधस्थान तथा ७, ८ और ९ प्रकृतिक, इन तीन उदयस्थानों के रहते हुए प्रत्येक में २८, २७ और २४ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान होते हैं। अतः यहाँ कुल ९ सत्तास्थान हुए।

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में एक १७ प्रकृतिक बंधस्थान तथा ६, ७, ८ और ९ प्रकृतिक, ये चार उदयस्थान होते हैं और इनमें से ६ प्रकृतिक उदयस्थान में तो २८, २४ और २१ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान होते हैं तथा ७ और ८ में से प्रत्येक उदयस्थान में २८,२४, २३, २२ और २१ प्रकृतिक, ये पांच-पांच सत्तास्थान हैं। ९ प्रकृतिक उदयस्थान में २८, २४, २३ और २२ प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार यहां कुल १७ सत्तास्थान हुए।

देशविरत गुणस्थान में १३ प्रकृतिक बंधस्थान तथा ५, ६, ७ और ८ प्रकृतिक, ये चार उदयस्थान हैं। इनमें से ५ प्रकृतिक उदयस्थान में तो २८, २४ और २१ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान तथा ६ और ७ प्रकृतिक उदयस्थानों में से प्रत्येक में २८, २४, २३, २२ और २१ प्रकृतिक, ये पांच-पांच सत्तास्थान होते हैं तथा ८ प्रकृतिक उदयस्थान

में २८, २४ २३ और २२ प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान हैं। इस प्रकार यहाँ कुल १७ सत्तास्थान होते हैं।

प्रमत्त विरत गुणस्थान में ६ प्रकृतिक बंधस्थान तथा ४, ५, ६ और ७ प्रकृतिक, ये चार उदयस्थान हैं। इनमें से ४ प्रकृतिक उदयस्थान में २८, २४ और २१ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान होते हैं। ५ और ६ प्रकृतिक उदयस्थानों में से प्रत्येक में २८, २४, २३, २२ और २१ प्रकृतिक ये पांच-पांच सत्तास्थान हैं तथा ७ प्रकृतिक उदयस्थान में २८, २४, २३ और २२ प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान हैं। इस प्रकार यहाँ कुल १७ सत्तास्थान होते हैं।

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में पूर्वोक्त प्रमत्तसंयत गुणस्थान की तरह १७ सत्तास्थान जानना चाहिये।

अपूर्वकरण गुणस्थान में ६ प्रकृतिक बंधस्थान और ४, ५ तथा ६ प्रकृतिक उदयस्थान तथा इन तीन उदयस्थानों में से प्रत्येक में २८, २४ और २१ प्रकृतिक ये तीन-तीन सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार यहाँ कुल ६ सत्तास्थान होते हैं।

अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में ५, ४, ३, २ और १ प्रकृतिक, ये पाँच बंधस्थान तथा २ और १ प्रकृतिक, ये दो उदयस्थान हैं। इनमें से ५ प्रकृतिक बंधस्थान और २ प्रकृतिक उदयस्थान के रहते हुए २८, २४, २१, १३, १२ और ११ प्रकृतिक, ये छह सत्तास्थान होते हैं। ४ प्रकृतिक बंधस्थान और १ प्रकृतिक उदयस्थान के रहते २८, २४, २१, ११, ५ और ४ प्रकृतिक, ये छह सत्तास्थान हैं। ३ प्रकृतिक बंधस्थान और १ प्रकृतिक उदयस्थान के रहते २८, २४, २१, ४ और ३ प्रकृतिक, ये पांच सत्तास्थान हैं। २ प्रकृतिक बंधस्थान और १ प्रकृतिक उदयस्थान के रहते २८, २४, २१, ३ और २ प्रकृतिक, ये पांच सत्तास्थान होते हैं और १ प्रकृतिक बंधस्थान व १ प्रकृतिक उदयस्थान के रहते हुए २८, २४,

२१, २ और १ प्रकृतिक, ये पांच सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार यहां कुल २७ सत्तास्थान हुए।

सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में बंध के अभाव में एक प्रकृतिक उदयस्थान तथा २८, २४, २१ और १ प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान होते हैं तथा उपशान्तमोह गुणस्थान में बंध और उदय के बिना २८, २४ और २१ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान होते हैं।

किस बंधस्थान और उदयस्थान के रहते हुए कितने सत्तास्थान होते हैं, इसका विशेष विवेचन ओघ प्ररूपणा के प्रसंग में किया जा चुका है, अतः वहां से जानना चाहिये।

इस प्रकार से अब तक नामकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों के बंध आदि स्थानों का गुणस्थानों में निर्देश किया जा चुका है। अब नामकर्म के संवेध भंगों का विचार करते हैं।

गुणस्थानों में नामकर्म के संवेध भंग

छण्णव छक्कं तिग सत्त दुगं दुग तिग दुगं तियट्ठ चऊ।
दुग छ च्चउ दुग पण चउ चउ दुग चउ पणग एग चऊ ॥४९॥
एगेगमट्ठ एगेगमट्ठ छउमत्थकेवलिजिणाणं।
एग चऊ एग चऊ अट्ठ चउ दु छक्कमुदयंसा ॥[1]५०॥

---

१ तुलना कीजिये —

छण्णवछत्तियसगइगि दुगतिगदुग तिण्णिअट्ठचत्तारि।
दुगदुगचदु दुगपणछद्दु चदुरेयचदू पणेयचदू ॥
एगेगमट्ठ एगेगमट्ठ छदुमट्ठ केवलिजिणाणं।
एगचदुरेगछक्को दोछक्क संधउदयंसा ॥

—गो० कर्मकांड गा० ६९३, ६९४

शब्दार्थ—**छण्णव छक्कं**—छह, नौ और छह, **तिग सत्त दुगं**—तीन, सात और दो, **दुग तिग दुगं**—दो, तीन और दो, **तिगट्ठ चक्क**—तीन, आठ और चार, **दुग छ चउ**—दो, छह और चार, **दुग पण चउ**—दो, पांच और चार, **चउ दुग चउ**—चार, दो और चार, **पणग एग चक्क**—पांच, एक और चार।

एगेगमट्ठ—एक, एक और आठ, **एगेगमट्ठ**—एक, एक और आठ, **छउमत्थ**—छद्मस्थ (उपशान्तमोह, क्षीणमोह) **केवलिजिणाणं**—केवलि जिन (सयोगि और अयोगि केवली) को अनुक्रम से, **एग चक्क**—एक और चार, **एग चक्क**—एक और चार, **अट्ठ चउ**—आठ और चार, **दु छक्कं**—दो और छह, **उदयंसा**—उदय और सत्ता स्थान।

गाथार्थ—छह, नौ, छह; तीन, सात और दो; दो, तीन और दो; तीन, आठ और चार; दो, छह और चार; दो, पांच और चार; चार, दो और चार; पांच, एक और चार; तथा

एक, एक और आठ; एक, एक और आठ; इस प्रकार अनुक्रम से बंध, उदय और सत्तास्थान आदि के दस गुणस्थानों में होते हैं तथा छद्मस्थ जिन (११ और १२ गुणस्थान) में तथा केवली जिन (१३, १४, गुणस्थान) में अनुक्रम से एक, चार और एक, चार तथा आठ और चार; दो और छह उदय व सत्तास्थान होते हैं। जिनका विवरण इस प्रकार है—

(शेष पृ० ३०७ का)

कर्मग्रन्थ से गो० कर्मकांड में इन गुणस्थानों के भंग भिन्न बतलाये हैं। सासादन में ३-७-१, देशविरत में २-२-४ अप्रमत्तविरत में ४-१-४ सयोगि केवली में २-४।

कर्मग्रन्थ में उक्त गुणस्थानों के भंग इस प्रकार हैं—सासादन में ३-७-२, देशविरत में २-६-४, अप्रमत्तविरत में ४-२-४, सयोगिकेवली में ८-४।

गुणस्थान	बन्धस्थान	उदयस्थान	सत्तास्थान
१. मिथ्यात्व	६	६	६
२. सासादन	३	७	२
३. मिश्र	२	३	२
४. अविरत	३	८	४
५. देशविरत	२	६	४
६. प्रमत्तविरत	२	५	४
७. अप्रमत्तविरत	४	२	४
८. अपूर्वकरण	५	१	४
९. अनिवृत्तिकरण	१	१	८
१०. सूक्ष्मसंपराय	१	१	८
११ उपशान्तमोह	०	१	४
१२. क्षीणमोह	०	१	४
१३. सयोगिकेवली	०	८	४
१४. अयोगिकेवली	०	२	६

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में गुणस्थानों में नामकर्म के बंध, उदय और सत्ता स्थानों को बतलाया है।

(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में नामकर्म के बंधस्थान, उदयस्थान और सत्तास्थान क्रम से छह, नौ और छह हैं—'छण्णव छक्कं'। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

२३, २५, २६, २८, २९ और ३० प्रकृतिक, ये छह बंधस्थान हैं। इनमें से २३ प्रकृतिक बंधस्थान अपर्याप्त एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों का बंध करने वाले जीव को होता है। इसके बादर और सूक्ष्म तथा प्रत्येक और साधारण के विकल्प से चार भंग होते हैं। २५ प्रकृतिक बंधस्थान पर्याप्त एकेन्द्रिय तथा अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य गति के योग्य प्रकृतियों का बंध करने वाले जीवों के होता है। इनमें से पर्याप्त एकेन्द्रिय के योग्य बंध होते समय २० भंग होते हैं तथा शेष अपर्याप्त द्वीन्द्रिय आदि की अपेक्षा एक-एक भंग होता है। इस प्रकार २५ प्रकृतिक बंधस्थान के कुल भंग २५ हुए।

२६ प्रकृतिक बंधस्थान पर्याप्त एकेन्द्रिय के योग्य बंध करने वाले जीव के होता है। इसके १६ भंग होते हैं तथा २८ प्रकृतिक बंधस्थान देवगति या नरकगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करने वाले जीव के होता है। इनमें से देवगति के योग्य २८ प्रकृतियों का बंध होते समय तो ८ भंग होते हैं और नरक गति के योग्य प्रकृतियों का बंध होते समय १ भंग होता है। इस प्रकार २८ प्रकृतिक बंधस्थान के ९ भंग हैं।

२९ प्रकृतिक बंधस्थान पर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य गति के योग्य प्रकृतियों का बंध करने वाले जीवों के होता है। इनमें से पर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के योग्य २९ प्रकृतियों का बंध होते समय प्रत्येक के आठ-आठ भंग होते हैं। तिर्यंच पंचेन्द्रिय के योग्य २९ प्रकृतियों का बंध होते समय ४६०८ भंग तथा मनुष्य गति के योग्य २९ प्रकृतियों का बंध होते समय भी ४६०८ भंग होते हैं। इस प्रकार २९ प्रकृतिक बंधस्थान के कुल ९२४० भंग होते हैं।

तीर्थंकर प्रकृति के साथ देवगति के योग्य २९ प्रकृतिक बंधस्थान मिथ्यादृष्टि के नहीं होता है, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति का बंध सम्यक्त्व

के निमित्त से होता है अतः यहाँ देवगति के योग्य २९ प्रकृतिक बंधस्थान नहीं कहा है।[1]

३० प्रकृतिक बंधस्थान पर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों का बंध करने वाले जीवों के होता है। इनमें से पर्याप्त द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय के योग्य ३० प्रकृतियों का बंध होते समय प्रत्येक के आठ-आठ भंग होते हैं तथा तिर्यंच पंचेन्द्रिय के योग्य ३० प्रकृतियों का बंध होते समय ४६०८ भंग होते हैं। इस प्रकार ३० प्रकृतिक बंधस्थान के कुल भंग ४६३२ होते हैं।

यद्यपि तीर्थंकर प्रकृति के साथ मनुष्यगति के योग्य और आहारकद्विक के साथ देवगति के योग्य ३० प्रकृतियों का बंध होता है किन्तु ये दोनों ही स्थान मिथ्यादृष्टि के सम्भव नहीं होते हैं, क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति का बंध सम्यक्त्व के निमित्त से और आहारकद्विक का बंध संयम के निमित्त से होता है। कहा भी है—

सम्मत्तगुणनिमित्तं तित्थयरं संजमेण आहारं।

अर्थात्—तीर्थंकर का बंध सम्यक्त्व के निमित्त से और आहारकद्विक का बंध संयम के निमित्त से होता है। इसीलिये यहाँ मनुष्यगति और देवगति के योग्य ३० प्रकृतिक बंधस्थान नहीं कहा है।

पूर्वोक्त प्रकार से अन्तर्भाष्य गाथा में भी मिथ्यादृष्टि के २३ प्रकृतिक आदि बंधस्थानों के भंग बतलाये हैं। भाष्य की गाथा इस प्रकार है—

छउ पणवीसा सोलस नव चत्तालं तया य बाणउया।
बत्तीसुत्तरछायालसया मिच्छस्स बन्धविही॥

---

१ या तु देवगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता एकोनत्रिंशत् सा मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायाति, तीर्थंकरनाम्नः सम्यक्त्वप्रत्ययत्वाद् मिथ्यादृष्टेश्च तदभावात्।
—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २२३

अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव के जो २३, २५, २६, २८, २९ और ३० प्रकृतिक बंधस्थान हैं, उनके क्रमशः ४, २५, १६, ९, ९२४० और ४६३२ भंग होते हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव के ३१ और १ प्रकृतिक बंधस्थान सम्भव नहीं होने से उनका यहाँ विचार नहीं किया गया है।

इस प्रकार से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के छह बंधस्थानों का कथन किया गया। अब उदयस्थानों का निर्देश करते हैं कि २१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, ये नौ उदयस्थान हैं। नाना जीवों की अपेक्षा इनका पहले विस्तार से वर्णन किया जा चुका है, अतः उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। इतनी विशेषता है कि यहाँ आहारकसंयत, वैक्रियसंयत और केवली संबंधी भंग नहीं कहना चाहिये, क्योंकि ये मिथ्यादृष्टि जीव नहीं होते हैं। मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में इन उदयस्थानों के सब भंग ७७७३ हैं। वे इस प्रकार हैं कि २१ प्रकृतिक उदयस्थान के ४१ भंग होते हैं। एकेन्द्रियों के ५, विकलेन्द्रियों के ९, तिर्यंच पंचेन्द्रियों के ९, मनुष्यों के ९, देवों के ८ और नारकों का १। इनका कुल जोड़ ४१ होता है। २४ प्रकृतिक उदयस्थान के ११ भंग हैं जो एकेन्द्रियों में पाये जाते हैं, अन्यत्र २४ प्रकृतिक उदयस्थान संभव नहीं हैं। २५ प्रकृतिक उदयस्थान के ३२ भंग होते हैं—एकेन्द्रिय के ७, वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रियों के ८, वैक्रिय मनुष्यों के ८, देवों के ८ और नारकों का १। इनका कुल जोड़ ७+८+८+८+१=३२ होता है। २६ प्रकृतिक उदयस्थान के ६०० भंग होते हैं—एकेन्द्रियों के १३, विकलेन्द्रियों के ९, तिर्यंच पंचेन्द्रियों के २८९ और मनुष्यों के भी २८९। इनका जोड़ १३+९+२८९+२८९=६०० है। २७ प्रकृतिक उदयस्थान के ३१ भंग हैं—एकेन्द्रियों के ६, वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रिय के ८, वैक्रिय मनुष्यों के ८, देवों के ८ और नारकों का १। २८ प्रकृतिक उदयस्थान के ११९९ भंग हैं—

विकलेन्द्रियों के ६, तिर्यंच पंचेन्द्रियों के ५७६, वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रिय के १६, मनुष्यों के ५७६, वैक्रिय मनुष्यों के ८, देवों के १६ और नारकों का १। कुल मिलाकर ये भंग ६+५७६+१६+५७६+८+१६+१= ११९९ होते हैं। २९ प्रकृतिक उदयस्थान के १७८१ भंग हैं— विकलेन्द्रियों के १२, तिर्यंच पंचेन्द्रियों के ११५२, वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रियों के १६, मनुष्यों के ५७६, वैक्रिय मनुष्यों के ८, देवों के १६, और नारकों का १। कुल मिलाकर ये सब भंग १७८१ होते हैं। ३० प्रकृतिक उदयस्थान के २९१४ भंग हैं—विकलेन्द्रियों के १८, तिर्यंच पंचेन्द्रियों के १७२८, वैक्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रिय के ८, मनुष्यों के ११५२, देवों के ८। इनका जोड़ १८+१७२८+८+११५२+८=२९१४ होता है। ३१ प्रकृतिक उदयस्थान के भंग ११६४ होते हैं—विकलेन्द्रियों के १२, तिर्यंच पंचेन्द्रियों के ११५२ जो कुल मिलाकर ११६४ होते हैं।

इस प्रकार मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में २१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, यह नौ उदयस्थान हैं और उनके क्रमशः ४१, ११, ३२, ६००, ३१, ११९९, १७८१, २९१४ और ११६४ भंग हैं। इन भंगों का कुल जोड़ ७७७३ है। वैसे तो इन उदयस्थानों के कुल भंग ७७९१ होते हैं लेकिन इनमें से केवली के ८, आहारक साधु के ७, और उद्योत सहित वैक्रिय मनुष्य के ३, इन १८ भंगों को कम कर देने पर ७७७३ भंग ही प्राप्त होते हैं।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में छह सत्तास्थान हैं। जो ९२, ८९, ८८ ८६, ८० और ७८ प्रकृतिक हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान में आहारक-चतुष्क और तीर्थंकर नाम की सत्ता एक साथ नहीं होती है, जिससे ९३ प्रकृतिक सत्तास्थान यहाँ नहीं बताया है। ९२ प्रकृतिक सत्तास्थान चारों गति के मिथ्यादृष्टि जीवों के संभव है, क्योंकि आहारकचतुष्क की सत्ता वाला किसी भी गति में उत्पन्न होता है। ८९ प्रकृतिक सत्तास्थान सबके नहीं होता है किन्तु जो नरकायु का बंध करने के पश्चात् वेदक

सम्यग्दृष्टि होकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है और अंत समय में मिथ्यात्व को प्राप्त होकर नरक में जाता है उसी मिथ्यात्वी के अन्तर्मुहूर्त काल तक मिथ्यात्व में ८९ प्रकृतियों की सत्ता होती है। ८८ प्रकृतियों की सत्ता चारों गतियों के मिथ्यादृष्टि जीवों के संभव है क्योंकि चारों गतियों के मिथ्यादृष्टि जीवों के ८८ प्रकृतियों की सत्ता होने में कोई बाधा नहीं है। ८६ और ८० प्रकृतियों की सत्ता उन एकेन्द्रिय जीवों के होती है जिन्होंने यथायोग्य देवगति या नरकगति के योग्य प्रकृतियों की उद्वलना की है तथा ये जीव जब एकेन्द्रिय पर्याय से निकलकर विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं तब इनके भी सब पर्याप्तियों के पर्याप्त होने के अनन्तर अंतर्मुहूर्त काल तक ८६ और ८० प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है। किन्तु इसके आगे वैक्रिय शरीर आदि का बंध होने के कारण इन स्थानों की सत्ता नहीं रहती है। ७८ प्रकृतियों की सत्ता उन अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों के होती है जिन्होंने मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी की उद्वलना करदी है तथा जब ये जीव मरकर विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होते हैं तब इनके भी अन्तर्मुहूर्त काल तक ७८ प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है। इस प्रकार मिथ्यात्व गुणस्थान में ९२, ८९, ८८, ८६, ८० और ७८ प्रकृतिक, ये छह सत्तास्थान जानना चाहिये।

अब सामान्य से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में बंध, उदय और सत्ता स्थानों का कथन करने के बाद उनके संवेध का विचार करते हैं।

२३ प्रकृतियों का बंध करने वाले मिथ्यादृष्टि जीव के पूर्वोक्त नौ उदयस्थान संभव हैं। किन्तु २१, २५, २७, २८, २९ और ३० प्रकृतिक, इन ६ उदयस्थानों में देव और नारक संबंधी जो भंग हैं, वे यहाँ नहीं पाये जाते हैं। क्योंकि २३ प्रकृतिक बंधस्थान में अपर्याप्त एकेन्द्रियों के योग्य प्रकृतियों का बंध होता है परन्तु देव अपर्याप्त एकेन्द्रियों के

योग्य प्रकृतियों का बंध नहीं करते हैं, क्योंकि देव अपर्याप्त एकेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होते हैं। इसी प्रकार नारक भी २३ प्रकृतियों का बंध नहीं करते हैं, क्योंकि नारकों के सामान्य से ही एकेन्द्रियों के योग्य प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि २३ प्रकृतिक बंधस्थान में देव और नारकों के उदयस्थान संबंधी भंग प्राप्त नहीं होते हैं तथा यहाँ ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ प्रकृतिक ये पाँच सत्तास्थान होते हैं। २१, २४, २५ और २६ प्रकृतिक इन चार उदयस्थानों में उक्त पाँचों ही सत्तास्थान होते हैं तथा २७, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, इन पाँच उदयस्थानों में ७८ के बिना पूर्वोक्त चार-चार सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार यहाँ सब उदयस्थानों की अपेक्षा कुल ४० सत्तास्थान होते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि २५ प्रकृतिक उदयस्थान में ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों के ही होते हैं तथा २६ प्रकृतिक उदयस्थान में ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों के भी होता है और जो अग्निकायिक तथा वायुकायिक जीव मरकर विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं, इनके भी कुछ काल तक होता है।

२५ और २६ प्रकृतिक बंधस्थानों में भी पूर्वोक्त प्रकार कथन करना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि देव भी अपने सब उदयस्थानों में रहते हुए पर्याप्त एकेन्द्रिय के योग्य २५ और २६ प्रकृतिक स्थानों का बंध करता है। परन्तु इसके २५ प्रकृतिक बंधस्थान के बादर, पर्याप्त और प्रत्येक प्रायोग्य आठ ही भंग होते हैं, शेष १२ भंग नहीं होते हैं। क्योंकि देव सूक्ष्म, साधारण और अपर्याप्तकों में उत्पन्न नहीं होते हैं। इससे उसके इनके योग्य प्रकृतियों का बंध भी नहीं होता है। पूर्वोक्त प्रकार से यहाँ भी चालीस-चालीस सत्तास्थान होते हैं।

२८ प्रकृतियों का बंध करने वाले मिथ्यादृष्टि के ३० और ३१ प्रकृतिक, ये दो उदयस्थान होते हैं। इनमें से ३० प्रकृतिक उदयस्थान

तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों, दोनों के होता है और २१ प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों के ही होता है। इसके ९२, ८९, ८८ और ८६ प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान होते हैं। इनमें से ३० प्रकृतिक उदयस्थान में चारों सत्तास्थान होते हैं। उसमें भी ८९ प्रकृतिक सत्तास्थान उसी के जानना चाहिये जिसके तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता है और जो मिथ्यात्व में आकर नरकगति के योग्य २८ प्रकृतियों का बंध करता है। शेष तीन सत्तास्थान प्रायः सब तिर्यंच और मनुष्यों के संभव हैं। ३१ प्रकृतिक उदयस्थान में ८९ प्रकृतिक को छोड़कर शेष तीन सत्तास्थान पाये जाते हैं। ८९ प्रकृतिक सत्तास्थान तीर्थंकर प्रकृति सहित होता है, परन्तु तिर्यंचों में तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता संभव नहीं, इसीलिये ३१ प्रकृतिक उदयस्थान में ८९ प्रकृतिक सत्तास्थान का निषेध किया है। इस प्रकार २८ प्रकृतिक बंधस्थान में ३० और ३१ प्रकृतिक, दो उदयस्थानों की अपेक्षा ७ सत्तास्थान होते हैं।

देवगतिप्रायोग्य २९ प्रकृतिक बंधस्थान को छोड़कर शेष विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य गति के योग्य २९ प्रकृतियों का बंध करने वाले मिथ्यादृष्टि जीव के सामान्य से पूर्वोक्त ९ उदयस्थान और ९२, ८९, ८८, ८६, ८० और ७८ प्रकृतिक, ये छह सत्तास्थान होते हैं। इनमें से २१ प्रकृतिक उदयस्थान में सभी सत्तास्थान प्राप्त हैं। उसमें भी ८९ प्रकृतिक सत्तास्थान उसी जीव के होता है जिसने नरकायु का बंध करने के पश्चात् वेदक सम्यक्त्व को प्राप्त करके तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर लिया है। अनन्तर जो मिथ्यात्व में जाकर और मरकर नारकों में उत्पन्न हुआ है तथा ९२ और ८८ प्रकृतिक सत्तास्थान देव, नारक, मनुष्य, विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और एकेन्द्रियों की अपेक्षा जानना चाहिये। ८६ और ८० प्रकृतिक सत्तास्थान विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय, मनुष्य और एकेन्द्रियों की

अपेक्षा जानना चाहिये। ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा जानना चाहिये। २४ प्रकृतिक उदयस्थान में ८९ प्रकृतिक को छोड़कर शेष ५ सत्तास्थान हैं। जो सब एकेन्द्रियों की अपेक्षा जानना चाहिये, क्योंकि एकेन्द्रियों को छोड़कर शेष जीवों के २४ प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होता है। २५ प्रकृतिक उदयस्थान में पूर्वोक्त छहों सत्तास्थान होते हैं। इनका विशेष विचार २१ प्रकृतिक उदयस्थान के समान जानना चाहिये। २६ प्रकृतिक उदयस्थान में ८९ को छोड़कर शेष पांच सत्तास्थान होते हैं। यहाँ ८९ प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं होने का कारण यह है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में उस जीव के यह सत्तास्थान होता है जो नारकों में उत्पन्न होने वाला है किन्तु नारकों के २६ प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होता है। २७ प्रकृतिक उदयस्थान में ७८ के बिना शेष पाँच सत्तास्थान होते हैं। ८९ प्रकृतिक सत्तास्थान होने सम्बन्धी विवेचन तो पूर्ववत् जानना चाहिये तथा ९२ और ८८ प्रकृतिक सत्तास्थान देव, नारक, मनुष्य, विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और एकेन्द्रियों की अपेक्षा जानना चाहिये। ८६ और ८० प्रकृतिक सत्तास्थान एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों की अपेक्षा जानना चाहिये। यहाँ जो ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं बताया है, उसका कारण यह है कि २७ प्रकृतिक उदयस्थान अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों को छोड़कर आतप या उद्योत के साथ अन्य एकेन्द्रियों के होता है या नारकों के होता है किन्तु उनमें ७८ प्रकृतियों की सत्ता नहीं पाई जाती है। २८ प्रकृतिक उदयस्थान में ये ही पाँच सत्तास्थान होते हैं। सो इनमें ९२, ८९ और ८८ प्रकृतिक सत्तास्थानों का विवेचन पूर्ववत् है तथा ८६ और ८० प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान विकलेन्द्रियों, तिर्यंच पंचेन्द्रियों और मनुष्यों के जानना चाहिये। २९ प्रकृतिक उदयस्थान में भी इसी प्रकार पाँच सत्तास्थान जानना चाहिये। ३० प्रकृतिक

उदयस्थान में ९२, ८८, ८६, और ८० प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान हैं। जिनको विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों की अपेक्षा जानना चाहिये। नारकों के ३० प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होता है अतः यहाँ ८९ प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं कहा है तथा ११ प्रकृतिक उदयस्थान में भी ये ही चारों सत्तास्थान होते हैं जो विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा जानना चाहिये। इस प्रकार २९ प्रकृतियों का बंध करने वाले मिथ्यादृष्टि जीव के ४५ सत्तास्थान होते हैं।

मनुष्य और देवगति के योग्य ३० प्रकृतिक बंधस्थान को छोड़कर शेष विकलेन्द्रिय और तिर्यंच पंचेन्द्रिय के योग्य ३० प्रकृतियों का बंध करने वाले मिथ्यादृष्टि जीव के सामान्य से पूर्वोक्त ९ उदयस्थान और ८९ को छोड़कर शेष पाँच-पाँच सत्तास्थान होते हैं। यहाँ ८९ प्रकृतिक सत्तास्थान संभव नहीं होने का कारण यह है ८९ प्रकृतिक सत्तास्थान वाले जीव के तिर्यंचगति के योग्य प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। यहाँ २१, २४, २५, २६ प्रकृतिक इन चार उदयस्थानों में उन पाँच सत्तास्थानों का कथन तो पहले के समान जानना चाहिये तथा शेष रहे २७, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक उदयस्थान, सो इनमें से प्रत्येक में ७८ प्रकृतिक के सिवाय शेष चार सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार ३० प्रकृतियों का बंध करने वाले मिथ्यादृष्टि जीव के कुल ४० सत्तास्थान होते हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव के बंध, उदय और सत्ता स्थानों और उनके संवेध का कथन समाप्त हुआ। जिनका विवरण इस प्रकार जानना चाहिये--

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२३ प्रकृतिक	४	२१	३२	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२४	११	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२५	२३	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२६	६००	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२७	२२	९२, ८८, ८६, ८०
		२८	११८२	९२, ८८, ८६, ८०
		२९	१७६४	९२, ८८, ८६, ८०
		३०	२९०६	९२, ८८, ८६, ८०
		३१	११६४	९२, ८८, ८६, ८०
२५ प्रकृतिक	२५	२१	४०	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२४	११	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२५	३१	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२६	६००	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२७	३०	९२, ८८, ८६, ८०
		२८	११९८	९२, ८८, ८६, ८०
		२९	१७८०	९२, ८८, ८६, ८०
		३०	२९१४	९२, ८८, ८६, ८०
		३१	११६४	९२, ८८, ८६, ८०
२६ प्रकृतिक	१६	२१	४०	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२४	११	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२५	३१	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२६	६००	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२७	३०	९२, ८८, ८६, ८०
		२८	११९८	९२, ८८, ८६, ८०
		२९	१७८०	९२, ८८, ८६, ८०
		३०	२९१४	९२, ८८, ८६, ८०
		३१	११६४	९२, ८८, ८६, ८०

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८ प्रकृतिक	१	२१	१६	९२, ८०
		२५	१७	९२, ८८
		२६	५७६	९२, ८८
		२७	१७	९२, ८८
		२८	११७६	९२, ८८
		२९	१७५५	९२, ८८
		३०	२८९०	९२, ८९, ८८, ८६
		३१	११५२	९२, ८८, ८६
२९ प्रकृतिक	९२४०	२१	४१	९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७८
		२४	११	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२५	३२	९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७८
		२६	३००	९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७८
		२७	३१	९२, ८९, ८८, ८६, ८०
		२८	११९६	९२, ८९, ८८, ८६, ८०
		२९	१७८१	९२, ८९, ८८, ८६, ८०
		३०	२९१४	९२, ८९, ८८, ८६, ८०
		३१	११६४	९२, ८९, ८८, ८६
३० प्रकृतिक	४६३२	२१	४१	९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७८
		२४	११	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२५	३२	९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७८
		२६	६००	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२७	३१	९२, ८९, ८८, ८६, ८०
		२८	११९६	९२, ८९, ८८, ८६, ८०
		२९	१७८१	९२, ८९, ८८, ८६, ८०
		३०	२९१४	९२, ८९, ८८, ८६, ८०
		३१	११६४	९२, ८८, ८६, ८०
६	१३९२६	५३	४६३८८	२३३

(२) सासादन गुणस्थान

पहले गुणस्थान के बंध आदि स्थानों को बतलाने के बाद अब दूसरे गुणस्थान के बंध आदि स्थानों का निर्देश करते हैं कि—'तिग सत्त दुगं'। अर्थात् ३ बंधस्थान हैं, ७ उदयस्थान हैं और २ सत्तास्थान हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सासादन गुणस्थान में २८, २९ और ३० प्रकृतिक, ये तीन बंधस्थान हैं। इनमें से २८ प्रकृतिक बंधस्थान दो प्रकार का है—नरकगति-प्रायोग्य और देवगतिप्रायोग्य। सासादन सम्यग्दृष्टि जीवों के नरक-गतिप्रायोग्य का तो बंध नहीं होता किन्तु देवगतिप्रायोग्य का होता है। उसके बंधक पर्याप्त तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्य होते हैं। इसके आठ भंग होते हैं।

२९ प्रकृतिक बंधस्थान के अनेक भेद हैं किन्तु उनमें से सासादन के बंधने योग्य दो भेद हैं—तिर्यंचगतिप्रायोग्य और मनुष्यगतिप्रा-योग्य। इन दोनों को सासादन एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय, मनुष्य, देव और नारक जीव बाँधते हैं। यहाँ उसके कुल भंग ६४०० होते हैं। क्योंकि यद्यपि सासादन तिर्यंचगतिप्रायोग्य या मनुष्यगति-प्रायोग्य २९ प्रकृतियों को बाँधते हैं तो भी वे हुंडसंस्थान और सेवार्त संहनन का बंध नहीं करते हैं, क्योंकि इन दोनों प्रकृतियों का बंध मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होता है। जिससे यहाँ पाँच संहनन, पाँच संस्थान, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति युगल, स्थिर-अस्थिर युगल, शुभ-अशुभ युगल, सुभग-दुर्भग युगल, सुस्वर-दुःस्वर युगल, आदेय-अनादेय युगल और यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति युगल, इस प्रकार इनके परस्पर गुणित करने पर ३२०० भंग होते हैं। ये ३२०० भंग तिर्यंच-गतिप्रायोग्य भी होते हैं और मनुष्यगतिप्रायोग्य भी होते हैं। इस प्रकार दोनों का जोड ६४०० होता है।

३० प्रकृतिक बंधस्थान के भी यद्यपि अनेक भेद हैं किन्तु सासादन में बँधने योग्य एक उद्योत सहित तिर्यंचगतिप्रायोग्य ही है। जिसे सासादन एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय, मनुष्य, देव और नारक जीव बाँधते हैं। इसके कुल ३२०० भंग होते हैं। इस प्रकार सासादन गुणस्थान में तीन बंधस्थान और उनके ८+६४००+३२००= ९६०८ भंग होते हैं। भाष्य गाथा में भी इसी प्रकार कहा गया है।

अट्ठ य सय चोयट्ठि बत्तीस सया य सासणे भेया।
अट्ठावीसाईसुं सव्वाणऽट्ठहिय छण्णउई॥

अर्थात् सासादन में २८ आदि बंधस्थानों के क्रम से ८, ६४०० और ३२०० भेद होते हैं और ये सब मिलकर ९६०८ होते हैं।

इस प्रकार से सासादन गुणस्थान में तीन बंधस्थान बतलाये। अब उदयस्थानों का निर्देश करते हैं कि २१, २४, २५, २६, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, ये सात उदयस्थान होते हैं।

इनमें से २१ प्रकृतिक उदयस्थान एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय, मनुष्य और देवों के होता है। नारकों में सासादन सम्यक्-दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होते हैं जिससे सासादन में नारकों के २१ प्रकृतिक उदयस्थान नहीं कहा है। एकेन्द्रियों के २१ प्रकृतिक उदय-स्थान के रहते हुए बादर और पर्याप्त के साथ यशःकीर्ति के विकल्प से दो भंग संभव हैं, क्योंकि सूक्ष्म और अपर्याप्तों में सासादन जीव उत्पन्न नहीं होता है, जिससे विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों के प्रत्येक और अपर्याप्त के साथ जो एक-एक भंग होता है वह यहाँ संभव नहीं है। शेष भंग संभव हैं जो विकलेन्द्रियों के दो-दो, इस प्रकार से छह हुए तथा तिर्यंच पंचेन्द्रियों के ८, मनुष्यों के ८ और देवों के ८ होते हैं। इस प्रकार २१ प्रकृतिक उदयस्थान के कुल ३२ भंग (२+६+८+८+८=३२) हुए।

२४ प्रकृतिक उदयस्थान उन्हीं जीवों के होता है जो एकेन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं। यहाँ इसके बादर और पर्याप्त के साथ यशःकीर्ति और अयशःकीर्ति के विकल्प से दो ही भंग होते हैं, शेष भंग नहीं होते हैं, क्योंकि सूक्ष्म, साधारण, अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों में सासादन सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होता है।

सासादन गुणस्थान में २५ प्रकृतिक उदयस्थान उसी को प्राप्त होता है जो देवों में उत्पन्न होता है। इसके स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ और यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति के विकल्प से ८ भंग होते हैं।

२६ प्रकृतिक उदयस्थान उन्हीं के होता है जो विकलेन्द्रिय तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं। अपर्याप्त जीवों में सासादन सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होते हैं। अतः इस स्थान में अपर्याप्त के साथ जो एक भंग पाया जाता है, वह यहाँ संभव नहीं किन्तु शेष भंग संभव हैं। विकलेन्द्रियों के दो-दो, इस प्रकार छह, तिर्यंच पंचेन्द्रियों के २८८ और मनुष्यों के २८८ होते हैं। इस प्रकार २६ प्रकृतिक उदयस्थान में कुल मिलाकर ५८२ भंग होते हैं।

सासादन गुणस्थान में २७ और २८ प्रकृतिक उदयस्थान न होने का कारण यह है कि वे नवीन भव ग्रहण के एक अन्तर्मुहूर्त के काल के जाने पर होते हैं किन्तु सासादन भाव उत्पत्ति के बाद अधिक से अधिक कुछ कम ६ आवली काल तक ही प्राप्त होता है। इसीलिये उक्त २७ और २८ प्रकृतिक उदयस्थान सासादन सम्यग्दृष्टि को नहीं माने जाते हैं।

२९ प्रकृतिक उदयस्थान प्रथम सम्यक्त्व से च्युत होने वाले पर्याप्त स्वस्थान गत देवों और नारकों को होता है। २९ प्रकृतिक उदयस्थान में देवों के ८ और नारकों के १ इस प्रकार इसके यहाँ कुल ९ भंग होते हैं।

३० प्रकृतिक उदयस्थान प्रथम सम्यक्त्व से च्युत होने वाले पर्याप्त तिर्यंच और मनुष्यों के या उत्तर क्रिया में विद्यमान देवों के होता है। ३० प्रकृतिक उदयस्थान में तिर्यंच और मनुष्यों में से प्रत्येक के ११५२ और देवों के ८, इस प्रकार ११५२+११५२+८=२३१२ भंग होते हैं।

३१ प्रकृतिक उदयस्थान प्रथम सम्यक्त्व से च्युत होने वाले पर्याप्त तिर्यंचों के होता है। यहाँ इसके कुल ११५२ भंग होते हैं। इस प्रकार सासादन गुणस्थान में ७ उदयस्थान और उनके भंग होते हैं। भाष्य गाथा में भी इनके भंग निम्न प्रकार से गिनाये हैं—

बत्तीस बोन्नि अट्ठ य बासीय सया य पंच नव उदया।
बारहिगा तेवीसा बायन्नेक्कारस सया य॥

अर्थात् सासादन गुणस्थान के जो २१, २४, २५, २६, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, सात उदयस्थान हैं; उनके क्रमशः ३२, २, ८, ५८२, ९, २३१२ और ११५२ भंग होते हैं।

सासादन गुणस्थान के सात उदयस्थानों को बतलाने के बाद अब सत्तास्थानों को बतलाते हैं कि यहाँ ९२ और ८८ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान हैं। इनमें से जो आहारक चतुष्क का बंध करके उपशमश्रेणि से च्युत होकर सासादन भाव को प्राप्त होता है, उसके ९२ की सत्ता पाई जाती है, अन्य के नहीं और ८८ प्रकृतियों की सत्ता चारों गतियों के सासादन जीवों के पाई जाती है।

इस प्रकार से सासादन गुणस्थान के बंध, उदय और सत्तास्थानों को जानना चाहिये। अब इनके संवेध का विचार करते हैं।

२८ प्रकृतियों का बंध करने वाले सासादन सम्यग्दृष्टि को ३० और

३१ प्रकृतिक, ये दो उदयस्थान होते हैं। पूर्व में बंधस्थानों का विचार करते समय यह बताया जा चुका है कि सासादन जीव देवगतिप्रायोग्य ही २८ प्रकृतियों का बंध करता है, नरकगतिप्रायोग्य २८ प्रकृतियों का नहीं। उसमें भी करणपर्याप्त सासादन जीव ही देवगतिप्रायोग्य को बांधता है। इसलिये यहाँ ३० और ३१ प्रकृतिक, इन दो उदयस्थानों के अलावा अन्य शेष उदयस्थान संभव नहीं हैं। अब यदि मनुष्यों की अपेक्षा ३० प्रकृतिक उदयस्थान का विचार करते हैं तो वहाँ ९२ और ८८ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान संभव हैं और यदि तिर्यंच पंचेन्द्रियों की अपेक्षा ३० प्रकृतिक उदयस्थान का विचार करते हैं तो वहाँ ८८ प्रकृतिक, यह एक ही सत्तास्थान संभव है क्योंकि ९२ प्रकृतियों की सत्ता उसी को प्राप्त होती है जो उपशमश्रेणि से च्युत होकर सासादन भाव को प्राप्त होता है किन्तु तिर्यंचों में उपशमश्रेणि संभव नहीं है। अतः यहाँ ९२ प्रकृतिक सत्तास्थान का निषेध किया है।

तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों के योग्य २९ प्रकृतियों का बंध करने वाले सासादन जीवों के पूर्वोक्त सातों ही उदयस्थान संभव हैं, इनमें से और सब उदयस्थानों में तो एक ८८ प्रकृतियों की ही सत्ता प्राप्त होती है किन्तु ३० के उदय में मनुष्यों के ९२ और ८८ प्रकृतिक, ये दोनों ही सत्तास्थान संभव है। २९ के समान ३० प्रकृतिक बंधस्थान का भी कथन करना चाहिये।

३१ प्रकृतिक उदयस्थान में ८८ प्रकृतियों की ही सत्ता प्राप्त होती है। क्योंकि ३१ प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंचों के ही प्राप्त होता है।

इस प्रकार सासादन गुणस्थान में कुल ८ सत्तास्थान होते हैं। सासादन गुणस्थान के बंध, उदय और सत्तास्थानों और संवेध का विवरण इस प्रकार जानना चाहिये—

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८ प्रकृतिक	८	३०	२३१२	९२, ८८
		३१	११५२	८८
२९ प्रकृतिक	६४००	२१	३२	८८
		२४	२	८८
		२५	८	८८
		२६	५८२	८८
		२९	९	८८
		३०	२३१२	९२, ८८
		३१	११५२	८८
३० प्रकृतिक	३२००	२१	३२	८८
		२४	२	८८
		२५	८	८८
		२६	५८२	८८
		२९	९	८८
		३०	२३१२	९२, ८८
		३१	११५२	८८
३	९६०८	१९	११६५८	१९

(३) मिश्र गुणस्थान

दूसरे सासादन गुणस्थान के बंध आदि स्थानों का निर्देश करने के बाद अब तीसरे मिश्र गुणस्थान के बंध आदि स्थानों का कथन करते हैं। मिश्र गुणस्थान में—'दुग तिग दुगं'—दो बंधस्थान, तीन उदयस्थान और दो सत्तास्थान हैं। जिनका विवरण इस प्रकार है कि २८ और २९ प्रकृतिक, ये बंधस्थान होते हैं। इनमें से २८ प्रकृतिक बंधस्थान तिर्यंच और मनुष्यों के होता है, क्योंकि ये मिश्र गुणस्थान में देवगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करते हैं। इसके यहाँ ८ भंग होते हैं।

२९ प्रकृतिक बंधस्थान देव और नारकों के होता है। क्योंकि वे मिश्र गुणस्थान में मनुष्यगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करते हैं। इसके भी ८ भंग होते हैं। दोनों स्थानों में ये भंग स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ और यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति के विकल्प से प्राप्त होते हैं। २×२×२=८ शेष भंग प्राप्त नहीं होते हैं क्योंकि शेष शुभ परावर्तमान प्रकृतियाँ ही सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव बाँधते हैं।

यहाँ बंधस्थानों का कथन करने के बाद अब उदयस्थान बतलाते हैं कि २९, ३० और ३१ प्रकृतिक ये तीन उदयस्थान हैं। २९ प्रकृतिक उदयस्थान देव और नारकों के होता है। इस स्थान के देवों के ८ और नारकों के १ इस प्रकार ९ भंग होते हैं। ३० प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंच व मनुष्यों के होता है। इसमें तिर्यंचों के ११५२ और मनुष्यों के ११५२ भंग होते हैं जो कुल मिलाकर २३०४ हैं। ३१ प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंच पंचेन्द्रियों के ही होता है। इसके यहाँ कुल मिलाकर ११५२ भंग होते हैं। इस प्रकार मिश्र गुणस्थान में तीनों उदयस्थानों के ९+२३०४+११५२=३४६५ भंग होते हैं।

मिश्र गुणस्थान में दो सत्तास्थान हैं—९२ और ८८ प्रकृतिक। इस प्रकार मिश्र गुणस्थान के बंध, उदय और सत्ता स्थान क्रमशः २, ३ और २ समझना चाहिये।

अब इनके संवेध का विचार करते हैं कि २८ प्रकृतियों का बंध करने वाले सम्यग्मिथ्यादृष्टि के ३० और ३१ प्रकृतिक, ये दो उदयस्थान तथा प्रत्येक उदयस्थान में ९२ और ८८ प्रकृतिक, ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। २९ प्रकृतियों के बंधक के एक २९ प्रकृतिक उदयस्थान तथा ९२ और ८८ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार मिश्र गुणस्थान में तीन उदयस्थानों की अपेक्षा छह सत्तास्थान होते हैं।

मिश्र गुणस्थान के बंध, उदय और सत्ता स्थान के संवेध का विवरण इस प्रकार जानना चाहिये—

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८ प्रकृतिक	८	३०	२३०४	९२, ८८
		३१	११५२	९२, ८८
२९ प्रकृतिक	८	२९	९	९२, ८८
२	१६	३	३४६५	६

(४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

मिश्र गुणस्थान में बंध आदि स्थानों को बतलाने के बाद अब चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान के बंध आदि स्थानों को बतलाते हैं कि इस गुणस्थान में तीन बंधस्थान, आठ उदयस्थान और चार सत्तास्थान हैं—'तिगऽट्ठचउ।' वे इस प्रकार जानना चाहिये कि २८, २९

और ३० प्रकृतिक, ये तीन बंधस्थान हैं। इनमें से देवगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करने वाले अविरत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों के २८ प्रकृतिक बंधस्थान होता है। अविरत सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्य शेष गतियों के योग्य प्रकृतियों का बंध नहीं करते, इसलिये यहाँ नरकगति के योग्य २८ प्रकृतिक बंधस्थान नहीं होता है।

२९ प्रकृतिक बंधस्थान दो प्रकार से प्राप्त होता है। एक तो तीर्थंकर प्रकृति के साथ देवगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करने वाले मनुष्यों के होता है। इसके ८ भंग होते हैं। दूसरा मनुष्यगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करने वाले देव और नारकों के होता है। यहाँ भी आठ भंग होते हैं। तीर्थंकर प्रकृति के साथ मनुष्यगति के योग्य प्रकृतियों का बंध करने वाले देव और नारकों के ३० प्रकृतिक बंधस्थान होता है। इसके भी आठ भंग होते हैं।[1]

अब आठ उदयस्थानों को बतलाते हैं कि अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में २१, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, ये ८ उदयस्थान हैं।

इनमें से २१ प्रकृतिक उदयस्थान नारक, तिर्यंच पंचेन्द्रिय, मनुष्य और देवों के जानना चाहिये। क्योंकि जिसने आयुकर्म के बंध के पश्चात् क्षायिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया है, उसके चारों गतियों में २१ प्रकृतिक उदयस्थान संभव है। किन्तु अविरत सम्यग्दृष्टि अपर्याप्तों में उत्पन्न नहीं होता अतः यहाँ अपर्याप्त संबंधी भंगों को छोड़कर शेष भंग

---

१ मनुष्याणां देवगतिप्रायोग्यं तीर्थंकरसहितं बध्नतामेकोनत्रिंशत्, अत्राप्यष्टौ भंगाः। देव-नैरयिकाणां मनुष्यगतिप्रायोग्यं बध्नतामेकोनत्रिंशत्, अत्रापि त एवाष्टौ भंगाः। तेषामेव मनुष्यगतिप्रायोग्यं तीर्थंकरसहितं बध्नतां त्रिंशत्, अत्रापि त एवाष्टौ भंगाः।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २३०

पाये जाते हैं जो तिर्यंच पंचेन्द्रिय के ८, मनुष्यों के ८, देवों के ८ और नारकों का १ है। इस प्रकार कुल मिलाकर ८+८+८+१=२५ हैं।

२५ और २७ प्रकृतिक उदयस्थान देव और नारकों तथा विक्रिया करने वाले तिर्यंच और मनुष्यों के जानना चाहिये। यहाँ जो २५ और २७ प्रकृतिक स्थानों का नारक और देवों को स्वामी बतलाया है सो यह नारक वेदक सम्यग्दृष्टि या क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही होता है और देव तीनों में से किसी भी सम्यग्दर्शन वाला होता है।[1] चूर्णि में भी इसी प्रकार कहा है—

पणवीस-सत्तवीसोदया देवनेरइए विउव्वियतिरिय मणुए य पडुच्च।
नेरइगो खइग-वेयगसम्मद्दिट्ठी देवो तिविहसम्मद्दिट्ठी वि॥

अर्थात् अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में २५ और २७ प्रकृतिक उदयस्थान देव, नारक और विक्रिया करने वाले तिर्यंच और मनुष्यों के होता है। सो इनमें से ऐसा नारक या तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है या वेदक सम्यग्दृष्टि, किन्तु देव के तीनों सम्यग्दर्शनों में से कोई एक होता है।

२६ प्रकृतिक उदयस्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि या वेदक सम्यग्दृष्टि तिर्यंच और मनुष्यों के होता है। औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव तिर्यंच और मनुष्यों में उत्पन्न नहीं होता है। अतः यहाँ तीनों प्रकार के सम्यग्दृष्टि जीवों को नहीं कहा है। उसमें भी तिर्यंचों के मोहनीय की २२ प्रकृतियों की सत्ता की अपेक्षा ही यहाँ वेदक सम्यक्त्व जानना चाहिये।

---

१ पंचविंशति-सप्तविंशत्युदयौ देव-नैरयिकान् वैक्रियतिर्यङ्मनुष्यांश्चाधिकृत्यावसेयौ। तत्र नैरयिकः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्वेदकसम्यग्दृष्टिर्वा, देवस्त्रिविधसम्यग्दृष्टिरपि। —सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २३०

२८ और २९ प्रकृतिक उदय चारों गतियों के अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों के होता है। ३० प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंच पंचेन्द्रिय, मनुष्य और देवों के होता है तथा ३१ प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंच पंचेन्द्रियों के ही होता है। इस प्रकार से अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ८ उदयस्थान जानना चाहिये।

अब सत्तास्थानों का निर्देश करते हैं—

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ९३, ९२, ८९ और ८८ प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान हैं। इनमें से जिस अप्रमत्तसंयत और अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव ने तीर्थंकर और आहारक के साथ ३१ प्रकृतियों का बंध किया और पश्चात् मरकर अविरत सम्यग्दृष्टि हो गया तो उसके ९३ प्रकृतियों की सत्ता होती है। जिसने पहले आहारक चतुष्क का बंध किया और उसके बाद परिणाम बदल जाने से मिथ्यात्व में जाकर जो चारों गतियों में से किसी एक गति में उत्पन्न हुआ उसके उस गति में पुनः सम्यग्दर्शन के प्राप्त हो जाने पर ९२ प्रकृतिक सत्तास्थान चारों गतियों में बन जाता है। किन्तु देव और मनुष्यों के मिथ्यात्व को प्राप्त किये बिना ही इस अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ९२ प्रकृतियों की सत्ता बन जाती है। ८९ प्रकृतिक सत्तास्थान अविरत सम्यग्दृष्टि देव, नारक और मनुष्यों के होता है। क्योंकि इन तीनों गतियों में तीर्थंकर प्रकृति का समार्जन होता रहता है। किन्तु तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाला जीव तिर्यंचों में उत्पन्न नहीं होता है अतः यहाँ तिर्यंचों का ग्रहण नहीं किया है, और ८८ प्रकृतिक सत्तास्थान चारों गतियों के अविरत सम्यग्दृष्टि जीवों के होता है। इस प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में बंध, उदय और सत्ता स्थानों को जानना चाहिये।

अब इनके संवेध का विचार करते हैं कि २८ प्रकृतियों का बंध करने वाले अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के तिर्यंच और मनुष्यों की अपेक्षा

८ उदयस्थान होते हैं। उसमें से २५ और २७ प्रकृतिक उदयस्थान विक्रिया करने वाले तिर्यंच और मनुष्यों के ही होते हैं और शेष छह सामान्य के होते हैं। इन उदयस्थानों में से प्रत्येक उदयस्थान में ९२ और ८९ प्रकृतिक ये दो-दो सत्तास्थान हैं। २९ प्रकृतिक बंधस्थान देवगतिप्रायोग्य व मनुष्यगतिप्रायोग्य होने की अपेक्षा से दो प्रकार का है। इनमें से देवगतिप्रायोग्य तीर्थंकर प्रकृति सहित है जिससे इसका बंध मनुष्य ही करते हैं। किन्तु मनुष्यों के उदयस्थान २१, २५, २६, २७, २८, २९ और ३० प्रकृतिक, ये सात हैं; क्योंकि मनुष्यों के ३१ प्रकृतिक उदयस्थान नहीं होता है। यहाँ भी प्रत्येक उदयस्थान में ९३ और ८९ प्रकृतिक, ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं तथा मनुष्यगतिप्रायोग्य २९ प्रकृतियों को देव और नारक ही बाँधते हैं। सो इनमें से नारकों के २१, २५, २७, २८ और २९ प्रकृतिक, ये पाँच उदयस्थान होते हैं तथा देवों के पूर्वोक्त पाँच और ३० प्रकृतिक, ये छह उदयस्थान होते हैं। इन सब उदयस्थानों में ९२ और ८८ प्रकृतिक, ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं तथा मनुष्यगति योग्य ३० प्रकृतियों का बंध देव और नारक करते हैं सो इनमें से देवों के पूर्वोक्त ६ उदयस्थान होते हैं और उनमें से प्रत्येक में ९३ और ८९ प्रकृतिक, ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। नारकों के उदयस्थान तो पूर्वोक्त पांच ही होते हैं किन्तु इनमें सत्तास्थान ८९ प्रकृतिक एक-एक ही होता है क्योंकि तीर्थंकर और आहारक चतुष्क की युगपत् सत्ता वाले जीव नारकों में उत्पन्न नहीं होते हैं। इस प्रकार २१ से लेकर ३० प्रकृतिक उदयस्थानों में से प्रत्येक में सामान्य से ९३, ९२, ८९ और ८८ प्रकृतिक, ये चार-चार सत्तास्थान होते हैं और ३१ प्रकृतिक उदयस्थान में ९२ और ८८ प्रकृतिक ये दो सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में सामान्य से कुल ३० सत्तास्थान हुए। जिनका विवरण निम्न प्रकार से जानना चाहिये—

संस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८ प्रकृतिक	८	२१	१६	९३, ८८
		२५	१६	९२, ८८
		२६	५७६	९२, ८८
		२७	१६	९२, ८८
		२८	११७६	९२, ८८
		२९	१७५२	९२, ८८
		३०	२८८८	९२, ८८
		३१	११५२	९२, ८८
२९ प्रकृतिक	१६	२१	१७	९३, ९२, ८९, ८८
		२५	१७	९३, ९२, ८९, ८८
		२६	२८८	९३, ८९
		२७	१७	९३, ९२, ८९, ८८
		२८	६०१	९३, ९२, ८९, ८८
		२९	५०१	९३, ९२, ८९, ८८
		३०	११६०	९३, ९२, ८९, ८८
३० प्रकृतिक	८	२१	९	९३, ८९
		२५	९	९३, ८९
		२७	९	९३, ८९
		२८	१७	९३, ८९
		२९	१७	९३, ८९
		३०	८	९३, ८९
३	३२	२१	१०,३६२	५४

(५) देशविरत गुणस्थान

अब पांचवें देशविरत गुणस्थान के बंध आदि स्थानों का विचार करते हैं। देशविरत गुणस्थान में बंध आदि स्थान क्रमशः 'दुग छ चउ' दो, छह और चार हैं। अर्थात् दो बंधस्थान, छह उदयस्थान और चार सत्तास्थान हैं। उनमें से दो बंधस्थान क्रमशः २८ और २९ प्रकृतिक हैं। जिनमें से २८ प्रकृतिक बंधस्थान तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों के होता है। इतना विशेष है कि इस गुणस्थान में देवगतिप्रायोग्य प्रकृतियों का ही बंध होता है और इस स्थान के ८ भंग होते हैं। उक्त २८ प्रकृतियों में तीर्थंकर प्रकृति को मिला देने पर २९ प्रकृतिक बंधस्थान होता है। यह स्थान मनुष्यों को होता है क्योंकि तिर्यंचों के तीर्थंकर प्रकृति का बंध नहीं होता है। इस स्थान के भी आठ भंग होते हैं।

इस गुणस्थान में २५, २७, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, यह छह उदयस्थान होते हैं। इनमें से आदि के चार उदयस्थान विक्रिया करने वाले तिर्यंच और मनुष्यों के होते हैं तथा इन चारों उदयस्थानों में मनुष्यों के एक-एक भंग होता है किन्तु तिर्यंचों के प्रारम्भ के दो उदयस्थानों का एक-एक भंग होता है और अन्तिम दो उदयस्थानों के दो-दो भंग होते हैं।

३० प्रकृतिक उदयस्थान स्वभावस्थ तिर्यंच और मनुष्यों के तथा विक्रिया करने वाले तिर्यंचों के होता है। सो यहाँ प्रारम्भ के दो में से प्रत्येक के १४४-१४४ भंग होते हैं, जो छह संहनन, छह संस्थान, सुस्वर-दुस्वर और प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति के विकल्प से प्राप्त होते हैं तथा अंतिम का एक भंग होता है। इस प्रकार ३० प्रकृतिक उदय-स्थान के कुल २८९ भंग होते हैं। दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति का

उदय गुणप्रत्यय से ही नहीं होता है अतः तत्संबंधी विकल्पों को यहाँ नहीं कहा है।

३१ प्रकृतिक उदयस्थान तिर्यंचों के ही होता है। यहाँ भी १४४ भंग होते हैं। इस प्रकार देशविरत में सब उदयस्थानों के कुल भंग १०+१४४+१४४+१४४+१०८४३ भंग होते हैं।

यहाँ सत्तास्थान चार होते हैं जो ९३, ९२, ८९ और ८८ प्रकृतिक हैं। जो तीर्थंकर और आहारक चतुष्क का बंध करके देशविरत हो जाता है, उनके ९३ प्रकृतियों की सत्ता होती है तथा शेष का विचार सुगम है। इस प्रकार देशविरत में बंध, उदय और सत्ता स्थानों का कथन किया। अब इनके संवेध का विचार करते हैं कि—

यदि देशविरत मनुष्य २८ प्रकृतियों का बंध करता है तो उसके २५, २७, २८, २९ और ३० प्रकृतिक, ये पाँच उदयस्थान और इनमें से प्रत्येक में ९२ और ८८ प्रकृतिक ये दो सत्तास्थान होते हैं। किन्तु यदि तिर्यंच २८ प्रकृतियों का बंध करता है तो उसके उक्त पाँच उदयस्थानों के साथ ३१ प्रकृतिक उदयस्थान भी होने से छह उदयस्थान तथा प्रत्येक में ९२ और ८८ प्रकृतिक, ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। २९ प्रकृतिक बंधस्थान देशविरत मनुष्य के होता है। अतः इसके पूर्वोक्त २५, २७, २८, २९ और ३० प्रकृतिक, ये पाँच उदयस्थान और प्रत्येक उदयस्थान में ९३ और ८९ प्रकृतिक, ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार देशविरत गुणस्थान में सामान्य से प्रारम्भ के पाँच उदयस्थानों में चार-चार और अन्तिम उदयस्थान में दो, इस प्रकार कुल मिलाकर २२ सत्तास्थान होते हैं।

देशविरत गुणस्थान के बंध आदि स्थानों का विवरण इस प्रकार जानना चाहिए—

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८ प्रकृतिक	८	२५	२	९२, ८८
		२७	२	९२, ८८
		२८	३	९२, ८८
		२९	३	९२, ८८
		३०	२८९	९२, ८८
		३१	१४४	९२, ८८
२९ प्रकृतिक	८	२५	१	९३, ८९
		२७	१	९३, ८९
		२८	१	९३, ८९
		२९	१	९३, ८९
		३०	१४४	९३, ८९
२	१६	११	५९	२२

(६) प्रमत्तविरत गुणस्थान

अब छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान के बंध आदि स्थानों को बतलाते हैं कि—'दुग पण चउ'—दो बंधस्थान, पाँच उदयस्थान और चार सत्तास्थान हैं। दो बंधस्थान २८ और २९ प्रकृतिक हैं। इसका विशेष स्पष्टीकरण देशविरत गुणस्थान के समान जानना चाहिये।

पांच उदयस्थान २५, २७, २८, २९ और ३० प्रकृतिक होते हैं। ये

सब उदयस्थान आहारकसंयत और वैक्रियसंयत जीवों के जानना चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि ३० प्रकृतिक उदयस्थान स्वभावस्थ संयतों के भी होता है। इनमें से वैक्रियसंयत और आहारक-संयतों के अलग-अलग २५ और २७ प्रकृतिक उदयस्थानों में से प्रत्येक के एक-एक तथा २८ और २९ प्रकृतिक उदयस्थानों के दो-दो और ३० प्रकृतिक उदयस्थान का एक-एक, इस प्रकार कुल १४ भंग होते हैं तथा ३० प्रकृतिक उदयस्थान स्वभावस्थ जीवों के भी होता है सो इसके १४४ भंग और होते हैं, इस प्रकार प्रमत्तसंयत गुणस्थान के सब उदयस्थानों के कुल भंग १५८ होते हैं।

यहाँ सत्तास्थान चार होते हैं—९३, ९२, ८९ और ८८ प्रकृतिक।

इस प्रकार प्रमत्तसंयत गुणस्थान में बंध, उदय और सत्तास्थानों का निर्देश करने के बाद अब इनके संवेध का विचार करते हैं—

२८ प्रकृतियों का बंध करने वाले पूर्वोक्त पाँचों उदयस्थानों में से प्रत्येक में ९२ और ८८ प्रकृतिक, ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। उसमें भी आहारकसंयत के ९२ प्रकृतिक सत्तास्थान ही होता है, क्योंकि आहारकचतुष्क की सत्ता के बिना आहारक समुद्घात की उत्पत्ति नहीं हो सकती है किन्तु वैक्रियसंयत के ९२ और ८८ प्रकृतियों की सत्ता संभव है। जिस प्रमत्तसंयत के तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता है वह २८ प्रकृतियों का बंध नहीं करता है। अतः यहाँ ९३ और ८९ प्रकृतियों की सत्ता नहीं होती है तथा २९ प्रकृतियों का बंध करने वाले प्रमत्तसंयत के पाँचों उदयस्थान संभव हैं और इनमें से प्रत्येक में ९३ और ८९ प्रकृतिक, ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। विशेष इतना है कि आहारक के ९३ की और वैक्रियसंयत के दोनों की सत्ता होती है।

इस प्रकार प्रमत्तसंयत के सब उदयस्थानों में पृथक-पृथक चार-चार सत्तास्थान प्राप्त होते हैं, जिनका कुल प्रमाण २० होता है।

प्रमत्तसंयत के बंध, उदय और सत्ता स्थानों व संवेध का विवरण निम्नानुसार जानना चाहिये—

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८ प्रकृतिक	८	२५	२	९२, ८८
		२७	२	९२, ८८
		२८	४	९२, ८८
		२९	४	९२, ८८
		३०	१४६	९२, ८८
२९ प्रकृतिक	८	२५	२	९३, ८९
		२७	२	९३, ८९
		२८	४	९३, ८९
		२९	४	९३, ८९
		३०	१४६	९३, ८९
२	१६	१०	३१६	२०

(७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान

प्रमत्तसंयत गुणस्थान के बंध, उदय और सत्तास्थानों को बतलाने के बाद अब अप्रमत्तसंयत गुणस्थान के बंध आदि स्थानों को बतलाते हैं कि 'चउदुग चउ'—चार बंधस्थान, दो उदयस्थान और चार सत्तास्थान हैं। चार बंधस्थान इस प्रकार हैं— २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक। इनमें से तीर्थंकर और आहारकद्विक के बिना २८ प्रकृतिक बंध-

स्थान होता है। इसमें तीर्थंकर प्रकृति को मिलाने पर २९ प्रकृतिक तथा तीर्थंकर प्रकृति को अलग करके आहारकद्विक को मिलाने से ३० प्रकृतिक तथा तीर्थंकर और आहारकद्विक को युगपत मिलाने पर ३१ प्रकृतिक बंधस्थान होता है। इन सब बंधस्थानों का एक-एक ही भंग होता है। क्योंकि अप्रमत्तसंयत के अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्ति का बंध नहीं होता है।

सातवें गुणस्थान में दो[1] उदयस्थान होते हैं जो २९ और ३० प्रकृतिक हैं। जिसने पहले प्रमत्तसंयत अवस्था में आहारक या वैक्रिय समुद्घात को करने के बाद अप्रमत्तसंयत गुणस्थान को प्राप्त किया है उसके २९ प्रकृतिक उदयस्थान होता है।[2] इसके यहाँ दो भंग होते हैं जो एक वैक्रिय की अपेक्षा और दूसरा आहारक की अपेक्षा। ३० प्रकृतिक उदयस्थान में भी दो भंग होते हैं तथा ३० प्रकृतिक उदयस्थान स्वभावस्थ अप्रमत्तसंयत जीव के भी होता है अतः उसकी अपेक्षा यहाँ १४४ भंग और होते हैं जिनका कुल जोड़ १४६ है। इस प्रकार अप्रमत्तसंयत गुणस्थान के दो उदयस्थानों के कुल १४८ भंग होते हैं।

---

१ दिगम्बर परम्परा में अप्रमत्तसंयत के ३० प्रकृतिक, एक ही उदयस्थान बतलाया है। इसका कारण यह है कि दिगम्बर परम्परा में यही एकमत पाया जाता है कि आहारक समुद्घात को करने वाले जीव को स्वयोग्य पर्याप्तियों के पूर्ण हो जाने पर भी सातवां गुणस्थान प्राप्त नहीं होता है तथा इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा के अनुसार वैक्रिय समुद्घात को करने वाला जीव भी अप्रमत्तसंयत गुणस्थान को प्राप्त नहीं करता है। इसीलिये गो० कर्मकांड गा ७०१ में अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में एक ३० प्रकृतिक उदयस्थान ही बताया है।

२ तत्रैकोनत्रिंशद् यो नाम पूर्वं प्रमत्तसंयतः सन् आहारक वैक्रियं वा निर्वर्त्य पश्चादप्रमत्तभावं गच्छति तस्य प्राप्यते।

— सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २३३

सत्तास्थान ९३, ९२, ८९ और ८८ प्रकृतिक, ये चार होते हैं। इस प्रकार अप्रमत्तसंयत गुणस्थान के चार बंधस्थान, दो उदयस्थान और चार सत्तास्थान जानना चाहिये। अब इनके संवेध का विचार करते हैं—

२८ प्रकृतियों का बंध करने वाले के उदयस्थान दोनों होते हैं, किन्तु सत्तास्थान एक ८८ प्रकृतिक ही होता है। २९ प्रकृतियों का बंध करने वाले के उदयस्थान दोनों ही होते हैं किन्तु सत्तास्थान एक ८९ प्रकृतिक होता है। ३० प्रकृतियों का बंध करने वाले के भी उदयस्थान दोनों ही होते हैं किन्तु सत्तास्थान दोनों के एक ९२ प्रकृतिक ही होता है तथा ३१ प्रकृतियों का बंध करने वाले के उदयस्थान दोनों होते हैं किन्तु सत्तास्थान एक ९३ प्रकृतिक ही होता है। यहाँ तीर्थंकर या आहारकद्विक इनमें से जिसके जिसकी सत्ता होती है, वह नियम से उसका बंध करता है। इसीलिये एक-एक बंधस्थान में एक-एक सत्तास्थान कहा है। यहाँ कुल सत्तास्थान ८ होते हैं।

इस प्रकार अप्रमत्तसंयत गुणस्थान के बंध, उदय और सत्तास्थानों के संवेध का विचार किया गया, जिसका विवरण इस प्रकार है—

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८ प्रकृतिक	१	२९	२	८८
		३०	१४६	८८
२९ प्रकृतिक	१	२९	२	८९
		३०	१४६	८९

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
३० प्रकृतिक	१	२९	२	९२
		३०	१४६	९२
३१ प्रकृतिक	१	२९	२	९३
		३०	१४६	९३
४	४	८	५९२	८

(८) अपूर्वकरण गुणस्थान

आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में बंध आदि स्थान इस प्रकार हैं—'पणगेग चउ' अर्थात् पाँच बंधस्थान, एक उदयस्थान और चार सत्तास्थान। इनमें से पाँच बंधस्थान २८, २९, ३०, ३१ और १ प्रकृतिक हैं। इनमें से प्रारम्भ के चार बंधस्थान तो सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान के समान जानना चाहिये, किन्तु जब देवगतिप्रायोग्य प्रकृतियों का बंध-विच्छेद हो जाता है तब सिर्फ एक यशःकीर्ति नाम का ही बंध होता है, जिससे यहाँ १ प्रकृतिक बंधस्थान भी होता है।

यहाँ उदयस्थान एक ३० प्रकृतिक ही होता है। जिसके वज्रऋषभनाराच संहनन, छह संस्थान, सुस्वर-दुस्वर और दो विहायोगति के विकल्प से २४ भंग होते हैं। किन्तु कुछ आचार्यों के मत से उपशमश्रेणि की अपेक्षा अपूर्वकरण में केवल वज्रऋषभनाराच संहनन का उदय न होकर प्रारम्भ के तीन संहननों में से किसी एक का उदय होता है। अतः उनके मत से यहाँ पर ७२ भंग होते हैं। इसी प्रकार

अनिवृत्तिबादर, सूक्ष्मसंपराय और उपशांतमोह गुणस्थान में भी जानना चाहिये।[1]

यहाँ सत्तास्थान ९३, ९२, ८९ और ८८ प्रकृतिक, ये चार हैं। इस प्रकार अपूर्वकरण में बंध, उदय और सत्तास्थानों का निर्देश किया। अब संवेध का विचार करते हैं—

२८, २९, ३० और ३१ प्रकृतियों का बंध करने वाले जीवों के ३० प्रकृतिक उदय रहते हुए क्रम से ८८, ८९, ९२ और ९३ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। एक प्रकृति का बंध करने वाले के ३० प्रकृतियों का उदय रहते हुए चारों सत्तास्थान होते हैं। क्योंकि जो पहले २८, २९, ३० या ३१ प्रकृतियों का बंध कर रहा था, उसके देवगति के योग्य प्रकृतियों का बंध-विच्छेद होने पर १ प्रकृतिक बंध होता है, किन्तु सत्तास्थान उसी क्रम से रहे आते हैं, जिस क्रम से वह पहले बांधता था। अर्थात् जो पहले २८ प्रकृतियों का बंध करता था, उसके ८८ की, जो २९ का बंध करता था उसके ८९ की, जो ३० का बंध करता था उसके ९२ की और जो ३१ का बंध करता था उसके ९३ की सत्ता रही

---

१ अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते—आद्यसंहननत्रयान्यतमसंहननयुक्ता अप्युपशमश्रेणीं प्रतिपद्यन्ते तन्मतेन भंगा द्विसप्ततिः। एवमनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसंपराय-—उपशान्तमोहेष्वपि द्रष्टव्यम्।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २३३

दिगम्बर परम्परा में यही एक मत पाया जाता है कि उपशमश्रेणि में प्रारम्भ के तीन संहननों में से किसी एक संहनन का उदय होता है। इसकी पुष्टि के लिये देखिये गो० कर्मकांड गाथा २६६—

वेदतिय कोहमाणं मायासंजलणमेव सुहुमंते।
सुहुमो लोहो संते वज्जणारायणारायं॥

आती है। इसीलिये एक प्रकृतिक बंधस्थान में चारों सत्तास्थान प्राप्त होते हैं।[1]

अपूर्वकरण गुणस्थान में बंध, उदय और सत्तास्थानों के संवेध का विवरण इस प्रकार है—

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८ प्रकृतिक	१	३०	२४ या ७२	८८
२९ प्रकृतिक	१	३०	२४ या ७२	८९
३० प्रकृतिक	१	३०	२४ या ७२	९२
३१ प्रकृतिक	१	३०	२४ या ७२	९३
१ प्रकृतिक	१	३०	२४ या ७२	८८, ८९, ९२, ९३
५	५	५	१२० या ३६०	८

(९-१०) अनिवृत्तिबादर, सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान

नौवें और दसवें—अनिवृत्तिबादर और सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में

१ इहाष्टाविंशति-एकोनत्रिंशत्-त्रिंशद्-एकत्रिंशद्बंधकाः प्रत्येकं देवगति प्रायोग्य-बंधव्यवच्छेदे सत्येकविधबन्धका भवन्ति, अष्टाविंशत्यादिबन्धकानां च यथा-क्रममअष्टाशीत्यादीनि सत्तास्थानानि, तत एकविधबन्धे चत्वार्यपि प्राप्यन्ते।
—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २३३

क्रमशः एक बंधस्थान, एक उदयस्थान और आठ सत्तास्थान हैं—'एगेग मट्ठ'। जिनका स्पष्टीकरण निम्नानुसार है—

अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में एक यशःकीर्ति प्रकृति का बंध होने से एक प्रकृतिक बंधस्थान है तथा उदयस्थान भी एक ३० प्रकृतिक है और सत्तास्थान ९३, ९२, ८९, ८८, ८०, ७९, ७६ और ७५ प्रकृतिक, ये आठ हैं। इनमें से प्रारंभ के चार सत्तास्थान उपशम श्रेणि में होते हैं और जब तक नामकर्म की तेरह प्रकृतियों का क्षय नहीं होता तब तक क्षपकश्रेणि में भी होते हैं। उक्त चारों स्थानों की सत्ता वाले जीवों के १३ प्रकृतियों का क्षय होने पर क्रम से ८०, ७९, ७६ और ७५ प्रकृतियों की सत्ता प्राप्त होती है। अर्थात ९३ की सत्ता वाले के १३ के क्षय होने पर ८० की, ९२ की सत्ता वाले के १३ का क्षय होने पर ७९ की, ८९ की सत्ता वाले के १३ का क्षय होने पर ७६ की और ८८ की सत्ता वाले के १३ का क्षय होने पर ७५ की सत्ता शेष रहती है। इस प्रकार यहाँ आठ सत्तास्थान जानना चाहिये। यहाँ बंधस्थान और उदयस्थान में भेद न होने से अर्थात् दोनों के एक-एक होने से संवेध सम्भव नहीं है। यानी यहाँ यद्यपि सत्तास्थान आठ होने पर भी बंधस्थान और उदयस्थान के एक-एक होने से संवेध को पृथक से कहने की आवश्यकता नहीं है।

अनिवृत्तिबादर गुणस्थान की तरह सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में भी यशःकीर्ति रूप एक प्रकृतिक एक बंधस्थान है, ३० प्रकृतिक उदयस्थान है तथा पूर्वोक्त ९३ आदि प्रकृतिक, आठ सत्तास्थान हैं। उक्त आठ सत्तास्थानों में से आदि के चार उपशमश्रेणि में होते हैं और शेष ८० आदि प्रकृतिक, अंत के चार क्षपकश्रेणि में होते हैं। शेष कथन अनिवृत्तिबादर गुणस्थान की तरह जानना चाहिये।

अब उपशांतमोह आदि ग्यारह से लेकर चौदह गुणस्थान तक के भंगों का कथन करते हैं—'छउमत्थकेवलिजिणाणं'।

(११-१२) उपशांतमोह क्षीणमोह गुणस्थान

उपशान्तमोह आदि गुणस्थानों में बंधस्थान नहीं है, किन्तु उदय-स्थान और सत्तास्थान ही हैं। अतएव उपशान्तमोह गुणस्थान में—'एग चऊ'—अर्थात् एक ३० प्रकृतिक उदयस्थान है और ९३, ९२, ८९ और ८८ प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान हैं।

क्षीणमोह गुणस्थान में भी एक ३० प्रकृतिक उदयस्थान और ८०, ७९, ७६ और ७५ प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान होते हैं—'एग चऊ'। यहाँ उदयस्थान में इतनी विशेषता है कि यदि सामान्य जीव क्षपकश्रेणि पर आरोहण करता है तो उसके मतान्तर से जो ७२ भंग बतलाये हैं वे प्राप्त न होकर २४ भंग ही प्राप्त होते हैं। क्योंकि उसके एक वज्रऋषभनाराच संहनन का ही उदय होता है।[1] यही बात क्षपकश्रेणि के पिछले अन्य गुणस्थानों में भी जानना चाहिये तथा यदि तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाला होता है तो उसके प्रशस्त प्रकृतियों का ही सर्वत्र उदय रहता है, इसीलिये एक भंग बतलाया है।

इसी प्रकार सत्तास्थानों में भी कुछ विशेषता है। यदि तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाला जीव होता है तो उसके ८० और ७६ की सत्ता रहती है और दूसरा (तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता रहित) होता है तो उसके ७९ और ७५ प्रकृतियों की सत्ता रहती है।[2] यही बात यथा-सम्भव सर्वत्र जानना चाहिये।

---

१ ·····अत्र भंगाश्चतुर्विंशतिरेव वज्रर्षभनाराचसंहननयुक्तस्यैव क्षपक-श्रेण्यारम्भसम्भवात्।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २३४

२ एकोनाशीति-पंचसप्तती अतीर्थंकर सत्कर्मणो वेदितव्ये। अशीति-षट्सप्तती तु तीर्थंकरसत्कर्मणः।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २३४

(१३) सयोगिकेवली गुणस्थान

सयोगिकेवली गुणस्थान में आठ उदयस्थान और चार सत्तास्थान हैं—'अट्ठचउ'। आठ उदयस्थान २०, २१, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक हैं तथा चार सत्तास्थान ८०, ७९, ७६ और ७५ प्रकृतिक हैं। इनके संवेध का विचार पहले कर आये हैं अतः तदनुसार जानना चाहिये। सामान्य जानकारी के लिये उनका विवरण इस प्रकार है—

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
०	०	२०	१	७९, ७५
		२१	१	८०, ७६
		२६	६	७९, ७५
		२७	१	८०, ७६
		२८	१२	७९, ७५
		२९	१२	८०, ७९, ७६, ७५
		३०	२५	८०, ७९, ७६, ७५
		३१	१	८०, ७६
०	०	८	६०	२०

(१४) अयोगिकेवली गुणस्थान

अयोगिकेवली गुणस्थान में उदयस्थान और सत्तास्थान क्रमशः—'दु छक्कं' अर्थात दो उदयस्थान और छह सत्तास्थान हैं। इनमें से दो उदयस्थान ९ और ८ प्रकृतिक हैं। नौ प्रकृतियों का उदय तीर्थंकर

केवली के और आठ प्रकृतियों का उदय सामान्य केवली के होता है।[1]

छह सत्तास्थान ८०, ७९, ७६, ७५, ९ और ८ प्रकृतिक हैं। इस प्रकार अयोगि केवली गुणस्थान के दो उदयस्थान व छह सत्तास्थान जानना चाहिये। इनके संवेध इस प्रकार हैं कि ८ प्रकृतियों के उदय में ७९, ७५ और ८ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान होते हैं। इनमें से ७९ और ७५ प्रकृतिक सत्तास्थान उपान्त्य समय तक होते हैं और ८ प्रकृतिक सत्तास्थान अन्तिम समय में होता है तथा ९ प्रकृतियों के उदय में ८०, ७६ और ९ प्रकृतिक ये तीन सत्तास्थान होते हैं जिनमें से आदि के दो (८०, ७६) उपान्त्य समय तक होते हैं और ९ प्रकृतिक सत्तास्थान आन्तिम समय में होता है।

अयोगिकेवली गुणस्थान के उदय सत्तास्थानों के संवेध का विवरण इस प्रकार है—

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
०	०	९	१	८०, ७६, ९
		८	१	७९, ७५, ८
०	०	२	२	६

इस प्रकार से गुणस्थानों में बंध, उदय और सत्ता स्थानों का विचार करने के बाद अब गति आदि मार्गणाओं में बंध, उदय और सत्ता स्थानों का विचार करते हैं।

---

१ तथाऽष्टोदयोऽतीर्थकरायोगिकेवलिनः, नवोदयस्तीर्थकरायोगिकेवलिनः।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २३४

मार्गणाओं में बन्धादिस्थान

दो छक्कट्ठ चउक्कं पण नव एक्कार छक्कगं उदया।
नेरइआइसु संता ति पंच एक्कारस चउक्कं[1] ॥५१॥

शब्दार्थ—**दो छक्कट्ठ चउक्कं**—दो, छह, आठ और चार, **पण नव एक्कार छक्कगं**—पांच, नौ, ग्यारह और छह, **उदया**—उदयस्थान, **नेरइआइसु**—नरकं आदि गतियों में, **संता**—सत्ता, **ति पंच एक्कारस चउक्कं**—तीन, पांच, ग्यारह और चार।

गाथार्थ—नारकी आदि (नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव) के क्रम से दो, छह, आठ और चार बन्धस्थान, पांच, नौ, ग्यारह और छह उदयस्थान तथा तीन, पांच, ग्यारह और चार सत्तास्थान होते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में किस गति में कितने बन्ध, उदय और सत्तास्थान होते हैं, इसका निर्देश किया गया। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये चार गतियां हैं और इसी क्रम का अनुसरण करके गाथा में पहले बन्धस्थानों की संख्या बतलाई है—'दो छक्कट्ठ चउक्कं'—अर्थात् नरकगति में दो, तिर्यंचगति में छ, मनुष्यगति में आठ और देवगति में चार बन्धस्थान हैं। उदयस्थानों का निर्देश करते हुए कहा है—'पण नव एक्कार छक्कगं उदया'। यानी पूर्वोक्त अनुक्रम से पांच, नौ, ग्यारह और छह उदयस्थान हैं तथा—'ति पंच एक्कारस चउक्कं'—

---

१ तुलना कीजिये :—

दोछक्कट्ठचउक्कं णिरयादिसु णामबंधठाणाणि।
पणणवएगारपणयं तिपंचबारसचउक्कं च ॥

—गो० कर्मकांड, गा० ७१०

कर्मग्रन्थ में मनुष्यगति में ग्यारह सत्तास्थान हैं और गो० कर्मकांड में १२ सत्तास्थान तथा देवगति में कर्मग्रन्थ में ६ और गो० कर्मकांड में ५ उदयस्थान बतलाये हैं। इतना दोनों में अंतर है।

तीन, पांच ग्यारह और चार सत्तास्थान हैं। जिनका विशेष स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है।

नरकादि गतियों में बन्धस्थान

नरकगति में दो बन्धस्थान हैं—२९ और ३० प्रकृतिक। इनमें से २९ प्रकृतिक बन्धस्थान तिर्यंचगति और मनुष्यगति प्रायोग्य दोनों प्रकार का है तथा उद्योत सहित ३० प्रकृतिक बन्धस्थान तिर्यंचगति-प्रायोग्य हैं और तीर्थंकर सहित ३० प्रकृतिक बन्धस्थान मनुष्यगति प्रायोग्य है।

तिर्यंचगति में छह बन्धस्थान हैं—२३, २५, २६, २९, २९ और ३० प्रकृतिक। इनका स्पष्टीकरण पहले के समान यहाँ भी करना चाहिये, लेकिन इतनी विशेषता है कि यहाँ पर २९ प्रकृतिक बन्धस्थान तीर्थंकर सहित और ३० प्रकृतिक बन्धस्थान आहारकद्विक सहित नहीं कहना चाहिये। क्योंकि तिर्यंचों के तीर्थंकर और आहारकद्विक का बन्ध नहीं होता है।

मनुष्यगति के ८ बन्धस्थान हैं—२३, २५, २६, २८, २९, ३०, ३१ और १ प्रकृतिक। इनका भी स्पष्टीकरण पूर्व के समान यहाँ भी कर लेना चाहिये।

देवगति में चार बन्धस्थान हैं—२५, २६, २९ और ३० प्रकृतिक। इनमें से २५ प्रकृतिक बन्धस्थान पर्याप्त, बादर और प्रत्येक के साथ एकेन्द्रिय के योग्य प्रकृतियों का बन्ध करने वाले देवों के जानना चाहिये। यहाँ स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ और यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति के विकल्प से ८ भंग होते हैं। उक्त २५ प्रकृतिक बन्धस्थान में आतप या उद्योत प्रकृति के मिला देने पर २६ प्रकृतिक बन्धस्थान होता है। २६ प्रकृतिक बन्धस्थान के १६ भंग होते हैं। २९ प्रकृतिक बन्धस्थान मनुष्यगतिप्रायोग्य या तिर्यंचगतिप्रायोग्य दोनों प्रकार का होता है

तथा उद्योत सहित ३० प्रकृतिक बन्धस्थान तिर्यंचगतिप्रायोग्य है। इसके भंग ४६०८ होते हैं तथा तीर्थंकर नाम सहित ३० प्रकृतिक बन्धस्थान मनुष्यगतिप्रायोग्य है। जिसके स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति के विकल्प से ८ भंग होते हैं।

अब नरक आदि गतियों में अनुक्रम से उदयस्थानों का विचार करते हैं कि नरकगति में २१, २५, २७, २८ और २९ प्रकृतिक, ये पांच उदयस्थान हैं। तिर्यंचगति में नौ उदयस्थान हैं—२१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, मनुष्यगति में ग्यारह उदयस्थान हैं—२०, २१, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ९ और ८ प्रकृतिक। देवगति में छह उदयस्थान हैं—२१, २५, २७, २८, २९ और ३० प्रकृतिक। इस प्रकार नरक आदि चारों गतियों में पांच, नौ, ग्यारह और छह उदयस्थान जानना चाहिये—'पण नव एक्कार छक्कगं उदया'।

सत्तास्थानों को नरक आदि गतियों में बतलाते हैं कि—'संता ति पंच एक्कारस चउक्कं'। अर्थात् नरकगति में ९२, ८९ और ८८ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान हैं। तिर्यंचगति में पांच सत्तास्थान ९२, ८८, ८६, ८०, और ७८ प्रकृतिक हैं। मनुष्यगति में ग्यारह सत्तास्थान हैं—९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७९, ७६, ७५, ९ और ८ प्रकृतिक। देवगति में चार सत्तास्थान हैं—९३, ९२, ८९ और ८८ प्रकृतिक।

इस प्रकार नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति के बन्धस्थान, उदयस्थान और सत्तास्थानों को बतलाने के बाद अब उनके संवेध का विचार नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति के अनुक्रम से करते हैं।

नरक गति में संवेध—पंचेन्द्रिय तिर्यंचगति के योग्य २९ प्रकृतियों का बन्ध करने वाले नारकों के पूर्वोक्त २१, २५, २७, २८ और २९ प्रकृतिक, पांच उदयस्थान होते हैं और इनमें से प्रत्येक उदयस्थान में ९२ और ८८ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान होते हैं। तिर्यंचगतिप्रायोग्य प्रकृतियों का बन्ध करने वाले जीव के तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध नहीं

होने से यहाँ ८९ प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं कहा है। मनुष्यगति-प्रायोग्य २९ प्रकृतियों का बन्ध करने वाले नारकों के पूर्वोक्त पांचों उदयस्थान और प्रत्येक उदयस्थान में ९२, ८९ और ८८ प्रकृतिक, ये तीन-तीन सत्तास्थान होते है। तीर्थंकर प्रकृति की सत्तावाला मनुष्य नरक में उत्पन्न होकर जब तक मिथ्यादृष्टि रहता है उसकी अपेक्षा तब तक उसके तीर्थंकर के बिना २९ प्रकृतियों का बन्ध होने से २९ प्रकृतिक बन्धस्थान में ८९ प्रकृति का सत्तास्थान बन जाता है।

नरकगति में ३० प्रकृतिक बन्धस्थान दो प्रकार से प्राप्त होता है—एक उद्योत नाम सहित और दूसरा तीर्थंकर प्रकृति सहित। जिसके उद्योत सहित ३० प्रकृतिक बन्धस्थान होता है उसके उदयस्थान तो पूर्वोक्त पाँचों ही होते हैं किंतु सत्तास्थान प्रत्येक उदयस्थान में दो-दो होते हैं—९२ और ८८ प्रकृतिक तथा जिसके तीर्थंकर सहित ३० प्रकृतिक बन्धस्थान होता है, उसके पाँचों उदयस्थानों में से प्रत्येक उदयस्थान में ८९ प्रकृतिक एक-एक सत्तास्थान ही होता है।

इस प्रकार नरकगति में सब बन्धस्थान और उदयस्थानों की अपेक्षा ४० सत्तास्थान होते हैं, जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२९ प्रकृतिक	९२१६	२१	१	९२, ८९, ८८
		२५	१	९२, ८९, ८८
		२७	१	९२, ८९, ८८
		२८	१	९२, ८९, ८८
		२९	१	९२, ८९, ८८

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
३० प्रकृतिक	४६१६	२१	१	९२, ८९, ८८
		२५	१	९२, ८९, ८८
		२७	१	९२, ८९, ८८
		२८	१	९२, ८९, ८८
		२९	१	९२, ८९, ८८

तिर्यंचगति में संभव—छह बंधस्थानों में से २३ प्रकृतिक बंधस्थान में यद्यपि पूर्वोक्त २१, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, ये नौ ही उदयस्थान होते हैं। लेकिन इनमें से प्रारम्भ के २१, २४, २५ और २६ प्रकृतिक, इन चार उदयस्थानों में से प्रत्येक में ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ प्रकृतिक, ये पांच-पांच सत्तास्थान होते हैं और अन्त के पांच उदयस्थानों में से प्रत्येक में ७८ प्रकृतिक के बिना चार-चार सत्तास्थान होते हैं। क्योंकि २७ प्रकृतिक आदि उदयस्थानों में नियम से मनुष्यद्विक की सत्ता सम्भव है। अतः इनमें ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान नहीं पाया जाता है।

इसी प्रकार २५, २६, २९ और ३० प्रकृतिक बंधस्थान वाले जीवों के बारे में भी जानना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि मनुष्यगतिप्रायोग्य २९ प्रकृतियों का बंध करने वाले जीव के सब उदयस्थानों में ७८ के बिना चार-चार सत्तास्थान ही सम्भव हैं। क्योंकि मनुष्यद्विक का बंध करने वाले के ७८ प्रकृतिक सत्तास्थान सम्भव नहीं है।

२८ प्रकृतिक बंधस्थान वाले जीव के २१, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, ये आठ उदयस्थान होते हैं। इसके २४ प्रकृतिक उदयस्थान न होने का कारण यह है कि यह एकेन्द्रियों के ही होता है और एकेन्द्रियों के २८ प्रकृतिक बंधस्थान नहीं होता है। इन उदयस्थानों में से २१, २५, २७, २९ और ३० प्रकृतिक ये पांच उदयस्थान क्षायिक सम्यग्दृष्टि या मोहनीय की २२ प्रकृतियों की सत्ता वाले वेदक सम्यग्दृष्टियों के होते हैं तथा इनमें से प्रत्येक उदयस्थान में ९२ और ८८ प्रकृतिक, ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। २५ और २७ प्रकृतिक, ये दो उदयस्थान विक्रिया करने वाले तिर्यंचों के होते हैं। यहाँ भी प्रत्येक उदयस्थान में ९२ और ८८ प्रकृतिक, ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं तथा ३० और ३१ प्रकृतिक, ये दो उदयस्थान सब पर्याप्तियों से पर्याप्त हुए सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि तिर्यंचों के होते हैं। इनमें से प्रत्येक उदयस्थान में ९२, ८८ और ८६ प्रकृतिक, ये तीन सत्तास्थान होते हैं। लेकिन यह विशेष जानना चाहिये कि ८६ प्रकृतिक सत्तास्थान मिथ्यादृष्टियों के ही होता है, सम्यग्दृष्टियों के नहीं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि तिर्यंचों के नियम से देवद्विक का बंध सम्भव है।

इस प्रकार यहाँ सब बंधस्थानों और सब उदयस्थानों की अपेक्षा २१८ सत्तास्थान होते हैं। क्योंकि २३, २५, २६, २९ और ३० प्रकृतिक इन पांच बंधस्थानों में से प्रत्येक में से चालीस-चालीस और २८ प्रकृतिक बंधस्थान में अठारह सत्तास्थान होते हैं। अतः ४०×५+१८ =२१८ इन सब का जोड़ होता है।

तिर्यंचगति सम्बन्धी नामकर्म के बंध, उदय और सत्ता स्थानों के संवेध का विवरण निम्न अनुसार जानना चाहिये—

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२३ प्रकृतिक	४	२१	२३	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२४	११	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२५	१५	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२६	३११	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२७	१४	९२, ८८, ८६, ८०
		२८	५९८	९२, ८८, ८६, ८०
		२९	११८०	९२, ८८, ८६, ८०
		३०	१७५४	९२, ८८, ८६, ८०
		३१	११६४	९२, ८८, ८६, ८०
२५ प्रकृतिक	२५	२१	२३	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२४	११	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२५	१५	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२६	३११	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२७	१४	९२, ८८, ८६, ८०
		२८	५९८	९२, ८८, ८६, ८०
		२९	११८०	९२, ८८, ८६, ८०
		३०	१७५४	९२, ८८, ८६, ८०
		३१	११६४	९२, ८८, ८६, ८०
२६ प्रकृतिक	१६	२१	२३	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२४	११	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२५	१५	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२६	३११	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२७	१४	९२, ८८, ८६, ८०
		२८	५९८	९२, ८८, ८६, ८०
		२९	११८०	९२, ८८, ८६, ८०
		३०	१७५४	९२, ८८, ८६, ८०
		३१	११६४	९२, ८८, ८६, ८०

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८ प्रकृतिक	९	२१	८	९२, ८८
		२५	८	९२, ८८
		२६	२८८	९२, ८८
		२७	८	९२, ८८
		२८	५९२	९२, ८८
		२९	११९८	९२, ८८
		३०	१७३६	९२, ८८, ८६
		३१	११५२	९२, ८८, ८६
२९ प्रकृतिक	९२४०	२१	२३	९२, ८८, ८६, ८०
		२४	११	९२, ८८, ८६, ८०
		२५	१५	९२, ८८, ८६, ८०
		२६	३११	९२, ८८, ८६, ८०
		२७	१४	९२, ८८, ८६, ८०
		२८	५९८	९२, ८८, ८६, ८०
		२९	११८०	९२, ८८, ८६, ८०
		३०	१७५४	९२, ८८, ८६, ८०
		३१	११६८	९२, ८८, ८६, ८०
३० प्रकृतिक	४६३२	२१	२३	९२, ८८, ८६, ८०
		२४	११	९२, ८८, ८६, ८०
		२५	१५	९२, ८८, ८६, ८०
		२६	३११	९२, ८८, ८६, ८०
		२७	१४	९२, ८८, ८६, ८०
		२८	५९८	९२, ८८, ८६, ८०
		२९	११८०	९२, ८८, ८६, ८०
		३०	१७५४	९२, ८८, ८६, ८०
		३१	११६४	९२, ८८, ९६, ८०

मनुष्यगति में संभेद—मनुष्यगति में २३ प्रकृतियों का बंध करने वाले मनुष्य के २१, २२, २५, २७, २८, २९, ३० प्रकृतिक, ये सात उदयस्थान होते हैं। इनमें से २५ और २७ प्रकृतिक, ये दो उदयस्थान विक्रिया करने वाले मनुष्य के होते हैं किन्तु आहारक मनुष्य के २३ प्रकृतियों का बंध नहीं होता है, अतः यहाँ आहारक के नहीं लेना चाहिये। इन दो उदयस्थानों में से प्रत्येक में ९२ और ८८ प्रकृतिक, ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं तथा शेष पांच उदयस्थानों में से प्रत्येक में ९२, ८८, ८६ और ८० प्रकृतिक, ये चार-चार सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार २३ प्रकृतिक बंधस्थान में २४ सत्तास्थान होते हैं।

इसी प्रकार २५ और २६ प्रकृतिक बंधस्थानों में भी चौबीस-चौबीस सत्तास्थान जानना चाहिये।

मनुष्यगतिप्रायोग्य और तिर्यंचगतिप्रायोग्य २९ प्रकृतिक बंधस्थानों में भी इसी प्रकार चौबीस-चौबीस सत्तास्थान होते हैं।

२८ प्रकृतिक बंधस्थान में २१, २५, २६, २७, २८, २९ और ३० प्रकृतिक, ये सात उदयस्थान होते हैं। इनमें से २१ और २६ प्रकृतिक ये दो उदयस्थान सम्यग्दृष्टि के करण-अपर्याप्त अवस्था में होते हैं। २५ और २७, ये दो उदयस्थान वैक्रिय या आहारकसंयत के तथा २८ और २९, ये दो उदयस्थान विक्रिया करने वाले, अविरत सम्यग्दृष्टि और आहारकसंयत के होते हैं। ३० प्रकृतिक उदयस्थान सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टियों के होता है। इन सब उदयस्थानों में ९२ और ८८ प्रकृतिक, ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। इसमें भी आहारकसंयत के एक ९२ प्रकृतिक सत्तास्थान ही होता है। किन्तु नरकगतिप्रायोग्य २८ प्रकृतियों का बंध करने वाले के ३० प्रकृतिक उदयस्थान में ९२, ८९, ८८ और ८६ प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार २८ प्रकृतिक बंधस्थान में १६ सत्तास्थान होते हैं।

तीर्थंकर प्रकृति के साथ देवगतिप्रायोग्य २९ प्रकृतियों का बंध करने वाले के २८ प्रकृतिक बंधस्थान के समान सात उदयस्थान होते हैं, किन्तु इतनी विशेषता है कि ३० प्रकृतिक उदयस्थान सम्यग्दृष्टियों के ही कहना चाहिये, क्योंकि २९ प्रकृतिक बंधस्थान तीर्थंकर प्रकृति सहित है और तीर्थंकर प्रकृति का बंध सम्यग्दृष्टि के ही होता है। इन सब उदयस्थानों में से प्रत्येक में ९३ और ८९ प्रकृतिक, ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। इसमें आहारकसंयत के ९३ प्रकृतियों की ही सत्ता होती है। इस प्रकार तीर्थंकर प्रकृति सहित २९ प्रकृतिक बंधस्थान में चौदह सत्तास्थान होते हैं।

आहारकद्विक सहित ३० प्रकृतियों का बंध होने पर २९ और ३० प्रकृतिक दो उदयस्थान होते हैं। इसमें से जो आहारकसंयत स्वयोग्य सर्व पर्याप्ति पूर्ण करने के बाद अंतिम काल में अप्रमत्तसंयत होता है, उसकी अपेक्षा २९ का उदय लेना चाहिये। क्योंकि अन्यत्र २९ के उदय में आहारकद्विक के बंध का कारणभूत विशिष्ट संयम नहीं पाया जाता है। इससे अन्यत्र ३० का उदय होता है। सो इनमें से प्रत्येक उदयस्थान में ९२ की सत्ता होती है।

३१ प्रकृतिक बंधस्थान के समय ३० का उदय और ९३ की सत्ता होती है तथा १ प्रकृतिक बंधस्थान के समय ३० का उदय और ९३, ९२, ८९, ८८, ८०, ७९, ७६ और ७५ प्रकृतिक, ये आठ सत्तास्थान होते हैं।

इस प्रकार २३, २५ और २६ के बंध के समय चौबीस-चौबीस सत्तास्थान, २८ के बंध के समय सोलह सत्तास्थान, मनुष्यगति और तिर्यंचगति प्रायोग्य २९ और ३० के बंध में चौबीस-चौबीस सत्तास्थान, देवगतिप्रायोग्य तीर्थंकर प्रकृति के साथ २९ के बंध में चौदह सत्तास्थान, ३१ के बंध में एक सत्तास्थान और १ प्रकृतिक बंध में आठ सत्तास्थान होते हैं। इस तरह मनुष्य गति में कुल १५९ सत्तास्थान होते हैं।

बंधस्थान	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२२ प्रकृतिक	२५	८	९२, ८८, ८६, ८०
	२५	८	९२, ८८
	२६	२०९	९२, ८८, ८६, ८०
	२७	८	९२, ८८
	२८	५८४	९२, ८८, ८६, ८०
	२९	५८४	९२, ८८, ८६, ८०
	३०	११५२	९२, ८८, ८६, ८०
२५ प्रकृतिक	२१	८	९२, ८८, ८६, ८०
	२५	८	९२, ८८
	२६	२०९	९२, ८८, ८६, ८०
	२७	८	९२, ८८
	२८	५८४	९२, ८८, ८६, ८०
	२९	५८४	९२, ८८, ८६, ८०
	३०	११५२	९२, ८८, ८६, ८०
२६ प्रकृतिक	२१	८	९२, ८८, ८६, ८०
	२५	८	९२, ८८
	२६	२०९	९२, ८८, ८६, ८०
	२७	८	९२, ८८
	२८	५८४	९२, ८८, ८६, ८०
	२९	५८४	९२, ८८, ८६, ८०
	३०	११५२	९२, ८८, ८६, ८०

बंधस्थान	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८ प्रकृतिक	२१	८	९२, ८८
	२५	८	९२, ८८
	२६	२८८	९२, ८८
	२७	८	९२, ८८
	२८	५८४	९२, ८८
	२९	५८४	९२, ८८
	३०	११५२	९२, ८९, ८८, ८६
२९ प्रकृतिक	२१	९	९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०
	२५	९	९३, ९२, ८९, ८८
	२६	२८९	९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०
	२७	९	९२, ९२, ८९, ८८
	२८	५८७	९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०
	२९	५८७	९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०
	३०	११५४	९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०
३० प्रकृतिक	२१	९	९२, ८८, ८६, ८०
	२५	८	९२, ८८
	२६	२८९	९२, ८८, ८६, ८०
	२७	८९	९२, ८८
	२८	५८४	९२, ८८, ८६, ८०
	२९	५८६	९२, ८८, ८६, ८०
	३०	११५४	९२, ८८, ८६, ८०
३१ प्रकृतिक	३०	१४४	९३
१ प्रकृतिक	३०	—	९३, ९२, ८९, ८८, ८०, ७९, ७६, ७५

देवगति में संवेध—देवगति में २५ प्रकृतियों का बंध करने वाले देवों के देव सम्बन्धी छहों उदयस्थान होते हैं। जिनमें से प्रत्येक में ९२ और ८८ प्रकृतिक ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। इसी प्रकार २६ और २९ प्रकृतियों का बंध करने वाले देवों के भी जानना चाहिए। उद्योत सहित तिर्यंचगति के योग्य ३० प्रकृतियों का बंध करने वाले देवों के भी इसी प्रकार छह उदयस्थान और प्रत्येक उदयस्थान में ९२ और ८८ प्रकृतिक, ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं परन्तु तीर्थंकर प्रकृति सहित ३० प्रकृतियों का बंध करने वाले देवों के छह उदयस्थानों में से प्रत्येक उदयस्थान में ९३ और ८९ प्रकृतिक, ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार यहाँ कुल ६० सत्तास्थान होते हैं।

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२५ प्रकृतिक	८	२१	८	९२, ८८
		२५	८	९२, ८८
		२७	८	९२, ८८
		२८	१६	९२, ८८
		२९	१६	९२, ८८
		३०	८	९२, ८८
२६ प्रकृतिक	१६	२१	८	९२, ८८
		२५	८	९२, ८८
		२७	८	९२, ८८
		२८	१६	९२, ८८
		२९	१६	९२, ८८
		३०	८	९२, ८८

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२९ प्रकृतिक	६२१६	२१	८	९२, ८८
		२५	८	९२, ८८
		२७	८	९२, ८८
		२८	१६	९२, ८८
		२९	१६	९२, ८८
		३०	८	९२, ८८
३० प्रकृतिक	४६१६	२१	८	९३, ९२, ८९, ८८
		२५	८	९३, ९२, ८९, ८८
		२७	८	९३, ९२, ८९, ८८
		२८	१६	९३, ९२, ८९, ८८
		२९	१६	९३, ९२, ८९, ८८
		३०	८	९३, ९२, ८९, ८८

इस प्रकार से गतिमार्गणा में बंध, उदय और सत्ता स्थान तथा उनके संवेध का कथन करने के बाद अब आगे की गाथा में इन्द्रिय-मार्गणा में बंध आदि स्थानों का निर्देश करते हैं—

इग विगलिंदिय सगले पण पंच य अट्ठ बंधठाणाणि ।
पण छक्केक्कारुदया पण पण बारस य संताणि[1] ॥५२॥

---

१ तुलना कीजिये—

(क) इगि विगले पण बंधो अडवीसूणा उ अट्ठ इयरंमि ।
पंच छ एक्कारुदया पण पण बारस उ संताणि ॥

—पंचसंग्रह सप्ततिका गा० १३०

(ख) एगे वियले सयले पण पण अड पंच छक्केगार पणं ।
पणतेरं बंधादी सेसादेसेवि इदि णेयं ॥

—गो० कर्मकांड गा० ७११

कर्मग्रंथ में पंचेन्द्रियों के १२ सत्तास्थान और गो० कर्मकांड में १३ सत्तास्थान बतलाये हैं ।

शब्दार्थ—इग विगलिंदिय सगले—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और सकलेन्द्रिय (पंचेन्द्रिय) में, पण पंच य अट्ठ—पांच, पांच और आठ, बंधठाणाणि—बंधस्थान, पण छक्केक्कार—पांच, छह और ग्यारह, उदया—उदयस्थान, पण-पण बारस—पाँच, पाँच और बारह, य—और, संताणि—सत्तास्थान।

गाथार्थ—एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय में अनुक्रम से पांच, पांच और आठ बंधस्थान; पांच, छह और ग्यारह उदयस्थान तथा पांच, पांच और बारह सत्तास्थान होते हैं।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में गतिमार्गणा के चारों भेदों में नामकर्म के बंध आदि स्थानों और उनके संवेध का कथन किया गया था। इस गाथा में इन्द्रियमार्गणा के एकेन्द्रिय आदि पाँच भेदों में बंधादि स्थानों का निर्देश करते हुए अनुक्रम से बताया है कि 'पण पंच य अट्ठ बंधठाणाणि' एकेन्द्रिय के पांच, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) के पांच तथा पंचेन्द्रिय के आठ बंधस्थान हैं। इसी प्रकार अनुक्रम से उदयस्थानों का निर्देश करने के लिये कहा है कि—'पण छक्केक्कारुदया'—एकेन्द्रिय के पाँच, विकलेन्द्रियों के छह और पंचेन्द्रियों के ग्यारह उदयस्थान होते हैं तथा 'पण पण बारस य संताणि'—एकेन्द्रिय के पांच, विकलेन्द्रियों के पांच और पंचेन्द्रियों के बारह सत्तास्थान हैं। इन सब बंध आदि स्थानों का स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है।

कुल बंधस्थान आठ हैं, उनमें से एकेन्द्रियों के २३, २५, २६, २९ और ३१ प्रकृतिक, ये पांच बंधस्थान हैं। विकलेन्द्रियों में से प्रत्येक के भी एकेन्द्रिय के लिये बताये गये अनुसार ही पांच-पांच बंधस्थान हैं तथा पंचेन्द्रियों के २३ आदि प्रकृतिक आठों बंधस्थान हैं।

उदयस्थान बारह है। उनमें से एकेन्द्रियों के २१, २४, २५, २६ और २७ प्रकृतिक, ये पांच उदयस्थान होते हैं। विकलेन्द्रियों में से प्रत्येक के २१, २६, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, ये छह-छह उदय-

स्थान होते हैं तथा पंचेन्द्रियों के २०, २१, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ९ और ८ प्रकृतिक, ये ग्यारह उदयस्थान होते हैं।

सत्तास्थान कुल बारह हैं, जिनमें से एकेन्द्रियों और विकलेन्द्रियों में से प्रत्येक के ९२, ८८, ८६, ८० और ७८ प्रकृतिक, ये पाँच-पाँच सत्तास्थान हैं तथा पंचेन्द्रियों के बारहों ही सत्तास्थान होते हैं।

इस प्रकार एकेन्द्रिय आदि में से प्रत्येक के बंध, उदय और सत्ता स्थानों को बतलाकर अब इनके संवेध का विचार करते हैं।

एकेन्द्रिय—२३ प्रकृतियों का बंध करने वाले एकेन्द्रियों के प्रारम्भ के चार उदयस्थानों में से प्रत्येक उदयस्थान में पाँच-पाँच सत्तास्थान होते हैं तथा २७ प्रकृतिक उदयस्थान में ७८ को छोड़कर शेष चार सत्तास्थान होते हैं। इसी प्रकार २५, २६, २९ और ३० प्रकृतिक बंधस्थानों के भी उदयस्थानों की अपेक्षा सत्तास्थान जानना चाहिये। इस प्रकार २३ प्रकृतिक बंधस्थान में पांच उदयस्थानों की अपेक्षा प्रत्येक में २४ सत्तास्थान होते हैं, जिनका कुल जोड़ १२० है। ये सब सत्तास्थान एकेन्द्रिय के हैं।

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२३ प्रकृतिक	४	२१	५	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२४	११	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२५	७	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२६	१३	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२७	६	९२, ८८, ८६, ८०
२५ प्रकृतिक	२५	२१	५	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२४	११	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२५	७	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२६	१३	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२७	६	९२, ८८, ८६, ८०

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२६ प्रकृतिक	१६	२१	५	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२४	११	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२५	७	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२६	१३	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२७	६	९२, ८८, ८६, ८०
२९ प्रकृतिक	९२४०	२१	५	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२४	११	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२५	७	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२६	१३	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२७	६	९२, ८८, ८६, ८०
३० प्रकृतिक	४६३२	२१	५	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२४	११	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२५	७	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२६	१३	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२७	६	९२, ८८, ८६, ८०

विकलेन्द्रिय—विकलेन्द्रियों में २३ का बन्ध करने वाले जीवों में २१ और २६ प्रकृतियों के उदय में पाँच-पाँच उदयस्थान होते हैं तथा शेष चार उदयस्थानों में से प्रत्येक में ७८ के बिना चार-चार सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार २३ प्रकृतिक बन्धस्थान में २६ सत्तास्थान हुए। इसी प्रकार २५, २६, २९ और ३० प्रकृतिक बन्धस्थानों में भी अपने-अपने उदयस्थानों की अपेक्षा २६-२६ सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार विकलेन्द्रियों में पाँच बन्धस्थान में छह उदयस्थानों के कुल मिलाकर १३० सत्तास्थान होते हैं।

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२३	४	२१	६	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
अप्रकृतिक		२५	६	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२७	६	९२, ८८, ८६, ८०
		२९	१२	९२, ८८, ८६, ८०
		३०	१८	९२, ८८, ८६, ८०
		३१	१२	९२, ८८, ८६, ८०
२५	२५	२१	६	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
प्रकृतिक		२६	६	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२८	६	९२, ८८, ८६, ८०
		२९	१२	९२, ८८, ८६, ८०
		३०	१८	९२, ८८, ८६, ८०
		३१	१२	९२, ८८, ८६, ८०
२६	१६	२१	६	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
प्रकृतिक		२६	६	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२८	६	९२, ८८, ८६, ८०
		२९	१२	९२, ८८, ८६, ८०
		३०	१८	९२, ८८, ८६, ८०
		३१	१२	९२, ८८, ८६, ८०
२९	९२४०	२१	६	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
प्रकृतिक		२६	६	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२८	६	९२, ८८, ८६, ८०
		२९	१२	९२, ८८, ८६, ८०
		३०	१८	९२, ८८, ८६, ८०
		३१	१२	९२, ८८, ८६, ८०
३०	४६३२	२१	६	९२, ८८, ८६, ८०,७८
प्रकृतिक		२६	६	९२, ८८, ८६, ८०,७८
		२८	६	९२, ८८, ८६, ८०
		२९	१२	९२, ८८, ८६, ८०
		३०	१८	९२, ८८, ८६, ८०
		३१	१२	९२, ८८, ८६, ८०

पंचेन्द्रिय—पंचेन्द्रियों में २३ प्रकृतियों का बन्ध करने वाले के २१, २५, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, ये छह उदयस्थान होते हैं। इनमें से २१ और २५ प्रकृतिक उदयस्थानों में पूर्वोक्त पाँच-पाँच और शेष चार उदयस्थानों में ७८ के बिना चार-चार सत्तास्थान होते हैं। कुल मिलाकर यहाँ २६ सत्तास्थान हैं।

२५ और २६ का बन्ध करने वाले के २१, २५, २६, २७, २८, २९, ३० और ३१ प्रकृतिक, ये आठ-आठ उदयस्थान होते हैं। इनमें से २१ और २६ प्रकृतिक, इन दो उदयस्थानों में से प्रत्येक में पाँच-पाँच सत्तास्थान पहले बताये गये अनुसार ही होते हैं। २५ और २७ इन दो में ९२ और ८८ ये दो-दो सत्तास्थान तथा शेष २८ आदि चार उदयस्थानों में ७८ के बिना चार-चार सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार २५ और २६ प्रकृतिक बन्धस्थानों में से प्रत्येक में ३०-३० सत्तास्थान होते हैं।

२८ प्रकृतियों का बन्ध करने वाले के २१, २५, २६, २७, २८, २९ ३० और ३१ प्रकृतिक, ये आठ उदयस्थान होते हैं। ये सब उदयस्थान तिर्यंच पंचेन्द्रिय और मनुष्यों संबंधी लेना चाहिये। क्योंकि २८ का बन्ध इन्हीं के होता है। यहाँ २१ से लेकर २९ तक छह उदयस्थानों में से प्रत्येक में ९२ और ८८ प्रकृतिक ये दो-दो सत्तास्थान होते हैं। ३० के उदय में ९२, ८९, ८८ और ८६ प्रकृतिक, ये चार सत्तास्थान होते हैं। जिनमें से ८९ की सत्ता उस मनुष्य के जानना चाहिये जो तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता के साथ मिथ्यादृष्टि होते हुए नरकगति के योग्य २८ प्रकृतियों का बन्ध करता है तथा ३१ के उदय में ९२, ८८ और ८६, ये तीन सत्तास्थान होते हैं। ये तीनों सत्तास्थान तिर्यंच पंचेन्द्रिय की अपेक्षा समझना चाहिये, क्योंकि अन्यत्र पंचेन्द्रिय के ३१ का उदय नहीं होता है। उसमें भी ८६ प्रकृतिक सत्तास्थान मिथ्यादृष्टि तिर्यंच पंचेन्द्रियों के होता है, सम्यग्दृष्टि तिर्यंच पंचेन्द्रिय के नहीं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि तिर्यंचों के नियम से देवद्विक का बन्ध होने लगता

है अतः उनके ८६ प्रकृतियों की सत्ता सम्भव नहीं है। इस प्रकार २८ प्रकृतिक बन्धस्थान में कुल १६ सत्तास्थान होते हैं।

२६ प्रकृतियों का बन्ध करने वाले के ये पूर्वोक्त आठ उदयस्थान होते हैं। इनमें से २१ और २६ प्रकृतियों के उदय में ६२, ८८, ८६, ८०, ७८, ६३ और ८६ प्रकृतिक ये सात-सात सत्तास्थान होते हैं। यहाँ तिर्यंचगतिप्रायोग्य २६ का बन्ध करने वालों के प्रारम्भ के पाँच, मनुष्यगतिप्रायोग्य २६ का बन्ध करने वालों के प्रारम्भ के चार और देवगतिप्रायोग्य २६ का बन्ध करने वालों के अंतिम दो सत्तास्थान होते हैं। २८, २६ और ३० के उदय में ७८ के बिना पूर्वोक्त छह-छह सत्तास्थान होते हैं। ३१ के उदय में प्रारम्भ के चार और २५ तथा २७ के उदय में ६३, ६२, ८६ और ८८ प्रकृतिक, ये चार-चार सत्तास्थान होते हैं। इस प्रकार २६ प्रकृतिक बन्धस्थान में कुल ४४ सत्तास्थान होते हैं।

३० प्रकृतियों का बन्ध करने वाले के २६ के बन्ध के समान वे ही आठ उदयस्थान और प्रत्येक उदयस्थान में उसी प्रकार सत्तास्थान होते हैं। किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि २१ के उदय में पहले पाँच सत्तास्थान तिर्यंचगतिप्रायोग्य ३० का बन्ध करने वाले के होते हैं और अंतिम दो सत्तास्थान मनुष्यगतिप्रायोग्य ३० का बन्ध करने वाले देवों के होते हैं तथा २६ के उदय में ६३ और ८६ प्रकृतिक, ये दो सत्तास्थान नहीं होते हैं, क्योंकि २६ का उदय तिर्यंच और मनुष्यों के अपर्याप्त अवस्था में होता है परन्तु उस समय देवगतिप्रायोग्य या मनुष्यगतिप्रायोग्य ३० का बन्ध नहीं होता है, जिससे यहाँ ६३ और ८६ की सत्ता प्राप्त नहीं होती है। इस प्रकार ३० प्रकृतिक बन्धस्थान में कुल ४२ सत्तास्थान प्राप्त होते हैं।

३१ और १ प्रकृति का बन्ध करने वाले के उदयस्थानों और सत्तास्थानों का संवेध मनुष्यगति के समान जानना चाहिये।

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२३ प्रकृतिक	४	२१	१८	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२६	५१८	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२८	११५२	९२, ८८, ८६, ८०
		२९	१७२८	९२, ८८, ८६, ८०
		३०	१८८०	९२, ८८, ८६, ८०
		३१	११५२	९२, ८८, ८६, ८०
२५ प्रकृतिक	२५	२१	२६	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२५	८	९२, ८८
		२६	५७८	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२७	८	९२, ८८
		२८	११६८	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२९	१७४४	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		३०	२८८८	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		३१	११५२	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
२६ प्रकृतिक	१६	२१	२६	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२५	८	९२, ८८
		२६	५७८	९२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२७	८	९२, ८८
		२८	११६८	९२, ८८, ८६, ८०
		२९	१७४४	९२, ८८, ८६, ८०
		३०	२८८८	९२, ८८, ८६, ८०
		३१	११५६	९२, ८८, ८६, ८०

बंधस्थान	भंग	उदयस्थान	भंग	सत्तास्थान
२८ प्रकृतिक	६	२१	१६	६२, ८८
		२५	८	६२, ८८
		२६	५७३	६२, ८८
		२७	८	६२, ८८
		२८	११५६	६२, ८८
		२९	१७२८	६२, ८८
		३०	२८८०	६२, ८९, ८८, ८६
		३१	११५६	६२, ८८, ८६
२९ प्रकृतिक	६२४८	२१	२७	६२, ८८, ८६, ८०, ७८, ६३, ८९
		२५	६	६३, ६२, ८९, ८८
		२६	५७८	६२, ८८, ८६, ८०, ७८, ६३, ८९
		२७	६	६३, ६२, ८९, ८८
		२८	११६९	६३, ६२, ८९, ८८, ८६, ८०
		२९	१७४५	६३, ६२, ८९, ८८, ८६, ८०
		३०	२८८८	६३, ६२, ८९, ८८, ८६, ८०
		३१	११५६	६२, ८८, ८६, ८०
३० प्रकृतिक	४६४१	२१	२७	६३, ६२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७८
		२५	६	८९, ६२, ८९, ८८
		२६	५७६	६२, ८८, ८६, ८०, ७८
		२७	६	६३, ६२, ८९, ८८
		२८	११६९	६३, ६२, ८९, ८८, ८६, ८०
		२९	१७४५	६३, ६२, ८९, ८८, ८६, ८०
		३०	२८८८	६३, ६२, ८९, ८८, ८६, ८०
		३१	११५६	६३, ६२, ८९, ८८, ८०
३१ प्रकृतिक	१	३०	१४४	६३
१ प्रकृतिक	१	३०	१४४	६३, ६२, ८९, ८८, ८०, ७९, ७६, ७५

इस प्रकार इन्द्रिय मार्गणा की अपेक्षा नामकर्म के बंध, उदय और सत्ता स्थानों तथा उनके संवेधों का कथन जानना चाहिये।

अब आगे की गाथा में बंध आदि स्थानों के आठ अनुयोगद्वारों में कथन करने का संकेत करते हैं--

इय कम्मपगइठाणाइं सुट्ठु बंधुदयसंतकम्माणं।
गइआइएहिं अट्ठसु चउप्पगारेण नेयाणि ॥५३॥

शब्दार्थ--**इय**--पूर्वोक्त प्रकार से, **कम्मपगइठाणाइं**--कर्म प्रकृतियों के स्थानों को, **सुट्ठु**--अत्यन्त उपयोगपूर्वक, **बंधुदयसंत-कम्माणं**--बंध, उदय और सत्ता सम्बन्धी कर्म प्रकृतियों के, **गइ-आइएहिं**--गति आदि मार्गणास्थानों के द्वारा, **अट्ठसु**--आठ अनुयोगद्वारों में, **चउप्पगारेण**--चार प्रकार से, **नेयाणि**--जानना चाहिये।

गाथार्थ--ये पूर्वोक्त बंध, उदय और सत्ता सम्बन्धी कर्म प्रकृतियों के स्थानों को अत्यन्त उपयोगपूर्वक गति आदि मार्गणास्थानों के साथ आठ अनुयोगद्वारों में चार प्रकार से जानना चाहिये।

विशेषार्थ--इस गाथा से पूर्व तक ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृतियों के बंध, उदय और सत्ता स्थानों का सामान्य रूप से तथा जीवस्थान, गुणस्थान, गतिमार्गणा और इन्द्रियमार्गणा में निर्देश किया है। लेकिन इस गाथा में कुछ विशेष संकेत करते हैं कि जैसा पूर्व में गति आदि मार्गणाओं में कथन किया गया है, उसके साथ उनको आठ अनुयोगद्वारों में घटित कर लेना चाहिये। इसके साथ यह भी संकेत किया है कि सिर्फ प्रकृतिबंध रूप नहीं किन्तु 'चउप्पगारेण नेयाणि' प्रकृतिबंध के साथ स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप से भी घटित करना चाहिये। क्योंकि ये बंध, उदय और

सत्ता रूप सब कर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार-चार प्रकार के हैं।

इन चारों प्रकार रूप कर्मों को किन में और किसके द्वारा घटित करने के लिए गाथा में संकेत किया है कि—गइआइएसु मग्गणठाणेसु गुणेसु। गति आदि चौदह मार्गणाओं के द्वारा आठ अनुयोगद्वारों में इनका चिन्तन करना है।

मार्गणा शब्द का अर्थ अन्वेषण करना है। अतः मार्गणा का यह अर्थ हुआ कि जिनके द्वारा या जिनमें जीवों का अन्वेषण किया जाता है, उन्हें मार्गणा कहते हैं। मार्गणा के चौदह भेद इस प्रकार हैं—

गइ इंदिए य काए जोए वेए कसाय नाणे य।
संजम दंसण लेसा भव सम्मे सन्नि आहारे॥

१ गति, २ इन्द्रिय, ३ काय, ४ योग, ५ वेद, ६ कषाय, ७ ज्ञान, ८ संयम, ९ दर्शन, १० लेश्या, ११ भव्यत्व, १२ सम्यक्त्व, १३ संज्ञी और १४ आहार। इनके १४ भेदों के उत्तर भेद ६२ होते हैं।

वर्णन की यह परम्परा है कि जीव सम्बन्धी जिस किसी भी अवस्था का वर्णन करना है, उसका पहले सामान्य रूप से वर्णन किया जाता है और उसके बाद उसका विशेष चिन्तन चौदह मार्गणाओं द्वारा आठ अनुयोगद्वारों में किया जाता है। अनुयोगद्वार यह अधिकार का पर्यायवाची नाम है और विषय-विभाग की दृष्टि से ये अधिकार हीनाधिक भी किये जा सकते हैं। परन्तु मार्गणाओं का विस्तृत विवेचन मुख्य रूप से आठ अधिकारों में ही पाया जाता है, अतः मुख्य रूप से आठ ही लिये जाते हैं। इन आठ अधिकारों के नाम इस प्रकार हैं—

संत पयपरूवणया दव्वपमाणं च खित्तफुसणा य।
कालो य अंतरं भाग भाव अप्पा बहुं चेव[1]॥

---

१ आवश्यक निर्युक्ति गा० १३

१ सत्, २ संख्या, ३ क्षेत्र, ४ स्पर्शन, ५ काल, ६ अन्तर, ७ भाव और ८ अल्पबहुत्व। इन अधिकारों का अर्थ इनके नामों से ही स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् सत् अनुयोगद्वार में यह बताया जाता है कि विवक्षित धर्म किन मार्गणाओं में है और किन में नहीं है। संख्या अनुयोगद्वार में उस विवक्षित धर्म वाले जीवों की संख्या बतलाई जाती है। क्षेत्र अनुयोगद्वार में विवक्षित धर्म वाले जीवों का वर्तमान निवास-स्थान बतलाया जाता है। स्पर्शन अनुयोगद्वार में उन विवक्षित धर्म वाले जीवों ने जितने क्षेत्र का पहले स्पर्श किया हो, अब कर रहे हैं और आगे करेंगे उस सबका समुच्चय रूप से निर्देश किया जाता है। काल अनुयोगद्वार में विवक्षित धर्म वाले जीवों की जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति का विचार किया जाता है। अन्तर शब्द का अर्थ विग्रह या व्यवधान है अतः अन्तर अनुयोगद्वार में यह बताया जाता है कि विवक्षित धर्म का सामान्य रूप से या किस मार्गणा में कितने काल तक अन्तर रहता है या नहीं रहता है। भाव अनुयोग-द्वार में उस विवक्षित धर्म के भाव का तथा अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार में उसके अल्पबहुत्व का विचार किया जाता है।

यद्यपि गाथा में सिर्फ इतना संकेत किया गया है कि इसी प्रकार बंध, उदय और सत्ता रूप कर्मों का तथा उनके अवान्तर भेद-प्रभेदों का प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप से गति आदि मार्गणाओं के द्वारा आठ अनुयोगद्वारों में विवेचन कर लेना चाहिये जैसा कि पहले वर्णन किया गया है। लेकिन इस विषय में टीकाकार आचार्य मलयगिरि का वक्तव्य है कि 'यद्यपि आठों कर्मों के सत् अनुयोगद्वार का वर्णन गुणस्थानों में सामान्य रूप से पहले किया ही गया है और संख्या आदि सात अनुयोगद्वारों का व्याख्यान कर्मप्रकृति प्राभृत ग्रंथों को देखकर करना चाहिये। किन्तु कर्मप्रकृति प्राभृत आदि ग्रंथ वर्तमान काल में उपलब्ध नहीं हैं, इसलिये इन संख्यादि अनुयोग-

द्वारों का व्याख्यान करना कठिन है। फिर भी जो प्रत्युत्पन्नमति विद्वान हैं वे पूर्वापर सम्बन्ध को देखकर उनका व्याख्यान करें।

टीकाकार आचार्यश्री के उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गाथा में जिस विषय की सूचना दी गई है उस विषय का प्रतिपादन करने वाले ग्रंथ वर्तमान में नहीं पाये जाते हैं। फिर भी विभिन्न ग्रन्थों की सहायता से मार्गणाओं में आठ कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृतियों के बंध, उदय और सत्ता स्थानों के संवेध का विवरण नीचे लिखे अनुसार जानना चाहिये। पहले ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, आयु, गोत्र और अंतराय इन छह कर्मों के बंध आदि स्थानों का निर्देश करने के बाद मोहनीय व नाम कर्म के बंधादि स्थानों को बतलायेंगे।

मार्गणाओं में ज्ञानावरण आदि छह कर्मों के बंध आदि स्थानों का विवरण इस प्रकार है—

क्रम सं०	मार्गणा नाम	मूल प्रकृति अंक ७	ज्ञाना० अंक ५	दर्शना० अंक ९	वेदनीय अंक ८	आयु० अंक २८	गोत्र अंक ७	अंतराय अंक ५
१	नरकगति	२	१	४	४	५	२	१
२	तिर्यंचगति	२	१	४	४	९	३	१
३	मनुष्यगति	७	२	११	८	९	६	२
४	देवगति	२	१	४	४	५	४	१
५	एकेन्द्रिय	२	१	२	४	५	३	१
६	द्वीन्द्रिय	२	१	२	४	५	३	१
७	त्रीन्द्रिय	२	१	२	४	५	३	१
८	चतुरिन्द्रिय	२	१	२	४	५	३	१
९	पंचेन्द्रिय	७	२	११	८	२८	७	२
१०	पृथ्वीकाय	२	१	२	४	५	३	१
११	अप्काय	२	१	२	४	५	३	१
१२	तेजःकाय	२	१	२	४	३	२	१
१३	वायुकाय	२	१	२	४	३	२	१

क्रम सं०	मार्गणा नाम	मूल प्रकृति संग ७	ज्ञाना० संग २	दर्शना० संग ११	वेदनीय संग ८	आयु० संग २८	गोत्र संग ७	अंतराय संग २
१४	वनस्पतिकाय	७ २	१	१ २	८	२८	७	२
१५	त्रसकाय	७	२	११	८	२८	७	२
१६	मनोयोग	७	२	११	८	२८	७	२
१७	वचनयोग	७	२	११	८	२८	७	२
१८	काययोग	७	२	११	८	२८	७	२
१९	स्त्रीवेद	७	२	११	८	२८	७	२
२०	पुरुषवेद	७	२	११	८	२८	७	२
२१	नपुंसकवेद	७	२	११	८	२८	७	२
२२	क्रोध	७	२	११	८	२८	७	२
२३	मान	७	२	११	८	२८	७	२
२४	माया	७	२	११	८	२८	७	२
२५	लोभ	७	२	११	८	२८	७	२
२६	मतिज्ञान	५	२	९	८	२८	७	२
२७	श्रुतज्ञान	५	२	९	८	२८	७	२
२८	अवधिज्ञान	५	२	९	८	२८	७	२
२९	मनःपर्ययज्ञान	५	२	९	८	२८	७	२
३०	केवलज्ञान	४	२	९	८	२८	७	२
३१	मत्यज्ञान	५	२	९	८	२८	७	२
३२	श्रुताज्ञान	५	२	९	८	२८	७	२
३३	विभंगज्ञान	५	२	९	८	२८	७	२
३४	सामायिक	५	२	९	८	२८	७	२
३५	छेदोपस्थापन	५	२	९	८	२८	७	२
३६	परिहारविशुद्धि	५	२	९	८	२८	७	२
३७	सूक्ष्मसंपराय	४	२	९	८	२८	७	२
३८	यथाख्यात	४	२	९	८	२८	७	२
३९	देशविरत	५	२	९	८	२८	७	२
४०	अविरत	७	२	९	८	२८	७	२
४१	चक्षुदर्शन	७	२	९	८	२८	७	२
४२	अचक्षुदर्शन	७	२	९	८	२८	७	२
४३	अवधिदर्शन	७	२	९	८	२८	७	२
४४	केवलदर्शन	४	२	९	८	२८	७	२

क्रम सं०	मार्गणा नाम	मूल प्रकृति भंग ७	ज्ञाना० भंग २	दर्शना० भंग १२	वेदनीय भंग ८	आयु० भंग १५	गोत्र भंग ७	अंतराय भंग २
४५	कृष्णलेश्या	२	१	४	४	२८	५	१
४६	नीललेश्या	२	१	४	४	२८	५	१
४७	कापोत लेश्या	२	१	४	४	२८	५	१
४८	तेजोलेश्या	२	१	४	४	२१	४	१
४९	पद्मलेश्या	२	१	४	४	२१	४	१
५०	शुक्ललेश्या	६	२	११	४	१६/२१	५	२
५१	भव्यत्व	७	२	१२	८	२८	७	२
५२	अभव्यत्व	२	१	२	४	२८	५	१
५३	उपशम सम्यक्त्व	३	२	६	४	१६	३	२
५४	क्षायिक ,,	७	२	९	८	१५	४	२
५५	क्षायोपशमिक	२	१	२	४	२०	२	१
५६	मिश्र ,,	१	१	२	४	१६	२	१
५७	सासादन ,,	१	१	२	४	२६	४	१
५८	मिथ्यात्व ,,	२	१	२	४	२८	५	१
५९	संज्ञी	७/५	२	१२	८	२८	७	२
६०	असंज्ञी	२	१	२	४	२४	३	१
६१	आहारी	६	२	११	८	२८	६	२
६२	अनाहारी	३	१/०	४/०	८	४	७	१

मार्गणाओं में मोहनीय और नाम कर्म के बंध, उदय, सत्ता के संवेध भंगों का विवरण संलग्न चार्टों में देखिए।

अब आगे की गाथा में उदय से उदीरणा की विशेषता बतलाते हैं—

उदयस्सुदीरणाए सामित्ताओ न विज्जइ विसेसो।[1]
मोत्तूण य इगुयालं सेसाणं सव्वपगईणं ॥५४॥

---

१ तुलना कीजिये —

(क) उदओ उदीरणाए तुल्लो मोत्तूण एकचत्तालं।
आवरणविग्घसंजलण लोभवेए यदिट्ठिदुगं ॥—कर्मप्रकृति उदया० गा०

(ख) उदयस्सुदीरणस्स य सामित्तादो ण विज्जदि विसेसो।
—गो० कर्मकांड गा० २७८

शब्दार्थ—उदयस्स—उदय के, उदीरणाए—उदीरणा के, सामित्ताओ—स्वामित्व में, न विज्जइ—नहीं है, विसेसो—विशेषता, मोत्तूण—छोड़कर, य—और, इगुयालं—इकतालीस प्रकृतियों की, सेसाणं—बाकी की, सव्वपगईणं—सभी प्रकृतियों के।

गाथार्थ—इकतालीस प्रकृतियों के सिवाय शेष सब प्रकृतियों के उदय और उदीरणा के स्वामित्व में कोई विशेषता नहीं है।

विशेषार्थ—ग्रंथ में [illegible] उदयस्थान और सत्तास्थानों के साथ इन सबके संवेध का विचार किया गया। लेकिन उदय व उदीरणा में यथासम्भव समानता होने से उसका विचार नहीं किये जाने के कारण को स्पष्ट करने के लिये इस गाथा में बताया गया है कि उदय और उदीरणा में यद्यपि अन्तर नहीं है, लेकिन इतनी विशेषता है कि इकतालीस कर्म प्रकृतियों के उदय और उदीरणा में भिन्नता है। इसलिये उदययोग्य १२२ प्रकृतियों में से ४१ प्रकृतियों को छोड़कर शेष ८१ प्रकृतियों के उदय और उदीरणा में समानता जाननी चाहिये।

उदय और उदीरणा के लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं कि काल-प्राप्त कर्म परमाणुओं के अनुभव करने को उदय कहते हैं और उदयावलि के बाहर स्थित कर्म परमाणुओं को कषाय सहित या कषाय रहित योग संज्ञा वाले वीर्य विशेष के द्वारा उदयावलि में लाकर उनका उदयप्राप्त कर्म परमाणुओं के साथ अनुभव करना उदीरणा कहलाता है।[1] इस प्रकार कर्म परमाणुओं का अनुभवन

---

१ इह कालप्राप्तानां परमाणूनामनुभवनमुदयः, अकालप्राप्तानामुदयावलिकाबहिःस्थितानां कषायसहितेनासहितेन वा योगसंज्ञकेन वीर्यविशेषेण समाकृष्योदयप्राप्तैः कर्मपरमाणुभिः सहानुभवनमुदीरणा।

—सप्ततिका प्रकरण टीका पृ०, २४२

उदय और उदीरणा में समान है। फिर भी दोनों में कालप्राप्त और अकालप्राप्त कर्म परमाणुओं के अनुभवन का अंतर है। अर्थात् उदय में कालप्राप्त कर्म परमाणु रहते हैं तथा उदीरणा में अकालप्राप्त कर्म परमाणु रहते हैं। तो भी सामान्य नियम यह है कि जहाँ जिस कर्म का उदय रहता है वहाँ उसकी उदीरणा अवश्य होती है।[1]

लेकिन इसके सात अपवाद हैं। वे अपवाद इस प्रकार जानने चाहिये—

१. जिनका स्वोदय से सत्वनाश होता है उनका उदीरणा-विच्छेद एक आवलिकाल पहले ही हो जाता है और उदय-विच्छेद एक आवलिकाल बाद होता है।
२. वेदनीय और मनुष्यायु की उदीरणा छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ही होती है। जबकि इनका उदय अयोगिकेवली गुणस्थान तक होता है।
३. जिन प्रकृतियों का अयोगिकेवली गुणस्थान में उदय है, उनकी उदीरणा सयोगिकेवली गुणस्थान तक ही होती है।
४. चारों आयुकर्मों का अपने-अपने भव की अंतिम आवलि में उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती है।
५. निद्रादि पांच का शरीरपर्याप्ति के बाद इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने तक उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती है।
६. अंतरकरण करने के बाद प्रथमस्थिति में एक आवली काल शेष रहने पर मिथ्यात्व का, क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले के सम्यक्त्व का और उपशमश्रेणि में जो जिस वेद के उदय से उपशमश्रेणि पर चढ़ा है उसके उस वेद का उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती है।

---

१ जत्थ उदओ तत्थ उदीरणा, जत्थ उदीरणा तत्थ उदओ।

७. उपशमश्रेणि के सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में भी एक आवलि-काल शेष रहने पर सूक्ष्म लोभ का उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती है।

उक्त सात अपवादों वाली ४१ प्रकृतियां हैं, जिससे ग्रंथकार ने ४१ प्रकृतियों को छोड़कर शेष सब प्रकृतियों के उदय और उदीरणा में स्वामित्व की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं बतलाई है।

अब आगे की गाथा में उन ४१ प्रकृतियों को बतलाते हैं जिनके उदय और उदीरणा में विशेषता है।

नाणंतरायदसगं दंसणनव वेयणिज्ज मिच्छत्तं।
सम्मत्त लोभ वेयाऽऽउगाणि नवनाम उच्चं च ॥५५॥

शब्दार्थ—**नाणंतरायदसगं**—ज्ञानावरण और अंतराय की दस, **दंसणनव**—दर्शनावरण की नौ, **वेयणिज्ज**—वेदनीय की दो, **मिच्छत्तं**—मिथ्यात्व, **सम्मत्त**—सम्यक्त्व मोहनीय, **लोभ**—संज्वलन लोभ, **वेयाऽऽउगाणि**—तीन वेद और चार आयु, **नवनाम**—नाम कर्म की नौ प्रकृति, **उच्चं**—उच्चगोत्र, **च**—और।

गाथार्थ—ज्ञानावरण और अंतराय कर्म की कुल मिलाकर दस, दर्शनावरण की नौ, वेदनीय की दो, मिथ्यात्व मोहनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, संज्वलन लोभ, तीन वेद, चार आयु, नामकर्म की नौ, और उच्च गोत्र, ये इकतालीस प्रकृतियां हैं, जिनके उदय और उदीरणा में स्वामित्व की अपेक्षा विशेषता है।

विशेषार्थ—गाथा में उदय और उदीरणा में स्वामित्व की अपेक्षा विशेषता वाली इकतालीस प्रकृतियों के नाम बतलाये हैं। वे इकतालीस प्रकृतियां इस प्रकार हैं—ज्ञानावरण की मतिज्ञानावरण आदि पाँच, अंतराय की दानान्तराय आदि पाँच तथा दर्शनावरण की

चक्षुदर्शनावरण आदि चार, कुल मिलाकर इन चौदह प्रकृतियों की बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में एक आवलि काल शेष रहने तक उदय और उदीरणा बराबर होती रहती है। परन्तु एक आवलि काल के शेष रह जाने पर उसके बाद उक्त चौदह प्रकृतियों का उदय ही होता है किन्तु उदयावलिगत कर्मदलिक सब कारणों के अयोग्य होते हैं, इस नियम के अनुसार उनकी उदीरणा नहीं होती है।

शरीरपर्याप्ति से पर्याप्त हुए जीवों के शरीरपर्याप्ति के समाप्त होने के अनन्तर समय से लेकर जब तक इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तब तक दर्शनावरण की शेष निद्रा आदि पाँच प्रकृतियों का उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती है। इसके अतिरिक्त शेष काल में उनका उदय और उदीरणा एक साथ होती है और इनका विच्छेद[1] भी एक साथ होता है।

साता और असाता वेदनीय का उदय और उदीरणा प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक एक साथ होती है, किन्तु अगले गुणस्थानों में इनका उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती है। प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाले जीव के अन्तरकरण करने के पश्चात् प्रथमस्थिति में एक आवलि प्रमाण काल के शेष रहने पर मिथ्यात्व का उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती है तथा क्षायिक सम्यक्त्व को उत्पन्न करने वाले जिस वेदक सम्यग्दृष्टि जीव ने मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व का क्षय करके सम्यक्त्व की सर्वअपवर्तना के द्वारा अपवर्तना करके अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति शेष रखी है और उसके बाद उदय तथा

---

१ दिगम्बर परंपरा में निद्रा और प्रचला का उदय और सत्वविच्छेद क्षीणमोह गुणस्थान में एक साथ बतलाया है। इसलिये इस अपेक्षा से इनमें से जिस उदयगत प्रकृति की उदयव्युच्छित्ति और सत्वव्युच्छित्ति एक साथ होगी, उसकी उदयव्युच्छित्ति के एक आवलिकाल पूर्व ही उदीरणा व्युच्छित्ति हो जायेगी।

उदीरणा के द्वारा उसका अनुभव करते हुए जब एक आवलि स्थिति शेष रह जाती है तब सम्यक्त्व का उदय ही होता है उदीरणा नहीं होती है। संज्वलन लोभ का उदय और उदीरणा एक साथ होती है। जब सूक्ष्मसंपराय का समय एक आवलि शेष रहता तब आवलि मात्र काल में लोभ का उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती है।

तीन वेदों में से जिस वेद से जीव श्रेणि पर चढ़ता है, उसके अन्तरकरण करने के बाद उस वेद की प्रथमस्थिति में एक आवलि प्रमाण काल के शेष रहने पर उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती है। चारों ही आयुओं का अपने-अपने भव की अन्तिम आवलि प्रमाण काल के शेष रहने पर उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती। लेकिन मनुष्यायु में इतनी विशेषता है कि इसका प्रमत्तसंयत गुणस्थान के बाद उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती है।[1]

मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और तीर्थंकर ये नामकर्म की नौ प्रकृतियाँ हैं[2] और उच्च-गोत्र, इन दस प्रकृतियों का सयोगिकेवली गुणस्थान तक उदय और उदीरणा दोनों ही सम्भव हैं किन्तु अयोगिकेवली गुणस्थान में इनका उदय ही होता है, उदीरणा नहीं होती है।[3]

---

१ अन्यच्च मनुष्यायुषः प्रमत्तगुणस्थानकादूर्ध्वमुदीरणा न भवति किन्तूदय-एव केवलः।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २४२-२४३

२ मणुयगइजाइतसबादरं च पज्जत्तसुभगमाइज्जं।
जसकित्ती तित्थयरं नामस्स हवंति नव एया॥

३ ·····सयोगिकेवलिगुणस्थानकं यावद् युगपद् उदय-उदीरणे-अयोग्यव-स्थायां तूदय एव नोदीरणा।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २४३

इस प्रकार पिछली गाथा में उदय और उदीरणा में स्वामित्व की अपेक्षा जिन इकतालीस प्रकृतियों की विशेषता का निर्देश किया था। उन इकतालीस प्रकृतियों के नाम कारण सहित इस गाथा में बतलाये हैं कि इनकी उदीरणा क्यों नहीं होती है। अब आगे की गाथाओं में गुणस्थानों में प्रकृतियों के बंध को बतलाते हैं।

गुणस्थानों में प्रकृतियों का बंध

तित्थगराहारगविरहियाओ अज्जेइ सव्वपगईओ।
मिच्छत्तवेयगो सासणो वि इगुवीससेसाओ ॥५६॥

शब्दार्थ—**तित्थगराहारग**—तीर्थंकर नाम और आहारकद्विक, **विरहियाओ**—बिना, **अज्जेइ**—उपार्जित, बंध करता है, **सव्वपगईओ**—सभी प्रकृतियों का, **मिच्छत्तवेयगो**—मिथ्यादृष्टि, **सासणो**—सासादन गुणस्थान वाला, **वि**—भी, **इगुवीस**—उन्नीस, **सेसाओ**—शेष, बाकी की।

गाथार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव तीर्थंकर नाम और आहारकद्विक के बिना शेष सब प्रकृतियों का बंध करता है तथा सासादन गुणस्थान वाला उन्नीस प्रकृतियों के बिना शेष प्रकृतियों को बांधता है।

विशेषार्थ—गुणस्थान मिथ्यात्व, सासादन आदि चौदह हैं और ज्ञानावरण आदि आठ मूल कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ १४८ हैं। उनमें से बंधयोग्य प्रकृतियों की संख्या १२० मानी गई है। बंध की अपेक्षा १२० प्रकृतियों के मानने का मतलब यह नहीं है कि शेष २८ प्रकृतियाँ छोड़ दी जाती हैं। लेकिन इसका कारण यह है कि पाँच बंधन और पाँच संघातन, ये दस प्रकृतियाँ शरीर की अविनाभावी हैं, अतः जहाँ जिस शरीर का बंध होता है, वहाँ उस बंधन और संघातन का बंध अवश्य होता है। जिससे इन दस प्रकृतियों को अलग से नहीं गिनाया

जाता है। इस प्रकार १४८ में से दस प्रकृतियों को कम कर देने पर १३८ प्रकृतियाँ रह जाती हैं तथा वर्णचतुष्क के अवान्तर भेद २० हैं किन्तु बंध में अवान्तर भेदों की विवक्षा न करके मूल में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, ये चार प्रकृतियाँ ग्रहण की जाती हैं। अतएव १३८ में से २०—४=१६ घटा देने पर १२२ प्रकृतियाँ शेष रह जाती हैं। दर्शन मोहनीय की सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व, ये तीन प्रकृतियाँ हैं। उनमें से सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये दो प्रकृतियाँ बंध प्रकृतियाँ नहीं हैं। क्योंकि बंध मिथ्यात्व प्रकृति का होता है और जीव अपने सम्यक्त्व गुण के द्वारा ही मिथ्यात्व के दलिकों के तीन भाग बना देता है। इनमें से जो अत्यन्त विशुद्ध होता है उसे सम्यक्त्व और जो कम विशुद्ध होता है उसे सम्यग्मिथ्यात्व संज्ञा प्राप्त होती है और इन दोनों के अतिरिक्त शेष अशुद्ध भाग मिथ्यात्व कहलाता है। अतः १२२ में से सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियों को घटा देने पर शेष १२० प्रकृतियाँ बंधयोग्य मानी जाती हैं।

इन १२० प्रकृतियों में से किस गुणस्थान में कितनी-कितनी प्रकृतियों का बंध होता है, इसका विवेचन इस गाथा से प्रारम्भ किया गया है।

पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में बंधयोग्य प्रकृतियों को बतलाने के लिये गाथा में कहा है कि तीर्थंकरनाम और आहारकद्विक—आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग—इन तीन प्रकृतियों के सिवाय शेष ११७ प्रकृतियों का बंध होता है। इन तीन प्रकृतियों के बंध न होने का कारण यह है कि तीर्थंकरनाम का बंध सम्यक्त्व गुण के सद्भाव में और आहारकद्विक का बंध संयम के सद्भाव में होता है। किन्तु पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में न सम्यक्त्व है और न संयम। इसीलिये मिथ्यात्व गुणस्थान में उक्त तीन प्रकृतियों का बंध न होकर शेष ११७ प्रकृतियों का बंध होता है।

सासादन गुणस्थान में—'सासणो वि इगुवीस सेसाओ' उन्नीस प्रकृतियों के बिना शेष १०१ प्रकृतियों का बंध होता है। अर्थात् मिथ्यात्व गुण के निमित्त से जिन सोलह प्रकृतियों का बंध होता है, उनका सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का अभाव होने से बंध नहीं होता है। मिथ्यात्व के निमित्त से बंधने वाली सोलह प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं :

१ मिथ्यात्व, २ नपुंसकवेद, ३ नरकगति, ४ नरकानुपूर्वी, ५ नरकायु, ६ एकेन्द्रिय जाति, ७ द्वीन्द्रिय जाति, ८ त्रीन्द्रिय जाति, ९ चतुरिन्द्रिय जाति, १० हुंडसंस्थान, ११ सेवार्त संहनन, १२ आतप, १३ स्थावर, १४ सूक्ष्म, १५ साधारण और १६ अपर्याप्त। मिथ्यात्व से बंधने वाली ११७ प्रकृतियों में से उक्त १६ प्रकृतियों को घटा देने पर सासादन गुणस्थान में १०१ प्रकृतियों का बंध होता है।

इस प्रकार से पहले, दूसरे—मिथ्यात्व, सासादन—गुणस्थान में बंधयोग्य प्रकृतियों को बतलाने के बाद अब आगे की गाथा में तीसरे, चौथे आदि गुणस्थानों की बंधयोग्य प्रकृतियों की संख्या बतलाते हैं।

छायालसेस मीसो अविरयसम्मो तियालपरिसेसा।
सेवण्ण देसविरओ विरओ सगवण्णसेसाओ ॥५७॥

शब्दार्थ—**छायालसेस**—छियालीस के बिना, **मीसो**—मिश्र गुणस्थान में, **अविरयसम्मो**—अविरति सम्यग्दृष्टि में, **तियालपरिसेस**—तेतालीस के बिना, **सेवण्ण**—त्रेपन, **देसविरओ**—देशविरत, **विरओ**—प्रमत्तविरत, **सगवण्णसेसाओ**—सत्तावन के सिवाय शेष।

गाथार्थ—मिश्र गुणस्थान में छियालीस के बिना शेष प्रकृतियों का, अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में तेतालीस के बिना शेष प्रकृतियों का, देशविरत में तिरेपन के बिना और

प्रमत्तविरत में सत्तावन के बिना शेष प्रकृतियों का बंध होता है।

विशेषार्थ—पहले और दूसरे गुणस्थान में बंधयोग्य प्रकृतियों को पूर्व गाथा में बतलाया है। इस गाथा में मिश्र आदि चार गुणस्थानों की बंध प्रकृतियों का निर्देश करते हैं। जिनका विवरण नीचे लिखे अनुसार है :—

तीसरे मिश्र गुणस्थान में 'छायालसेस मीसो' बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से छियालीस प्रकृतियों को घटाने पर शेष रहीं १२०—४६ =७४ प्रकृतियों का बंध होता है। इसका कारण यह है कि दूसरे सासादन गुणस्थान तक अनन्तानुबंधी का उदय होता है, लेकिन तीसरे मिश्र गुणस्थान में अनन्तानुबंधी का उदय नहीं होता है। अतः अनन्तानुबन्धी के उदय से जिन २५ प्रकृतियों का बंध होता है, उनका यहाँ बंध नहीं है। अर्थात् तीसरे मिश्र गुणस्थान में सासादन गुणस्थान की बंधयोग्य १०१ प्रकृतियों से २५ प्रकृतियाँ और घट जाती हैं। वे २५ प्रकृतियाँ ये हैं—स्त्यानर्द्धित्रिक, अनन्तानुबंधीचतुष्क, स्त्रीवेद, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु, प्रथम और अन्तिम को छोड़कर मध्य के चार संस्थान, प्रथम और अन्तिम को छोड़कर मध्य के चार संहनन, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और नीच गोत्र। इसके अतिरिक्त यह नियम है कि मिश्र गुणस्थान में किसी भी आयु का बंध नहीं होता है अतः यहाँ मनुष्यायु और देवायु, ये दो आयु और कम हो जाती हैं। मनुष्यायु और देवायु, इन दो आयुयों को घटाने का कारण यह है कि नरकायु का बंधविच्छेद पहले और तिर्यंचायु का बंधविच्छेद दूसरे गुणस्थान में हो जाता है। अतः आयु कर्म के चारों भेदों में से शेष रही मनुष्यायु और देवायु, इन दो प्रकृतियों को ही यहाँ कम किया जाता है। इस प्रकार सासा-

दन गुणस्थान में नहीं बँधने वाली १६ प्रकृतियों में इन २५+२=२७ प्रकृतियों को मिला देने पर ४६ प्रकृतियां होती हैं जिनका मिश्र गुणस्थान में बंध नहीं होता है। किन्तु १२० प्रकृतियों में से ४६ प्रकृतियों के सिवाय शेष रही ७४ प्रकृतियों का बंध होता है।

चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ४३ प्रकृतियों के बिना शेष ७७ प्रकृतियों का बंध होता है—'अविरयसम्मो तियालपरिसेसा।' इसका कारण यह है कि अविरतसम्यग्दृष्टि जीव के मनुष्यायु, देवायु और तीर्थंकर नाम, इन तीन प्रकृतियों का बंध सम्भव है। अतः यहाँ बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से ४६ न घटाकर ४३ प्रकृतियां ही घटाई हैं। इस प्रकार अविरतिसम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का बंध बतलाया है।

देशविरत नामक पाँचवें गुणस्थान में ५३ के बिना ६७ प्रकृतियों का बंध बतलाया है—'तेवण्ण देसविरओ'। इसका अर्थ यह है कि अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से जिन दस प्रकृतियों का बंध अविरतसम्यग्दृष्टि जीव के होता है, अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न होने से उनका यहाँ बंध नहीं होता है। अतः चौथे गुणस्थान में कम की गई ४३ प्रकृतियों में १० प्रकृतियों को और जोड़ देने पर देशविरत गुणस्थान में बंध के अयोग्य ५३ प्रकृतियां हो जाती हैं और इनके अतिरिक्त शेष रहीं ६७ प्रकृतियों का बंध होता है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से बँधने वाली १० प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं— अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग और वज्रऋषभनाराच संहनन।

छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान में ५७ के बिना ६३ प्रकृतियों का बंध होता है। इसका आशय यह है कि प्रत्याख्यानावरण के उदय से जिन

प्रत्याख्यानावरणचतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ) का बंध देश-विरत गुणस्थान तक होता था, उनका प्रमत्तविरत गुणस्थान में बंध नहीं होता है। अतः जिन ५३ प्रकृतियों को देशविरत गुणस्थान में बंधने के अयोग्य बतलाया है, उनमें इन चार प्रकृतियों के और मिला देने पर प्रमत्तविरत गुणस्थान में ५७ प्रकृतियाँ बंध के अयोग्य होती हैं—'विरओ सगवण्णसेसाओ।' इसलिये प्रमत्तविरत गुणस्थान में ६३ प्रकृतियों का बंध होता है।

अब आगे की गाथा में सातवें और आठवें गुणस्थान में बंध प्रकृतियों की संख्या का निर्देश करते हैं।

इगुसट्ठिमप्पमत्तो बंधइ देवाउयस्स इयरो वि।
अट्ठावण्णमपुव्वो छप्पण्णं वा वि छव्वीसं ॥५८॥

शब्दार्थ—**इगुसट्ठि**—उनसठ प्रकृतियों को, **अप्पमत्तो**—अप्रमत्तसंयत, **बंधइ**—बंध करता है, **देवाउयस्स**—देवायु का बंधक, **इयरो वि**—अप्रमत्त भी, **अट्ठावण्णं**—अट्ठावन, **अपुव्वो**—अपूर्वकरण गुणस्थान वाला, **छप्पण्णं**—छप्पन, **वा वि**—अथवा भी, **छव्वीसं**—छब्बीस।

गाथार्थ—अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीव उनसठ प्रकृतियों का बंध करता है। यह देवायु का भी बंध करता है। अपूर्वकरण गुणस्थान वाला अट्ठावन, छप्पन अथवा छब्बीस प्रकृतियों का बंध करता है।

विशेषार्थ—इस गाथा में सातवें अप्रमत्तसंयत और आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में बंधयोग्य प्रकृतियों की संख्या का निर्देश किया है। लेकिन यहाँ कथन शैली की यह विशेषता है कि पिछली गाथाओं में तो किस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध नहीं होता है—इसको मुख्य मानकर बंध प्रकृतियाँ बतलाई थीं किन्तु इस गाथा से उस क्रम को बदल कर यह बतलाया है कि किस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों

का बंध होता है। अतः अब गाथा के संकेतानुसार गुणस्थानों में बंध प्रकृतियों की संख्या का निर्देश करते हैं।

सातवें अप्रमत्तविरत गुणस्थान में उनसठ प्रकृतियों का बंध होता है—'इगुसट्ठिपमत्तजया'। यह तो पहले बतलाया जा चुका है कि छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान में ६३ प्रकृतियों का बंध होता है, उनमें से असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयशःकीर्ति, इन छह प्रकृतियों का सातवें गुणस्थान में बंध नहीं होता है, छठे गुणस्थान तक बंध होता है। अतः पूर्वोक्त ६३ प्रकृतियों में से इन ६ प्रकृतियों को कम कर देने पर ५७ प्रकृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन इस गुणस्थान में आहारकद्विक का बंध होता है जिससे ५७ में २ प्रकृतियों को और मिला देने पर अप्रमत्तसंयत के ५९ प्रकृतियों का बंध कहा गया है।

उक्त ५९ प्रकृतियों में देवायु भी सम्मिलित है लेकिन ग्रन्थकार ने अप्रमत्तसंयत देवायु का भी बंध करता है—'बंधइ देवाउयस्स इयरो वि'—इस प्रकार पृथक से निर्देश किया है। उसका अभिप्राय यह है कि देवायु के बंध का प्रारम्भ प्रमत्तसंयत ही करता है फिर भी वह बीच देवायु का बंध करते हुए अप्रमत्तसंयत भी हो जाता है और इस प्रकार अप्रमत्तसंयत भी देवायु का बंधक होता है। परन्तु इससे कोई यह न समझे कि अप्रमत्तसंयत भी देवायु के बंध का प्रारम्भ करता है। 'अप्रमत्तसंयत देवायु के बंध का प्रारम्भ करता है।' यदि यह अभिप्राय लिया जाता है तो ऐसा सोचना उचित नहीं है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये ग्रंथकार ने 'अप्रमत्तसंयत भी देवायु का बंध करता है' यह निर्देश किया है।[1]

---

१ एतेनैतत् सूच्यते—प्रमत्तसंयत एवायुर्बन्धं प्रथमत आरभते, आरभ्य च कश्चिदप्रमत्तभावमपि गच्छति, तत एवमप्रमत्तसंयतोऽपि देवायुषो बन्धको भवति, न पुनरप्रमत्तसंयत एव सन् सर्वत्र आयुर्बन्धमारभत इति।

—सप्ततिका प्रकरण/टीका, पृ० २४४

अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में अट्ठावन, छप्पन और छब्बीस प्रकृतियों का बंध होता है। प्रकृतियों की संख्या में भिन्नता का कारण यह है कि पूर्वोक्त ७६ प्रकृतियों में से देवायु के बंध का विच्छेद हो जाने पर अपूर्वकरण गुणस्थान वाला जीव पहले संख्यातवें भाग में ५८ प्रकृतियों का बंध करता है। अनन्तर निद्रा और प्रचला का बंधविच्छेद हो जाने पर संख्यातवें भाग के शेष रहने तक ५६ प्रकृतियों का बंध करता है और उसके बाद देवगति, देवानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, समचतुरस्र संस्थान, वर्ण चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थंकर, इन तीस प्रकृतियों का बंधविच्छेद हो जाने पर अंतिम भाग में २६ प्रकृतियों का बंध करता है। इसी का संकेत करने के लिये गाथा में निर्देश है कि—अट्ठावन्नमपुव्वो छप्पण्णं वा वि छब्बीसं।

इस प्रकार से आठवें गुणस्थान तक की बंध प्रकृतियों का कथन किया जा चुका है। अब आगे की गाथा में शेष रहे छह गुणस्थानों की बंध प्रकृतियों की संख्या को बतलाते हैं।

बावीसा एगूणं बंधइ अट्ठारसंतमनियट्टी।
सत्तर सुहुमसरागो साममजोही सजोगि त्ति ॥५९॥

शब्दार्थ—बावीसा—बाईस, एगूणं—एक एक कम, बंधइ—बंध करता है, अट्ठारसंतं—अठारह पर्यन्त, अनियट्टी—अनिवृत्तिबादर गुणस्थान वाला, सत्तर—सत्रह, सुहुमसरागो—सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान वाला, साय—साता वेदनीय को, अजोही—अयोही (उपशांतमोह, क्षीणमोह) सजोगि त्ति—सयोगिकेवली गुणस्थान तक।

गाथार्थ—अनिवृत्तिबादर गुणस्थान वाला बाईस का और उसके बाद एक-एक प्रकृति कम करते हुए अठारह प्रकृतियों का बंध करता है। सूक्ष्मसंपराय वाला सत्रह प्रकृतियों को बांधता है तथा उपशांतमोह, क्षीणमोह और सयोगि-केवली गुणस्थान वाले सिर्फ एक सातावेदनीय प्रकृति का बंध करते हैं।

विशेषार्थ—नौवें अनिवृत्तिबादर गुणस्थान के पहले भाग में बाईस प्रकृतियों का बंध होता है। इसका कारण यह है कि यद्यपि आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में २६ प्रकृतियों का बंध होता है, फिर भी उसके अंतिम समय में हास्य, रति, अरति और जुगुप्सा, इन चार प्रकृतियों का बंधविच्छेद हो जाने से नौवें गुणस्थान के पहले समय में २२ प्रकृतियों का बंध बतलाया है। इसके बाद पहले भाग के अंत में पुरुषवेद का दूसरे भाग के अंत में संज्वलन क्रोध का, तीसरे भाग के अंत में संज्वलन मान का, चौथे भाग के अंत में संज्वलन माया का विच्छेद हो जाने से पांचवें भाग में १८ प्रकृतियों का बंध होता है, अर्थात् नौवें अनिवृत्तिबादर गुणस्थान के बंध की अपेक्षा पांच भाग हैं अतः प्रारंभ में तो २२ प्रकृतियों का बंध होता है और उसके बाद पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, भाग के अंत में क्रमशः एक-एक प्रकृति का बंधविच्छेद होते जाने से २१, २०, १९ और १८ प्रकृतियों का बंध होता है। इसी आशय को स्पष्ट करने के लिये गाथा में संकेत किया है—'बावीसा एगूण बंधइ अट्ठारसंतमनियट्टी।'

लेकिन जब अनिवृत्तिबादर गुणस्थान के पांचवें भाग के अंत में संज्वलन लोभ का बंधविच्छेद होता है तब दसवें सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान में १७ प्रकृतियों का बंध बतलाया है—'सत्तर सुहुमसरागी'।

दसवें गुणस्थान के अंत में ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की चार, अंतराय की पांच, यशःकीर्ति और उच्च गोत्र, इन सोलह प्रकृतियों का बंधविच्छेद होता है। अर्थात् दसवें गुणस्थान तक मोहनीयकर्म का उपशम या क्षय हो जाने से अमोह दशा प्राप्त हो जाती है जिससे मोहनीयकर्म से विहीन जो उपशांतमोह, क्षीणमोह और सयोगिकेवली—ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में सिर्फ एक सातावेदनीयकर्म का बंध होता है—'सायममोहो सजोगि त्ति।'

तेरहवें सयोगिकेवलि गुणस्थान के अंत में सातावेदनीय का भी बंधविच्छेद हो जाने से चौदहवें अयोगिकेवली गुणस्थान में बंध के कारणों का अभाव हो जाने से किसी भी कर्म का बंध नहीं होता है। अर्थात् चौदहवां गुणस्थान कर्मबंध से रहित है।

यद्यपि गाथा में अयोगिकेवली गुणस्थान का निर्देश नहीं किया है तथापि गाथा में जो यह निर्देश किया है कि एक सातावेदनीय का बंध मोहरहित और सयोगिकेवली जीव करते हैं, उससे यह फलितार्थ निकलता है कि अयोगिकेवली गुणस्थान में बंध के मुख्य कारण कषाय और योग का अभाव हो जाता है और कारण के अभाव में कार्य नहीं होता है। अतः अयोगिकेवली गुणस्थान में कर्म का लेशमात्र भी बंध नहीं होता है।

इस प्रकार चार गाथाओं में किस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध होता है और कितनी प्रकृतियों का बंध नहीं होता है इसका विचार किया गया। जिनका संक्षेप में विवरण इस प्रकार जानना चाहिये—

क्रम संख्या	गुणस्थान	बंध	अबंध	बंधविच्छेद
१	मिथ्यात्व	११७	३	१६
२	सासादन	१०१	१९	२५
३	मिश्र	७४	४६	०
४	अविरतसम्यग्दृष्टि	७७	४३	१०
५	देशविरत	६७	५३	४
६	प्रमत्तविरत	६३	५७	६
७	अप्रमत्तविरत	५९	६१	१
८	अपूर्वकरण प्रथम भाग	५८	६२	२
	अपूर्वकरण द्वितीय भाग	५६	६४	३०
	अपूर्वकरण तृतीय भाग	२६	९४	४
९	अनिवृत्तिकरण प्रथम भाग	२२	९८	१
	अनिवृत्तिकरण द्वितीय भाग	२१	९९	१
	अनिवृत्तिकरण तृतीय भाग	२०	१००	१
	अनिवृत्तिकरण चतुर्थ भाग	१९	१०१	१
	अनिवृत्तिकरण पंचम भाग	१८	१०२	१
१०	सूक्ष्मसंपराय	१७	१०३	१६
११	उपशांतमोह	१	११९	०
१२	क्षीणमोह	१	११९	०
१३	सयोगिकेवली	१	११९	०
१४	अयोगिकेवली	०	१२०	१

प्रत्येक गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बंध और विच्छेद होता है और उनके नाम आदि का उल्लेख द्वितीय कर्मग्रंथ में विशेष रूप से किया गया है। अतः जिज्ञासु जन उसको देख लेवें।

गुणस्थानों में बंधस्वामित्व का उपसंहार करते हुए मार्गणाओं में भी सामान्य से बंधस्वामित्व को बतलाने के लिये कहते हैं कि—

एसो उ बंधसामित्तओघो गइयाइएसु वि तहेव।
ओहाओ साहिज्जा जत्थ जहा पगडिसब्भावो ॥६०॥

शब्दार्थ—एसो—यह पूर्वोक्त गुणस्थान का बंधभेद, उ—और, बंधसामित्त—बंध स्वामित्व का, ओघो—ओघ (सामान्य) से, गइयाइएसु—गति आदि मार्गणाओं में, वि—भी, तहेव—वैसे ही, इसी प्रकार, ओहाओ—ओघ के कहे अनुसार, साहिज्जा—कहना चाहिये, जत्थ—जिस मार्गणास्थान में, जहा—जिस प्रकार से, पगडिसब्भावो—प्रकृति का सद्भाव।

गाथार्थ—यह पूर्वोक्त गुणस्थानों का बंधभेद, स्वामित्व का ओघ कथन जानना चाहिये। गति आदि मार्गणाओं में भी इसी प्रकार (सामान्य से) जहाँ जितनी प्रकृतियों का बंध होता है, तदनुसार वहाँ भी ओघ के समान बंधस्वामित्व का कथन करना चाहिये।

विशेषार्थ—पिछली चार गाथाओं में प्रत्येक गुणस्थान में प्रकृतियों के बंध करने और बंध नहीं करने का कथन किया गया है। जिससे सामान्यतया बंधस्वामित्व का ज्ञान हो जाता है, तथापि गति आदि मार्गणाओं में कितनी-कितनी प्रकृतियों का बंध होता है और कितनी-कितनी प्रकृतियों का बंध नहीं होता है, इसको जानना शेष रह जाता है। इसके लिये गाथा में इतनी सूचना दी गई है कि जहाँ जितनी प्रकृतियों का बंध होता हो इसका विचार करके ओघ के समान मार्गणास्थानों में भी बंधस्वामित्व का कथन कर लेना चाहिये।

यद्यपि उक्त संकेत के अनुसार यह आवश्यक हो जाता है कि यहाँ मार्गणाओं में बंधस्वामित्व का विचार किया जाये लेकिन तीसरे कर्मग्रंथ में इसका विस्तार से विचार किया जा चुका है अतः जिज्ञासु जन वहाँ से जान लेवें।

अब किस गति में कितनी प्रकृतियों की सत्ता होती है, इसका कथन आगे की गाथा में करते हैं।

तित्थगरदेवनिरयाउगं च तिसु तिसु गईसु बोद्धव्वं।
अवसेसा पयडीओ हवंति सव्वासु वि गईसु ॥६१॥

शब्दार्थ—**तित्थगरदेवनिरयाउगं**—तीर्थंकर, देवायु और नरकायु, **च**—और, **तिसु तिसु**—तीन-तीन, **गईसु**—गतियों में, **बोद्धव्वं**—जानना चाहिये, **अवसेसा**—शेष, बाकी की, **पयडीओ**—प्रकृतियाँ, **हवंति**—होती हैं, **सव्वासु**—सभी, **वि**—भी, **गईसु**—गतियों में।

गाथार्थ—तीर्थंकर नाम, देवायु और नरकायु, इनकी सत्ता तीन-तीन गतियों में होती है और इनके सिवाय शेष प्रकृतियों की सत्ता सभी गतियों में होती है।

विशेषार्थ—अब जिस गति में जितनी प्रकृतियों की सत्ता होती है, उसका निर्देश करते हैं कि तीर्थंकर नाम, देवायु और नरकायु, इन तीन प्रकृतियों की सत्ता तीन-तीन गतियों में पाई जाती है। अर्थात् तीर्थंकर नामकर्म की नरक, देव और मनुष्य इन तीन गतियों में सत्ता पाई जाती है, किन्तु तिर्यंचगति में नहीं। क्योंकि तीर्थंकर नामकर्म की सत्ता वाला तिर्यंचगति में उत्पन्न नहीं होता है, तथा तिर्यंचगति में तीर्थंकर नामकर्म का बंध नहीं होता है। अतः नरक, देव और मनुष्य, इन तीन गतियों में ही तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता बतलाई है।

तिर्यंच, मनुष्य और देव गति में ही देवायु की सत्ता पाई जाती है, क्योंकि नरकगति में नारकों के देवायु के बंध न होने का नियम है।

इसी प्रकार तिर्यंच, मनुष्य और नरक गति में ही नरकायु की सत्ता होती है, देवगति में नहीं क्योंकि देवों के नरकायु का बंध सम्भव नहीं है।

उक्त प्रकृतियों के सिवाय शेष सभी प्रकृतियों की सत्ता चारों गतियों में पाई जाती है। आशय यह है कि देवायु का बंध तो तीर्थंकर प्रकृति के बंध के पहले भी होता है और पीछे भी होता है, किन्तु नरकायु के संबंध में यह नियम है कि जिस मनुष्य ने नरकायु का बंध कर लिया है, वह सम्यग्दृष्टि होकर तीर्थंकर प्रकृति का भी बंध कर सकता है। इसी प्रकार तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता वाला जीव—देव और नारक—मनुष्यायु का ही बंध करते हैं तिर्यंचायु का नहीं, यह नियम है। अतः तीर्थंकर प्रकृति की सत्ता तिर्यंचगति को छोड़कर शेष तीन गतियों में पाई जाती है।

इसी प्रकार नारक के देवायु का, देव के नरकायु का बंध नहीं करने का नियम है, अतः देवायु की सत्ता नरकगति को छोड़कर शेष तीन गतियों में और नरकायु की सत्ता देवगति को छोड़कर शेष तीन गतियों में पाई जाती है।

उक्त आशय का यह निष्कर्ष हुआ कि तीर्थंकर, देवायु और नरकायु इन तीन प्रकृतियों के सिवाय शेष सब प्रकृतियों की सत्ता सब गतियों में होती है। यानी नाना जीवों की अपेक्षा नरकगति में देवायु के बिना १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है, तिर्यंचगति में तीर्थंकर प्रकृति के बिना १४७ प्रकृतियों की और देवगति में नरकायु के बिना १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है। लेकिन मनुष्यगति में १४८ प्रकृतियों की ही सत्ता होती है।

पूर्व में गुणस्थानों में कर्म प्रकृतियों के बंध, उदय, सत्ता स्थानों का कथन किया गया है तथा गुणस्थान प्रायः उपशमश्रेणि, क्षपकश्रेणि

वाले हैं। अतः उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि का स्वरूप बतलाना जरूरी है। यहाँ पहले उपशमश्रेणि का स्वरूप कथन करते हैं।

पढमकसायचउक्कं दंसणतिग सत्तगा वि उवसंता।
अविरतसम्मत्ताओ जाव नियट्टि त्ति नायव्वा ॥६२॥

शब्दार्थ—**पढमकसायचउक्कं**—प्रथम कषाय चतुष्क (अनंतानुबंधीकषायचतुष्क), **दंसणतिग**—दर्शनमोहनीयत्रिक, **सत्तगा वि**—सातों प्रकृतियाँ, **उवसंता**—उपशान्त हुई, **अविरतसम्मत्ताओ**—अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर, **जाव नियट्टि त्ति**—अपूर्वकरण गुणस्थान तक, **नायव्वा**—जानना चाहिये।

गाथार्थ—प्रथम कषाय चतुष्क (अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क) दर्शनमोहत्रिक, ये सात प्रकृतियां अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक नियम से उपशांत हो जाती हैं, ऐसा जानना चाहिये।

विशेषार्थ—उपशमश्रेणि का स्वरूप बतलाने के लिये गाथा में यह बतलाया है कि उपशमश्रेणि का प्रारम्भ किस प्रकार होता है।

कर्म शक्ति को निष्क्रिय बनाने के लिये दो श्रेणि हैं—उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणि। इन दोनों श्रेणियों का मुख्य लक्ष्य मोहनीयकर्म को निष्क्रिय बनाने का है। उसमें से उपशमश्रेणि में जीव चारित्र मोहनीयकर्म का उपशम करता है और क्षपकश्रेणि में जीव चारित्र-मोहनीय और यथासंभव अन्य कर्मों का क्षय करता है। इनमें से जब जीव उपशमश्रेणि को प्राप्त करता है तब पहले अनंतानुबंधी कषाय चतुष्क का उपशम करता है, तदनन्तर दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशम करके उपशमश्रेणि के योग्य होता है। इन सात प्रकृतियों के उपशम का प्रारंभ तो अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत और अपूर्वकरण गुणस्थानों में से किसी

भी गुणस्थान में किया जा सकता है किन्तु अपूर्वकरण गुणस्थान में तो नियम से इनका उपशमन हो ही जाता है।

गाथा में अनंतानुबंधी चतुष्क आदि सात प्रकृतियों के उपशम करने का निर्देश करते हुए पहले अनंतानुबंधी चतुष्क को उपशम करने की सूचना दी है अतः पहले इसी का विवेचन किया जाता है।

अनंतानुबंधी की उपशमना

अनंतानुबंधी चतुष्क की उपशमना करने वाले स्वामी के प्रसंग में बतलाते हैं कि अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, विरत (प्रमत्त और अप्रमत्त) गुणस्थानवर्ती जीवों में से कोई भी जीव किसी भी योग में वर्तमान हो अर्थात् जिसके चार मनोयोग, चार वचनयोग और औदारिक काययोग, इनमें से कोई एक योग हो, जो पीत, पद्म और शुक्ल, इन तीन शुभ लेश्याओं में से किसी एक लेश्या वाला हो, जो साकार उपयोग वाला (ज्ञानोपयोग वाला) हो, जिसके आयुकर्म के बिना सत्ता में स्थित शेष सात कर्मों की स्थिति अन्तःकोड़ा-कोड़ी सागर के भीतर हो, जिसकी चित्तवृत्ति अन्तर्मुहूर्त पहले से उत्तरोत्तर निर्मल हो, जो परावर्तमान अशुभ प्रकृतियों को छोड़कर शुभ प्रकृतियों का ही बंध करने लगा हो, जिसने अशुभ प्रकृतियों के सत्ता में स्थित चतुःस्थानी अनुभाग को द्विस्थानी कर लिया हो और शुभ प्रकृतियों के सत्ता में स्थित द्विस्थानी अनुभाग को चतुःस्थानी कर लिया हो और जो एक स्थितिबंध के पूर्ण होने पर अन्य स्थितिबंध को पूर्व-पूर्व स्थितिबंध की अपेक्षा उत्तरोत्तर पल्य के संख्यातवें भाग कम बाँधने लगा हो—ऐसा जीव ही अनंतानुबंधीचतुष्क को उपशमाता है।[1]

---

१ अविरतसम्यग्दृष्टि-देशविरत-विरतानामन्यतमोऽन्यतमस्मिन् योगे वर्तमानस्तेजः-पद्म-शुक्ललेश्याऽन्यतमलेश्यायुक्तः साकारोपयोगोपयुक्तोऽन्तःसागरोपमकोटा-कोटीस्थितिसत्कर्मा करणकालात् पूर्वमपि अन्तर्मुहूर्तं कालं यावदवदायमानचित्तसन्ततिरवतिष्ठते। तथाऽवतिष्ठमानश्च परावर्तमानाः प्रकृतीः

अनंतानुबंधीचतुष्क की उपशमना के लिए वह जीव यथाप्रवृत्तकरण,[1] अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नाम के तीन करण करता है। यथाप्रवृत्तकरण में तो करण के पहले के समान अवस्था बनी रहती है। अपूर्वकरण में स्थितिबंध आदि बहुत-सी क्रियायें होने लगती हैं, इसलिये इसे अपूर्वकरण कहते हैं और अनिवृत्तिकरण में समान काल वालों की विशुद्धि समान होती है इसीलिये इसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अब उक्त विषय को विशेष स्पष्ट करते हैं कि यथाप्रवृत्तकरण में प्रत्येक समय उत्तरोत्तर अनंतगुणी विशुद्धि होती है और शुभ प्रकृतियों का बंध आदि पूर्ववत् चालू रहता है। किन्तु स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि और गुणसंक्रम नहीं होता है, क्योंकि यहाँ इनके योग्य विशुद्धि नहीं पाई जाती है[2] और नाना जीवों की अपेक्षा इस करण में प्रति समय असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते हैं जो छह स्थान पतित होते हैं।

हानि और वृद्धि की अपेक्षा ये छह स्थान दो प्रकार के होते हैं—

१ अनंत भागहानि, २. असंख्यात भागहानि, ३. संख्यात भागहानि ४. संख्यात गुणहानि, ५. असंख्यात गुणहानि, और ६. अनंत गुणहानि—

शुभा एव बध्नाति, नाशुभाः। अशुभानां च प्रकृतीनामनुभागं चतुःस्थानकं सन्तं द्विस्थानकं करोति, शुभानां च द्विस्थानकं सन्तं चतुःस्थानकम्। स्थितिबन्धेऽपि च पूर्वं पूर्वं सति अन्यं-स्थितिबन्धं पूर्वपूर्वस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमसंख्येयभागहीनं करोति।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २४६

१ यथाप्रवृत्तकरण का दूसरा नाम पूर्व प्रवृत्तकरण भी है, दिगम्बर परम्परा में यथाप्रवृत्तकरण को अधःप्रवृत्तकरण कहा गया है।

२ न च स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिं गुणसंक्रमं वा करोति, तद्योग्यविशुद्ध्यभावात्।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २४६

ये हानि रूप छह स्थान हैं। वृद्धि की अपेक्षा छह स्थान इस प्रकार हैं—१. अनंत भागवृद्धि, २. असंख्यात भागवृद्धि, ३. संख्यात भागवृद्धि ४. संख्यात गुणवृद्धि, ५. असंख्यात गुणवृद्धि और ६. अनंत गुणवृद्धि।

इन षड्स्थानों का आशय यह है कि जब हम एक जीव की अपेक्षा विचार करते हैं तब पहले समय के परिणामों से दूसरे समय के परिणाम अनन्तगुणी विशुद्धि को लिये हुए प्राप्त होते हैं और जब नाना जीवों की अपेक्षा से विचार करते हैं तब एक समयवर्ती नाना जीवों के परिणाम छह स्थान पतित प्राप्त होते हैं तथा यथाप्रवृत्तकरण के पहले समय में नाना जीवों की अपेक्षा जितने परिणाम होते हैं, उससे दूसरे समय के परिणाम विशेषाधिक होते हैं, दूसरे समय से तीसरे समय में और तीसरे समय से चौथे समय में इसी प्रकार यथाप्रवृत्तकरण के चरम समय तक विशेषाधिक-विशेषाधिक परिणाम होते हैं। इसमें भी पहले समय में जघन्य विशुद्धि सबसे थोड़ी होती है, उससे दूसरे समय में जघन्य विशुद्धि अनंतगुणी होती है, उससे तीसरे समय में जघन्य विशुद्धि अनंतगुणी होती है। इस प्रकार यथाप्रवृत्तकरण के संख्यातवें भाग के प्राप्त होने तक यही क्रम चलता रहता है। पर यहाँ जो जघन्य विशुद्धि प्राप्त होती है, उससे पहले समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुणी होती है।

तदनन्तर पहले समय की उत्कृष्ट विशुद्धि से यथाप्रवृत्तकरण के संख्यातवें भाग के अगले समय की जघन्य विशुद्धि अनंतगुणी होती है। पुनः इससे दूसरे समय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनंतगुणी होती है। पुनः उससे यथाप्रवृत्तकरण के संख्यातवें भाग के आगे दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि अनंतगुणी होती है।

इस प्रकार यथाप्रवृत्तकरण के अन्तिम समय में जघन्य विशुद्धि-स्थान के प्राप्त होने तक ऊपर और नीचे एक-एक विशुद्धिस्थान को अनंतगुणा करते जानना चाहिये, पर इसके आगे जितने विशुद्धिस्थान

शेष रह गये हैं, केवल उन्हें उत्तरोत्तर अनंतगुण करना चाहिये। यथाप्रवृत्तकरण का समय अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

इस तरह अन्तर्मुहूर्त काल में यथाप्रवृत्तकरण समाप्त होने के बाद दूसरा अपूर्वकरण होता है। जिसका विवेचन इस प्रकार है कि इसमें प्रतिसमय असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम होते हैं जो प्रति समय छह-स्थान पतित होते हैं। इसमें भी पहले समय में जघन्य विशुद्ध उससे थोड़ी होती है जो यथाप्रवृत्तकरण के अन्तिम समय में कही गई उत्कृष्ट विशुद्धि से अनन्तगुणी होती है। पुनः इससे पहले समय में ही उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। तदनन्तर इससे दूसरे समय में जघन्य विशुद्धि अनन्तगुणी होती है। इस प्रकार अपूर्वकरण का अन्तिम समय प्राप्त होने तक प्रत्येक समय में उत्तरोत्तर इसी प्रकार कथन करना चाहिये।

अपूर्वकरण के पहले समय में ही स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि, गुणसंक्रम और अपूर्व स्थितिबन्ध, ये पाँच कार्य एक साथ प्रारम्भ हो जाते हैं। जिनका आशय निम्नानुसार है—

स्थितिघात में सत्ता में स्थित स्थिति के अग्रभाग से अधिक से अधिक सैकड़ों सागर प्रमाण और कम से कम पल्य के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिखण्ड का अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा घात किया जाता है तथा यहाँ जिस स्थिति का आगे चलकर घात नहीं होगा, उसमें प्रति समय दलिकों का निक्षेप किया जाता है और इस प्रकार एक अन्तर्मुहूर्त काल के भीतर उस स्थिति खण्ड का घात हो जाता है। अनन्तर इसके नीचे के दूसरे पल्य के संख्यातवें भाग प्रमाण स्थितिखण्ड का उक्त प्रकार घात किया जाता है। इस प्रकार अपूर्वकरण के काल में उक्त क्रम से हजारों स्थितिखण्डों का घात होता है। जिससे पहले समय की स्थिति से अन्त के समय की स्थिति संख्यातगुणी हीन रह जाती है।

स्थितिघात के आशय को स्पष्ट करने के बाद अब रसघात का विवेचन करते हैं।

रसघात में अशुभ प्रकृतियों का सत्ता में स्थित जो अनुभाग है, उसके अनंतवें भाग प्रमाण अनुभाग को छोड़कर शेष का अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा घात किया जाता है। अनन्तर जो अनंतवाँ भाग अनुभाग शेष रहा था उसके अनंतवें भाग को छोड़कर शेष का अन्तर्मुहूर्त काल के द्वारा घात किया जाता है। इस प्रकार एक-एक स्थितिखण्ड के उत्कीरण काल के भीतर हजारों अनुभाग खण्ड खपा दिये जाते हैं।

गुणश्रेणि का रूप यह होता है कि गुणश्रेणि में अनंतानुबंधी चतुष्क की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति को छोड़कर ऊपर की स्थिति वाले दलिकों में से प्रति समय कुछ दलिक लेकर उदयावलि के ऊपर की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति में उनका निक्षेप किया जाता है। जिसका क्रम इस प्रकार है कि पहले समय में जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं उनमें से सबसे कम दलिक उदयावलि के ऊपर पहले समय में स्थापित किये जाते हैं। इनसे असंख्यातगुणे दलिक दूसरे समय में स्थापित किये जाते हैं। इनसे असंख्यातगुणे दलिक तीसरे समय में स्थापित किये जाते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल के अन्तिम समय तक उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे दलिकों का निक्षेप किया जाता है। यह प्रथम समय में ग्रहण किये गये दलिकों की निक्षेप विधि है। दूसरे आदि समयों में जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं, उनका निक्षेप भी इसी प्रकार होता है, किन्तु इतनी विशेषता है कि गुणश्रेणि की रचना के पहले समय में जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं वे सबसे थोड़े होते हैं। दूसरे समय में जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं वे इनसे असंख्यातगुणे होते हैं। इसी प्रकार गुणश्रेणिकरण के अन्तिम समय के प्राप्त होने तक तृतीयादि समयों में जो दलिक ग्रहण किये जाते हैं वे उत्तरोत्तर असंख्यात गुणे होते हैं। यहाँ इतनी विशेषता और है कि अपूर्वकरण

और अनिवृत्तिकरण का काल जिस प्रकार उत्तरोत्तर व्यतीत होता जाता है, तदनुसार गुणश्रेणि के दलिकों का निक्षेप अन्तर्मुहूर्त के उत्तरोत्तर शेष बचे हुए समयों में होता है, अन्तर्मुहूर्त से ऊपर के समयों में नहीं होता है। जैसे कि मान लो गुणश्रेणि के अन्तर्मुहूर्त का प्रमाण पचास समय है और अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण इन दोनों के काल का प्रमाण चालीस समय है। अब जो जीव अपूर्वकरण के पहले समय में गुणश्रेणि की रचना करता है वह गुणश्रेणि के सब समयों में दलिकों का निक्षेप करता है तथा दूसरे समय में शेष उनचास समयों में दलिकों का निक्षेप करता है। इस प्रकार जैसे-जैसे अपूर्वकरण का काल व्यतीत होता जाता है वैसे-वैसे दलिकों का निक्षेप कम-कम समयों में होता जाता है।

गुणसंक्रम में कर्म प्रकृतियों के दलिकों का संक्रम होता है। अतः गुणसंक्रम प्रदेशसंक्रम का एक भेद है। इसमें प्रतिसमय उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित क्रम से अबध्यमान अनंतानुबंधी आदि अशुभ कर्म प्रकृतियों के कर्म दलिकों का उस समय बँधने वाली सजातीय प्रकृतियों में संक्रमण होता है। यह क्रिया अपूर्वकरण के पहले समय से ही प्रारम्भ हो जाती है।

स्थितिबंध का रूप इस प्रकार होता है कि अपूर्वकरण के पहले समय से ही जो स्थितिबंध होता है, वह अपूर्व अर्थात् इसके पहले होने वाले स्थितिबंध से बहुत थोड़ा होता है। इसके सम्बन्ध में यह नियम है कि स्थितिबंध और स्थितिघात इन दोनों का प्रारम्भ एक साथ होता है और इनकी समाप्ति भी एक साथ होती है। इस प्रकार इन पाँचों कार्यों का प्रारम्भ अपूर्वकरण में एक साथ होता है।

अपूर्वकरण समाप्त होने पर अनिवृत्तिकरण होता है। इसमें प्रविष्ट हुए जीवों के परिणामों में एकरूपता होती है अर्थात् इस

करण में प्रविष्ट हुए जीवों के जिस प्रकार शरीर के आकार आदि में फरक दिखाई देता है, उस प्रकार उनके परिणामों में फरक नहीं होता है, यानी समान समय वाले एक साथ में चढ़े हुए जीवों के परिणाम समान ही होते हैं और भिन्न समय वाले जीवों के परिणाम सर्वथा भिन्न ही होते हैं। तात्पर्य यह है कि अनिवृत्तिकरण के पहले समय में जो जीव हैं, थे और होंगे, उन सबके परिणाम एक से ही होते हैं। दूसरे समय में जो जीव हैं, थे और होंगे, उनके भी परिणाम एकसे ही होते हैं। इसी प्रकार तृतीय आदि समयों में भी समझना चाहिये। इसलिये अनिवृत्तिकरण के जितने समय हैं, उतने ही इसके परिणाम होते हैं, न्यूनाधिक नहीं। किन्तु इतनी विशेषता है कि इसके प्रथम आदि समयों में जो विशुद्धि होती है, द्वितीय आदि समयों में वह उत्तरोत्तर अनंतगुणी होती है।

अपूर्वकरण के स्थितिघात आदि पांचों कार्य अनिवृत्तिकरण में भी चालू रहते हैं।[1] इसके अन्तर्मुहूर्त काल में से संख्यात भागों के बीत जाने पर जब एक भाग शेष रहता है तब अनंतानुबंधी चतुष्क के एक आवलि प्रमाण नीचे के निषेकों को छोड़कर अन्तर्मुहूर्त प्रमाण निषेकों का अन्तरकरण[2] किया जाता है। इस क्रिया को करने में न्यूनतम स्थितिबंध के काल के बराबर समय लगता है। यदि उदयवाली प्रकृतियों का अन्तरकरण किया जाता है तो उनकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण और यदि अनुदयवाली प्रकृतियों का अन्तरकरण किया जाता है तो उनकी नीचे की स्थिति आवलि प्रमाण छोड़ दी जाती है।

---

१ स्थितिघात आदि पाँचों कार्यों का विवरण अपूर्वकरण के प्रसंग में बताया जा चुका है, तदनुरूप यहाँ भी समझना चाहिये।

२ एक आवलि या अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नीचे की और ऊपर की स्थिति को छोड़कर मध्य में से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकों को उठाकर उनका बँधने वाली अन्य सजातीय प्रकृतियों में प्रक्षेप करने का नाम अन्तरकरण है।

चूँकि यहाँ अनंतानुबंधी चतुष्क का अन्तरकरण करना है किन्तु उसका चौथे आदि गुणस्थानों में उदय नहीं होता है इसलिये इसके नीचे के आवलि प्रमाण दलिकों को छोड़कर ऊपर के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकों का अन्तरकरण किया जाता है।

अंतरकरण में अन्तर का अर्थ व्यवधान और करण का अर्थ क्रिया है। तदनुसार जिन प्रकृतियों का अन्तरकरण किया जाता है, उनके दलिकों की पंक्ति को मध्य से भंग कर दिया जाता है। इससे दलिकों की तीन अवस्थायें हो जाती हैं—प्रथमस्थिति, सान्तरस्थिति और उपरितम या द्वितीयस्थिति। प्रथमस्थिति का प्रमाण एक आवलि या एक अन्तर्मुहूर्त होता है। इसके बाद सान्तरस्थिति प्राप्त होती है। यह दलिकों से शून्य अवस्था है। इसका भी समय प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है। इसके बाद द्वितीयस्थिति प्राप्त होती है। इसका प्रमाण दलिकों की शेषस्थिति है।

अन्तरकरण करने से पहले दलिकों की पंक्ति•••••••••••• इस प्रकार अविच्छिन्न रहती है किन्तु अन्तरकरण कर लेने पर उसकी अवस्था ••••• ••••••• इस प्रकार हो जाती है। यहाँ मध्य में जो रिक्तस्थान दिखता है, वहाँ के कुछ दलिकों को यथासंभव बंधने वाली अन्य सजातीय प्रकृतियों में मिला दिया जाता है। इस अंतर स्थान से नीचे (पहले) की स्थिति को प्रथमस्थिति और ऊपर (बाद) की स्थिति को द्वितीयस्थिति कहते हैं। उदयवाली प्रकृतियों के अन्तरकरण करने का काल और प्रथमस्थिति का प्रमाण समान होता है किन्तु अनुदयवाली प्रकृतियों की प्रथमस्थिति के प्रमाण से अन्तरकरण करने का काल बहुत बड़ा होता है। अन्तरकरण क्रिया के चालू रहते हुए उदयवाली प्रकृतियों की प्रथमस्थिति का एक-एक दलिक उदय में आकर निर्जीर्ण होता जाता है और अनुदयवाली प्रकृतियों की प्रथम

स्थिति के एक-एक दलिक का उदय में आने वाली सजातीय प्रकृतियों में स्तिबुकसंक्रमण के द्वारा संक्रम होता रहता है।

यहाँ अनंतानुबंधी के उपशम का कथन कर रहे हैं किन्तु उसका उदय यहाँ नहीं है, अतः इसके प्रथमस्थितिगत प्रत्येक दलिक का भी स्तिबुकसंक्रमण द्वारा पर-प्रकृतियों में संक्रमण होता रहता है। इस प्रकार अन्तरकरण के हो जाने पर दूसरे समय में अनंतानुबंधी चतुष्क की द्वितीयस्थिति वाले दलिकों का उपशम किया जाता है। पहले समय में थोड़े दलिकों का उपशम किया जाता है। दूसरे समय में उससे असंख्यातगुणे दलिकों का, तीसरे समय में उससे भी असंख्यातगुणे दलिकों का उपशम किया जाता है। इसी प्रकार अन्तर्मुहूर्त काल तक असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे दलिकों का प्रतिसमय उपशम किया जाता है। इतने समय में समस्त अनंतानुबंधी चतुष्क का उपशम हो जाता है। जिस प्रकार धूलि को पानी से सींच-सींचें कर दुरमुट से कूट देने पर वह जम जाती है, उसी प्रकार कर्म रज भी विशुद्धि रूपी जल से सींच-सींच कर अनिवृत्तिकरण रूपी दुरमुट के द्वारा कूट दिये जाने पर संक्रमण, उदय, उदीरणा, निधत्ति और निकाचना के अयोग्य हो जाती है। इसी को अनंतानुबंधी का उपशम कहते हैं।

लेकिन अन्य आचार्यों का मत है कि अनन्तानुबंधी चतुष्क का उपशम[1] न होकर विसंयोजना ही होती है। विसंयोजना क्षपणा का

१ कर्मप्रकृति ग्रन्थ में अनंतानुबंधी की उपशमना का स्पष्ट निषेध किया है वहाँ बताया है कि चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थानवर्ती यथायोग्य चारों गति के पर्याप्त जीव तीन करणों के द्वारा अनंतानुबंधी चतुष्क का विसंयोजन करते हैं। किन्तु विसंयोजन करते समय न तो अन्तरकरण होता है और न अनंतानुबंधी चतुष्क का उपशम ही होता है—

चउगइया पज्जत्ता तिन्नि वि संयोजणे वियोजंति।
करणेहिं तीहिं सहिया नंतरकरणं उवसमो वा॥

ही दूसरा नाम है, किन्तु विसंयोजना और क्षपणा में सिर्फ इतना अंतर है कि जिन प्रकृतियों की विसंयोजना होती है, उनकी पुनः सत्ता प्राप्त हो जाती है, किन्तु जिन प्रकृतियों की क्षपणा होती है, उनकी पुनः सत्ता प्राप्त नहीं होती है।

अनन्तानुबंधी की विसंयोजना अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक किसी एक गुणस्थान में होती है। चौथे गुणस्थान में चारों गति के जीव अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करते हैं। पांचवें गुणस्थान में तिर्यंच और मनुष्य अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना करते हैं और छठे व सातवें गुणस्थान में मनुष्य ही अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करते हैं। इसके लिये भी पहले के समान यथाप्रवृत्तकरण आदि तीन करण किये जाते हैं। लेकिन इतनी विशेषता है कि विसंयोजना के लिये अन्तरकरण की आवश्यकता नहीं होती है किन्तु आवलि प्रमाण दलिकों को छोड़कर ऊपर के सब दलिकों का अन्य सजातीय प्रकृति रूप से संक्रमण करके और आवलि प्रमाण दलिकों का वेद्यमान प्रकृतियों में संक्रमण करके उनका विनाश कर दिया जाता है।

इस प्रकार अनन्तानुबन्धी की उपशमना और विसंयोजना का विचार किया गया अब दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों की उपशमना का विचार करते हैं।

दिगम्बर परम्परा में कषायपाहुड, उसकी चूर्णि, षट्खंडागम और लब्धिसार में भी अनन्तानुबंधी के विसयोजन वाले मत का ही उल्लेख मिलता है। कर्मप्रकृति के समान कषायपाहुड की चूर्णि में भी अनन्तानुबंधी के उपशम का स्पष्ट निषेध किया है, लेकिन दिगम्बर परम्परा में प्रचलित सप्ततिका में उपशम वाला मत भी पाया जाता है और गो० कर्मकांड से इस बात का अवश्य पता लगता है कि वे अनंतानुबंधी के उपशम वाले मत से परिचित थे।

दर्शनमोहनीय की उपशमना

दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों की उपशमना के विषय में यह नियम[1] है कि मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व यह दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ हैं। उनमें से मिथ्यात्व का उपशम तो मिथ्यादृष्टि और वेदक सम्यग्दृष्टि जीव करते हैं, किन्तु सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दो प्रकृतियों का उपशम वेदक सम्यग्दृष्टि जीव ही करते हैं।[2] इसमें भी चारों गति का मिथ्यादृष्टि जीव जब प्रथम सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है तब मिथ्यात्व का उपशम करता है। मिथ्यात्व के उपशम करने की विधि पूर्व में बताई गई अनन्तानुबंधी चतुष्क के उपशम के समान जानना चाहिये किन्तु इतनी विशेषता है कि इसके अपूर्वकरण में गुणसंक्रम नहीं होता किन्तु स्थितिघात, रसघात, स्थितिबंध और गुणश्रेणि, ये चार कार्य होते हैं।

---

१ दिगम्बर कर्मग्रन्थों में इस विषय के निर्देश भाव यह है कि मिथ्यादृष्टि एक मिथ्यात्व का, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दोनों का या मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व, इन तीनों का तथा सम्यग्दृष्टि द्वितीयोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय तीनों का उपशम करता है। जो जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व में जाकर वेदककाल का उल्लंघन कर जाता है, वह यदि सम्यक्त्व की उद्वलना होने के काल में ही उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है तो उसके तीनों का उपशम होता है। जो जीव सम्यक्त्व की उद्वलना के बाद सम्यग्मिथ्यात्व की उद्वलना होते समय यदि उपशमसम्यक्त्व को प्राप्त करता है तो उसके मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व इन दो का उपशम होता है और जो मोहनीय की छब्बीस प्रकृतियों की सत्ता वाला मिथ्यादृष्टि होता है, उसके एक मिथ्यात्व का ही उपशम होता है।

२ तत्र मिथ्यात्वस्योपशमना मिथ्यादृष्टेर्वेदकसम्यग्दृष्टेश्च। सम्यक्त्व-सम्यग्-मिथ्यात्वयोस्तु वेदकसम्यग्दृष्टेरेव।

—सप्ततिका प्रकरण टीका, पृ० २४६

मिथ्यादृष्टि के नियम से मिथ्यात्व का उदय होता है। इसलिये इसके गुणश्रेणि की रचना उदय समय से लेकर होती है। अपूर्वकरण के बाद अनिवृत्तिकरण में भी इसी प्रकार जानना चाहिये। किन्तु इसके संख्यात भागों के बीत जाने पर जब एक भाग शेष रह जाता है तब मिथ्यात्व के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नीचे के निषेकों को छोड़कर, इससे कुछ अधिक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ऊपर के निषेकों का अन्तरकरण किया जाता है। इस क्रिया में नूतन स्थितिबंध के समान अन्तर्मुहूर्त काल लगता है। यहां जिन दलिकों का अन्तरकरण किया जाता है, उनमें से कुछ को प्रथमस्थिति में और कुछ को द्वितीयस्थिति में डाल दिया जाता है, क्योंकि मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व का पर-प्रकृति रूप संक्रमण नहीं होता है। इसके प्रथमस्थिति में आवलि प्रमाण काल शेष रहने तक प्रथमस्थिति के दलिकों की उदीरणा होती है किन्तु द्वितीयस्थिति के दलिकों की उदीरणा प्रथमस्थिति में दो आवलि प्रमाणकाल शेष रहने तक ही होती है। यहां द्वितीय स्थिति के दलिकों की उदीरणा को आगाल कहते हैं।

इस प्रकार यह जीव प्रथमस्थिति का वेदन करता हुआ जब प्रथमस्थिति के अन्तिम स्थान स्थित दलिक का वेदन करता है, तब वह अन्तरकरण के ऊपर द्वितीयस्थिति में स्थित मिथ्यात्व के दलिकों को अनुभाग के अनुसार तीन भागों में विभक्त कर देता है। इनमें से विशुद्ध भाग को सम्यक्त्व, अर्धविशुद्ध भाग को सम्यग्मिथ्यात्व और सबसे अविशुद्ध भाग को मिथ्यात्व कहते हैं। कर्मप्रकृति चूर्णि में कहा भी है—

चरमसमयमिच्छादिट्ठी सेकाले उवसमसम्मद्दिट्ठी होहिइ ताहे विइयठिइं तिहाणुभागं करेइ, तंजहा—सम्मत्तं सम्मामिच्छत्तं मिच्छत्तं च।

इस तरह प्रथमस्थिति के समाप्त होने पर मिथ्यात्व के दलिक का उदय नहीं होने से औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। इस

सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर अलब्ध पूर्व आत्महित की उपलब्धि होती है—

मिच्छत्तुदए णासे लहए सम्मत्तमोवसमियं सो।
लंभेण तस्स लब्भइ आयहियमलद्धपुव्वं जं[1] ॥

यह प्रथम सम्यक्त्व का लाभ मिथ्यात्व के पूर्णरूपेण उपशम से प्राप्त होता है और इसके प्राप्त करने वालों में से कोई देशविरत और कोई सर्वविरत होता है। अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्ति के पश्चात् संयम लाभ के लिए प्रयास किया जाता है।

किन्तु इस प्रथमोपशम सम्यक्त्व से जीव उपशमश्रेणि पर न चढ़कर द्वितीयोपशम सम्यक्त्व से चढ़ता है। अतः उसके बारे में बतलाते हैं कि जो वेदक सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक का उपशम करके उपशमसम्यक्त्व को प्राप्त होता है, उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। इनमें से अनन्तानुबन्धी के उपशम होने का कथन तो पहले कर आये हैं। अब यहाँ दर्शनमोहनीय के उपशम होने की विधि को संक्षेप में बतलाते हैं।

जो वेदक सम्यग्दृष्टि जीव संयम में विद्यमान है, वह दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का उपशम करता है। इसके यथाप्रवृत्तकरण आदि तीन करण पहले के समान जानना चाहिये किन्तु इतनी विशेषता है कि अनिवृत्तिकरण के संख्यात भागों के बीत जाने पर अन्तरकरण करते समय सम्यक्त्व की प्रथमस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थापित की जाती है, क्योंकि यह वेद्यमान प्रकृति है तथा सम्यग्मिथ्यात्व और मिथ्यात्व की प्रथमस्थिति आवलि प्रमाण स्थापित की जाती है क्योंकि वेदक सम्यग्दृष्टि के इन दोनों का उदय नहीं होता है। यहाँ इन तीनों प्रकृतियों के जिन दलिकों का अंतरकरण किया जाता है, उनका निक्षेप सम्यक्त्व की प्रथमस्थिति में होता है।

---

१ कर्मप्रकृति, गा० ३३०

इसी प्रकार इस जीव के मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति के दलिकों का सम्यक्त्व की प्रथमस्थिति के दलिक में स्तिबुकसंक्रम के द्वारा संक्रमण होता रहता है और सम्यक्त्व की प्रथमस्थिति का प्रत्येक दलिक उदय में आ-आकर निर्जीर्ण होता रहता है। इस प्रकार इसके सम्यक्त्व की प्रथमस्थिति के क्षीण हो जाने पर द्वितीयोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के प्राप्त होने के बाद चारित्र मोहनीय की उपशमना का क्रम प्रारम्भ होता है। अतः अब चारित्र मोहनीय के उपशम के क्रम को बतलाते हैं।

चारित्र मोहनीय की उपशमना

चारित्र मोहनीय का उपशम करने के लिये पुनः यथाप्रवृत्तकरण आदि तीन करण किये जाते हैं। करणों का स्वरूप तो पूर्ववत् है लेकिन इतनी विशेषता है कि यथाप्रवृत्तकरण सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में होता है, अपूर्वकरण आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान में और अनिवृत्तिकरण नौवें अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में होता है। यहाँ भी अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण में स्थितिघात आदि पहले के समान होते हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक जो अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण होते हैं, उनमें उसी प्रकृति का गुणसंक्रम होता है, जिसके सम्बन्ध में वे परिणाम होते हैं। किन्तु अपूर्वकरण में नहीं बंधने वाली सम्पूर्ण अशुभ प्रकृतियों का गुणसंक्रम होता है। अपूर्वकरण के काल में से संख्यातवाँ भाग बीत जाने पर निद्रा और प्रचला, इन दो प्रकृतियों का बंधविच्छेद होता है। इसके बाद जब हजारों स्थितिखंडों का घात हो लेता है, तब अपूर्वकरण का संख्यात बहुभाग काल व्यतीत होता है और एक भाग शेष रहता है। इसी बीच नामकर्म की निम्नलिखित ३० प्रकृतियों का बंध-विच्छेद होता है—

देवगति, देवानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रिय शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, समचतुरस्र संस्थान, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक अंगोपांग, वर्ण चतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, प्रशस्त विहायोगति, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थंकर।

तदनन्तर स्थितिखंड-पृथक्त्व हो जाने पर अपूर्वकरण का अंतिम समय प्राप्त होता है। इसमें हास्य, रति, भय और जुगुप्सा का बंधविच्छेद, छह नोकषायों का उदयविच्छेद तथा सब कर्मों की देशोपशमना, निधत्ति और निकाचना करणों की व्युच्छित्ति होती है। इसके बाद अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रवेश होता है।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में भी स्थितिघात आदि कार्य पहले के समान होते हैं। अनिवृत्तिकरण के संख्यात बहुभाग काल के बीत जाने पर चारित्रमोहनीय की २१ प्रकृतियों का अंतरकरण किया जाता है। अन्तरकरण करते समय चार संज्वलन कषायों में से जिस संज्वलन कषाय का और तीन वेदों में से जिस वेद का उदय होता है, उसकी प्रथमस्थिति को अपने-अपने उदयकाल प्रमाण स्थापित किया जाता है अन्य उन्नीस प्रकृतियों की प्रथमस्थिति को एक आवलि प्रमाण स्थापित किया जाता है। स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का उदयकाल सबसे थोड़ा है। पुरुषवेद का उदयकाल इससे संख्यातगुणा है। संज्वलन क्रोध का उदयकाल इससे विशेष अधिक है। संज्वलन मान का उदयकाल इससे विशेष अधिक है। संज्वलन माया का उदयकाल इससे विशेष अधिक है और संज्वलन लोभ का उदयकाल इससे विशेष अधिक है। पंचसंग्रह में भी इसी प्रकार कहा है—

थीअपुमोदयकालो संखेज्जगुणो उ पुरिसवेयस्स।
तत्तो वि विसेसअहिओ कोहे तत्तो वि जहकमसो।[1]

१ पंचसंग्रह, ७६२

लक्षणि--स्त्रीवेद और नपुंसक वेद के काल से पुरुषवेद का काल संख्यातगुणा है। इससे क्रोध का काल विशेष अधिक है। आगे भी इसी प्रकार यथाक्रम से विशेष अधिक काल जानना चाहिये।

जो संज्वलन क्रोध के उदय से उपशमश्रेणि का आरोहण करता है, उसके जब तक अप्रत्याख्यानावरण क्रोध और प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम नहीं होता तब तक संज्वलन क्रोध का उदय रहता है। जो संज्वलन मान के उदय से उपशमश्रेणि पर चढ़ता है उसके जब तक अप्रत्याख्यानावरण मान और प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम नहीं होता, तब तक संज्वलन मान का उदय रहता है। जो संज्वलन माया के उदय से उपशमश्रेणि पर चढ़ता है, उसके जब तक अप्रत्याख्यानावरण माया का और प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम नहीं होता तब तक संज्वलन माया का उदय रहता है तथा जो संज्वलन लोभ के उदय से उपशमश्रेणि पर चढ़ता है, उसके जब तक अप्रत्याख्यानावरण लोभ और प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम नहीं होता तब तक संज्वलन लोभ का उदय रहता है।

जितने काल के द्वारा स्थितिखंड का घात करता है या अन्य स्थिति का बंध करता है, उतने ही काल के द्वारा अन्तरकरण करता है, क्योंकि इन तीनों का प्रारंभ और समाप्ति एक साथ होती है। तात्पर्य यह है कि जिस समय अंतरकरण क्रिया का आरंभ होता है, उसी समय अन्य स्थितिखंड के घात का और अन्य स्थितिबंध का भी प्रारंभ होता है और अन्तरकरण क्रिया के समाप्त होने के समय ही इनकी समाप्ति भी होती है। इस प्रकार अन्तरकरण के द्वारा जो अन्तर स्थापित किया जाता है, उसका प्रमाण प्रथमस्थिति से संख्यात गुणा है। अन्तरकरण करते समय जिन कर्मों का बंध और उदय होता है उनके अन्तरकरण संबंधी दलिकों को प्रथमस्थिति और द्वितीयस्थिति में क्षेपण करता है, जैसे कि पुरुषवेद के उदय से

श्रेणि पर चढ़ने वाला पुरुषवेद का। जिन कर्मों का अन्तरकरण करते समय उदय ही होता है, बंध नहीं होता उनके अन्तरकरण संबंधी दलिकों को प्रथमस्थिति में ही क्षेपण करता है, द्वितीयस्थिति में नहीं, जैसे स्त्रीवेद के उदय से श्रेणि पर चढ़ने वाला स्त्रीवेद का। अन्तर करने के समय जिन कर्मों का उदय न होकर केवल बंध ही होता है, उसके अंतरकरण संबंधी दलिक को द्वितीय स्थिति में ही क्षेपण करता है, प्रथम स्थिति में नहीं; जैसे संज्वलन क्रोध के उदय से श्रेणि पर चढ़ने वाला शेष संज्वलनों का। किन्तु अन्तरकरण करने के समय जिन कर्मों का न तो बंध ही होता है और न उदय ही, उनके अन्तरकरण सम्बन्धी दलिकों का अन्य सजातीय बंधने वाली प्रकृतियों में क्षेपण करता है; जैसे दूसरी और तीसरी कषायों का।[1]

अब अंतरकरण द्वारा किये जाने वाले कार्य का संकेत करते हैं।

अंतरकरण करके नपुंसकवेद का उपशम करता है। पहले समय में सबसे थोड़े दलिकों का उपशम करता है, दूसरे समय में असंख्यातगुणे दलिकों का उपशम करता है। इस प्रकार अंतिम समय प्राप्त होने तक प्रति समय असंख्यातगुणे, असंख्यातगुणे दलिकों का उपशम करता है तथा जिस समय जितने दलिकों का उपशम करता है, उस समय दूसरे असंख्यातगुणे दलिकों का पर-प्रकृतियों में क्षेपण करता है, किन्तु यह क्रम उपान्त्य समय तक ही चालू रहता है। अंतिम समय में तो जितने दलिकों का पर-प्रकृतियों में संक्रमण होता है, उससे असंख्यातगुणे दलिकों का उपशम करता है। इसके बाद एक अन्तर्मुहूर्त में स्त्रीवेद का उपशम करता है। इसके बाद एक अन्तर्मुहूर्त में हास्यादि छह का उपशम करता है। हास्यादिषट्क का

---

१ इस संबंधी विशेष ज्ञान के लिए कर्मप्रकृति टीका देखना चाहिये। यहाँ तो संक्षेप में प्रकाश डाला है।

उपशम होते ही पुरुषवेद के बंध, उदय और उदीरणा का तथा प्रथमस्थिति का विच्छेद हो जाता है। किन्तु आगाल प्रथम स्थिति में दो आवलिका शेष रहने तक ही होता है तथा इसी समय से छह नोकषायों के दलिकों का पुरुषवेद में क्षेपण न करके संज्वलन क्रोध आदि में क्षेपण करता है।[1]

हास्यादि छह का उपशम हो जाने के बाद एक समय कम दो आवलिका काल में सकल पुरुषवेद का उपशम करता है। पहले समय में सबसे थोड़े दलिकों का उपशम करता है। दूसरे समय में असंख्यातगुणे दलिकों का, तीसरे समय में इससे असंख्यातगुणे दलिकों का उपशम करता है। दो समय कम दो आवलियों के अंतिम समय तक इसी प्रकार उपशम करता है तथा दो समय कम दो आवलि काल तक प्रति समय यथाप्रवृत्त संक्रम के द्वारा पर-प्रकृतियों में दलिकों का निक्षेप करता है। पहले समय में बहुत दलिकों का निक्षेप करता है, दूसरे समय में विशेष हीन दलिकों का निक्षेप करता है, तीसरे समय में इससे विशेष हीन दलिकों का निक्षेप करता है। अंतिम समय तक इसी प्रकार जानना चाहिये।

जिस समय हास्यादिषट्क का उपशम हो जाता है और पुरुषवेद की प्रथमस्थिति क्षीण हो जाती है, उसके अनन्तर समय से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण क्रोध और संज्वलन क्रोध के उपशम करने का एक साथ प्रारंभ करता है तथा संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थिति में एक समय कम तीन आवलिका शेष रह जाने पर अप्रत्याख्यानावरण क्रोध और प्रत्याख्यानावरण क्रोध के दलिकों का संज्वलन क्रोध में निक्षेप न करके संज्वलन मानादिक में निक्षेप करता

---

१ दुसु आवलियासु पढमठिईए सेसासु वि य वेओ।

—कर्मप्रकृति गा० १०७

है[1] तथा दो आवलिकाल शेष रहने पर आगाल नहीं होता है किन्तु केवल उदीरणा ही होती है और एक आवलिका काल के शेष रह जाने पर संज्वलन क्रोध के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम हो जाता है उस समय संज्वलन क्रोध की प्रथम स्थितिगत एक आवलिका प्रमाण दलिकों को और उपरितन स्थितिगत एक समय कम दो आवलिका काल के द्वारा बद्ध दलिकों को छोड़कर शेष दलिक उपशांत हो जाते हैं।

तदनन्तर प्रथम स्थितिगत एक आवलिका प्रमाण दलिकों का स्तिबुकसंक्रम के द्वारा क्रम से संज्वलन मान में निक्षेप करता है और एक समय कम दो आवलिका काल में बद्ध दलिकों का पुरुषवेद के समान उपशम करता है और पर-प्रकृति रूप से संक्रमण करता है। इस प्रकार अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध के उपशम होने के बाद एक समय कम दो आवलिका काल में संज्वलन क्रोध का उपशम हो जाता है। जिस समय संज्वलन क्रोध के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर संज्वलन मान की द्वितीयस्थिति से दलिकों को लेकर उनकी प्रथम स्थिति करके वेदन करता है। प्रथमस्थिति करते समय प्रथम समय में सबसे थोड़े दलिकों का निक्षेप करता है। दूसरे समय असंख्यातगुणे दलिकों का, तीसरे समय में इससे असंख्यातगुणे दलिकों का निक्षेप करता है। इस प्रकार प्रथमस्थिति के अंतिम समय तक उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे दलिकों का निक्षेप करता है। प्रथमस्थिति

---

१ तिसु आवलियासु समऊणियासु अपडिग्गहा उ संजलणा।

—कर्मप्रकृति गा० १०७

करने के प्रथम समय से लेकर अप्रत्याख्यानावरण मान, प्रत्याख्यानावरण मान और संज्वलन मान के उपशम करने का एक साथ प्रारंभ करता है। संज्वलन मान की प्रथमस्थिति में एक समय कम तीन आवलिका काल के शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण मान और प्रत्याख्यानावरण मान के दलिकों का संज्वलन मान में प्रक्षेप न करके संज्वलन माया आदि में प्रक्षेप करता है दो आवलिका के शेष रहने पर आगाल नहीं होता किन्तु केवल उदीरणा ही होती है। एक आवलिका काल के शेष रहने पर संज्वलन मान के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण मान और प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम हो जाता है। उस समय संज्वलन मान की प्रथमस्थितिगत एक आवलिका प्रमाण दलिकों को और उपरितन स्थितिगत एक समय कम दो आवलिका काल में बद्ध दलिकों को छोड़कर शेष दलिक उपशान्त हो जाते हैं।

तदनंतर प्रथमस्थितिगत एक आवलिका प्रमाण संज्वलन मान के दलिकों का स्तिबुकसंक्रम के द्वारा क्रम से संज्वलन माया में निक्षेप करता है और एक समय कम दो आवलिका काल में बद्ध दलिकों का पुरुषवेद के समान उपशम करता है और पर-प्रकृति रूप से संक्रमण करता है। इस प्रकार अप्रत्याख्यानावरण मान और प्रत्याख्यानावरण मान के उपशम होने के बाद एक समय कम दो आवलिका काल में संज्वलन मान का उपशम हो जाता है। जिस समय संज्वलन मान के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है, उसके अनन्तर समय से लेकर संज्वलन माया की द्वितीय स्थिति से दलिकों को लेकर उनकी प्रथमस्थिति करके वेदन करता है तथा उसी समय से लेकर अप्रत्याख्यानावरण माया, प्रत्याख्यानावरण माया और संज्वलन माया के उपशम करने का एक साथ प्रारंभ करता है। संज्वलन माया की प्रथमस्थिति में एक समय कम तीन

आवलिका काल के शेष रहने पर अप्रत्याख्यानावरण माया और प्रत्याख्यानावरण माया के दलिकों का संज्वलन माया में प्रक्षेप न करके संज्वलन लोभ में प्रक्षेप करता है। दो आवलि काल के शेष रहने पर आगाल नहीं होता किन्तु केवल उदीरणा ही होती है। एक आवलिका काल शेष रहने पर संज्वलन माया के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद हो जाता है तथा अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम हो जाता है। उस समय संज्वलन माया की प्रथमस्थितिगत एक आवलिका प्रमाण दलिकों को और उपरितन स्थितिगत एक समय कम दो आवलिका काल में बद्ध दलिकों को छोड़कर शेष दलिक उपशान्त हो जाते हैं।

अनन्तर प्रथमस्थितिगत एक आवलिका प्रमाण दलिकों का स्तिबुकसंक्रम के द्वारा क्रम से संज्वलन माया में निक्षेप करता है और एक समय कम दो आवलिका काल में बद्ध दलिकों का पुरुषवेद के समान उपशम करता है और पर-प्रकृति रूप से संक्रमण करता है। इस प्रकार अप्रत्याख्यानावरण माया और प्रत्याख्यानावरण माया के उपशम होने के बाद एक समय कम दो आवलिका काल में संज्वलन माया का उपशम हो जाता है। जिस समय संज्वलन माया के बंध, उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है, उसके अनन्तर समय से लेकर संज्वलन लोभ की द्वितीयस्थिति से दलिकों को लेकर उनकी लोभ वेदक काल के तीन भागों में से दो भाग प्रमाण प्रथम स्थिति करके वेदन करता है। इनमें से पहले त्रिभाग का नाम अश्वकर्णकरण काल है और दूसरे त्रिभाग का नाम किट्टीकरणकाल है। प्रथम अश्वकर्णकरण काल में पूर्व स्पर्धकों से दलिकों को लेकर अपूर्व स्पर्धक करता है।

स्पर्धक की व्याख्या

जीव प्रति समय अनन्तानन्त परमाणुओं से बने हुए स्कंधों को

कर्म रूप से ग्रहण करता है। इनमें से प्रत्येक स्कंध में जो सबसे जघन्य रस वाला परमाणु है, उसके बुद्धि से छेद करने पर सब जीवों से अनंतगुणे अविभाग प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं। अन्य परमाणुओं में एक अधिक अविभाग प्रतिच्छेद प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सिद्धों के अनंतवें भाग अधिक इसके अविभाग प्रतिच्छेद प्राप्त होने तक प्रत्येक परमाणु में रस का एक-एक अविभाग प्रतिच्छेद बढ़ाते जाना चाहिये। यहां जघन्य रस वाले जितने परमाणु होते हैं, उनके समुदाय को एक वर्गणा कहते हैं। एक अधिक रसवाले परमाणुओं के समुदाय को दूसरी वर्गणा कहते हैं। दो अधिक रस वाले परमाणुओं के समुदाय को तीसरी वर्गणा कहते हैं। इस प्रकार कुल वर्गणायें सिद्धों के अनंतवें भाग प्रमाण या अभव्यों से अनंतगुणी प्राप्त होती है। इन सब वर्गणाओं के समुदाय को एक स्पर्धक कहते हैं।

दूसरे आदि स्पर्धक भी इसी प्रकार प्राप्त होते हैं किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रथम आदि स्पर्धकों की अंतिम वर्गणा के प्रत्येक वर्ग में जितने अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं, दूसरे आदि स्पर्धक की प्रथम वर्गणा के प्रत्येक वर्ग में सब जीवों से अनन्तगुणे रस के अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं और फिर अपने-अपने स्पर्धक की अंतिम वर्गणा तक रस का एक-एक अविभाग प्रतिच्छेद बढ़ता जाता है। ये सब स्पर्धक संसारी जीवों के प्रारंभ से ही यथायोग्य होते हैं। इसलिये इन्हें पूर्व स्पर्धक कहते हैं। किन्तु यहाँ पर उनमें से दलिकों को ले-लेकर उनके रस को अत्यन्त हीन कर दिया जाता है, इसलिये उनको अपूर्व स्पर्धक कहते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि संसार अवस्था में इस जीव ने बंध की अपेक्षा कभी भी ऐसे स्पर्धक नहीं किये थे, किन्तु विशुद्धि के प्रकर्ष से इस समय करता है, इसलिये इनको अपूर्व स्पर्धक कहा जाता है।

यह क्रिया पहले त्रिभाग में की जाती है। दूसरे त्रिभाग में पूर्व

स्पर्धकों और अपूर्व स्पर्धकों में से दलिकों को ले-लेकर प्रति समय अनन्त किट्टियां करता अर्थात् पूर्व स्पर्धकों और अपूर्व स्पर्धकों से वर्गणाओं को ग्रहण करके और उनके रस को अनन्तगुणा हीन करके रस के अविभाग प्रतिच्छेदों में अंतराल कर देता है। जैसे, मानलो रस के अविभाग प्रतिच्छेद, सौ, एक सौ एक और एक सौ दो थे, उन्हें घटा कर क्रम से पांच, पंद्रह और पच्चीस कर दिया, इसी का नाम किट्टीकरण है।

किट्टीकरण काल के अन्तिम समय में अप्रत्याख्यानावरण लोभ, प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम करता है तथा उसी समय संज्वलन लोभ का बंधविच्छेद होता है और बादर संज्वलन के उदय तथा उदीरणा के विच्छेद के साथ नौवें गुणस्थान का अंत हो जाता है। यहां तक मोहनीय की पच्चीस प्रकृतियां उपशांत हो जाती हैं।[1] अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण लोभ के उपशान्त हो जाने पर सत्ताईस प्रकृतियां उपशान्त हो जाती हैं। इसके बाद सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान होता है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त है। इसके पहले समय में उपरितन स्थिति में से कुछ किट्टियों को लेकर सूक्ष्मसंपराय काल के बराबर उनकी प्रथमस्थिति करके वेदन करता है और एक समय कम दो आवलिका में बंधे हुए सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त शेष दलिकों का उपशम करता है।

तदनन्तर सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अन्तिम समय में संज्वलन लोभ का उपशम हो जाता है। इस प्रकार मोहनीय की अट्ठाईस प्रकृतियां उपशान्त हो जाती हैं और उसी समय ज्ञानावरण की पांच,

---

१ अनिवृत्तिबादर गुणस्थान तक उपशांत प्रकृतियों की संख्या इस प्रकार है—

सत्तट्ठ नव य पनरस सोलस अट्ठारसेव इगुवीसा।
एगाहि दु चउवीसा पणवीसा बायरे जाण॥

दर्शनावरण की चार, अंतराय की पांच, यशःकीर्ति और उच्च गोत्र, इन सोलह प्रकृतियों का बंधविच्छेद होता है। इसके बाद दूसरे समय में ग्यारहवाँ गुणस्थान उपशान्तकषाय होता है। इसमें मोहनीय की सब प्रकृतियाँ उपशांत रहती हैं।[1] उपशांतकषाय गुणस्थान का जघन्य काल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है

उपशमश्रेणि के आरोहक के ग्यारहवें उपशांतमोह गुणस्थान में पहुँचने पर, इसके बाद नियम से उसका पतन होता है। पतन दो प्रकार से होता है—भवक्षय से और अद्धाक्षय से। आयु के समाप्त हो जाने पर जो पतन होता है वह भवक्षय से होने वाला पतन है। भव अर्थात् पर्याय और क्षय अर्थात् विनाश तथा उपशांतकषाय गुणस्थान के काल के समाप्त हो जाने पर जो पतन होता है वह अद्धाक्षय से होने वाला पतन है। जिसका भवक्षय से पतन होता है, उसके अनन्तर समय में अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान होता है और उसके पहले समय में ही बन्ध आदि सब करणों का प्रारम्भ हो जाता है। किन्तु जिसका अद्धाक्षय से पतन होता है अर्थात् उपशांतमोह गुणस्थान का काल समाप्त होने के अनन्तर जो पतन होता है, वह जिस क्रम से चढ़ता है, उसी क्रम से गिरता है। इसके जहां जिस करण की व्युच्छित्ति हुई, वहाँ पहुँचने पर उस करण का प्रारम्भ होता है और यह जीव प्रमत्तसंयत गुणस्थान में जाकर रुक जाता है। कोई-कोई देशविरत और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान को भी प्राप्त होता है तथा कोई सासादन भाव को भी प्राप्त होता है।

साधारणतः एक भव में एक बार उपशमश्रेणि को प्राप्त होता है। कदाचित् कोई जीव दो बार भी उपशमश्रेणि को प्राप्त होता है,

---

१ सत्तावीसं सुहुमे अट्ठावीसं पि मोहपयडीओ।
उवसंतवीयरागे उवसंता होंति नायव्वा॥

इससे अधिक बार नहीं। जो दो बार उपशमश्रेणि को प्राप्त होता है, उसके उस भव में क्षपकश्रेणि नहीं होती है लेकिन जो एक बार उपशमश्रेणि को प्राप्त होता है, उसके क्षपकश्रेणि होती भी है[1]।

गाथा में यद्यपि अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक इन सात प्रकृतियों का उपशम कहा है और उसका क्रम निर्देश किया है, परन्तु प्रसंग से यहां टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना और चारित्र मोहनीय की उपशमना का भी विवेचन किया है।

इस प्रकार उपशमश्रेणि का कथन करने के बाद अब क्षपकश्रेणि के कथन करने की इच्छा से पहले क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति कहां और किस क्रम से होती है, उसका निर्देश करते हैं।

पढमकसायचउक्कं एत्तो मिच्छत्तमीससम्मत्तं।
अविरय देसे विरए पमत्ति अपमत्ति खीयंति ॥६३॥

शब्दार्थ—**पढमकसायचउक्कं**—प्रथम कषाय चतुष्क (अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क) **एत्तो**—तदनन्तर, इसके बाद, **मिच्छत्तमीससम्मत्तं**—मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय का, **अविरय**—अविरत सम्यग्दृष्टि, **देसे**—देशविरत, **विरए**—विरत, **पमत्ति अपमत्ति**—प्रमत्त और अप्रमत्त, **खीयंति**—क्षय होता है।

गाथार्थ—अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत, इन चार गुणस्थानों में से किसी एक

---

१ जो दुवे वारे उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स नियमा तम्मि भवे खवगसेढी नत्थि, जो एक्कसिं उवसमसेढिं पडिवज्जइ तस्स खवगसेढी होज्ज वा।

—चूर्णि

लेकिन आगम के अभिप्रायानुसार एक भव में एक बार होती है—

मोहोपशम एकस्मिन् भवे द्विः स्यादसन्ततः।
यस्मिन् भवे तूपशमः क्षयो मोहस्य तत्र न ॥

गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क का और तदनन्तर मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व मोहनीय का क्रम से क्षय होता है।

विशेषार्थ—पूर्वगाथा में उपशमश्रेणि का कथन करने के बाद इस गाथा में क्षपकश्रेणि की प्रारम्भिक तैयारी के रूप में क्षपकश्रेणि की भूमिका का निर्देश किया गया है।

उपशमश्रेणि में मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम किया जाता है और क्षपकश्रेणि में उनका क्षय अर्थात् उपशमश्रेणि में प्रकृतियों की सत्ता तो बनी रहती है किन्तु अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकों का अन्तरकरण हो जाता है और द्वितीयस्थिति में स्थित दलिक संक्रमण आदि के अयोग्य हो जाते हैं, जिससे अन्तर्मुहूर्त काल तक उनका फल प्राप्त नहीं होता है। किन्तु क्षपकश्रेणि में उनका समूल नाश हो जाता है। कदाचित यह माना जाये कि बंधादि के द्वारा उनकी पुनः सत्ता प्राप्त हो जायेगी सो भी बात नहीं क्योंकि ऐसा नियम है कि सम्यग्दृष्टि के जिन प्रकृतियों का समूल क्षय हो जाता है, उनका न तो बंध ही होता है और न तद्रूप अन्य प्रकृतियों का संक्रम ही। इसलिए ऐसी स्थिति में पुनः ऐसी प्रकृतियों की सत्ता सम्भव नहीं है। हां, अनन्तानुबन्धी चतुष्क इस नियम का अपवाद है, इसलिये उसका क्षय विसंयोजना शब्द के द्वारा कहा जाता है। इस प्रासंगिक चर्चा के पश्चात् अब क्षपकश्रेणि का विवेचन करते हैं। सर्वप्रथम उसके कर्ता की योग्यता आदि को बतलाते हैं।

क्षपकश्रेणि का आरंभक

क्षपकश्रेणि का आरम्भ आठ वर्ष से अधिक आयु वाले उत्तम संहनन के धारक, चौथे, पांचवें, छठे या सातवें गुणस्थानवर्ती जिन-कालिक मनुष्य के ही होता है, अन्य के नहीं। सबसे पहले वह अनंता-

नुबंधी चतुष्क का विसंयोजन करता है। तदनन्तर मिथ्यात्व, सम्यग्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की एक साथ क्षपणा का प्रारम्भ करता है। इसके लिये यथाप्रवृत्त आदि तीन करण होते हैं। इन करणों का कथन पहले किया जा चुका है, उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिये। किन्तु इतनी विशेषता है कि अपूर्वकरण के पहले समय में अनुदयरूप मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व के दलिकों का गुणसंक्रम के द्वारा सम्यक्त्व में निक्षेप किया जाता है तथा अपूर्वकरण में इन दोनों का उद्वलना संक्रम भी होता है। इसमें सर्वप्रथम सबसे बड़े स्थितिखण्ड की उद्वलना की जाती है। तदनन्तर एक-एक विशेष कम स्थिति-खण्डों की उद्वलना की जाती है। यह क्रम अपूर्वकरण के अन्तिम समय तक चालू रहता है। इससे अपूर्वकरण के पहले समय में जितनी स्थिति होती है, उससे अन्तिम समय में संख्यातगुणहीन यानि संख्या-तवां भाग स्थिति रह जाती है।

इसके बाद अनिवृत्तिकरण में प्रवेश कर जाता है। यहाँ भी स्थिति-घात आदि कार्य पहले के समान चालू रहते हैं। अनिवृत्तिकरण के पहले समय में दर्शनत्रिक की देशोपशमना, निधत्ति और निकाचना का विच्छेद हो जाता है। अनिवृत्तिकरण के पहले समय से लेकर हजारों स्थितिखण्डों का घात हो जाने पर दर्शनत्रिक की स्थितिसत्ता असंज्ञी के योग्य शेष रह जाती है। इसके बाद हजार पृथक्त्व प्रमाण स्थिति-खण्डों का घात हो जाने पर चतुरिन्द्रिय जीव के योग्य स्थितिसत्ता शेष रहती है। इसके बाद उक्त प्रमाण स्थितिखण्डों का घात हो जाने पर त्रीन्द्रिय जीव के योग्य स्थितिसत्ता शेष रहती है। इसके बाद पुनः उक्त प्रमाण स्थितिखण्डों का घात हो जाने पर द्वीन्द्रिय जीव के योग्य स्थितिसत्ता शेष रहती है। इसके बाद पुनः उक्त प्रमाण स्थितिखण्डों का घात हो जाने पर एकेन्द्रिय जीव के योग्य स्थितिसत्ता शेष रहती है।

तदनन्तर तीनों प्रकृतियों की स्थिति के एक भाग को छोड़कर शेष बहुभाग का घात करता है तथा उसके बाद पुनः एक भाग को छोड़कर शेष बहुभाग का घात करता है। इस प्रकार इस क्रम से भी हजारों स्थितिखंडों का घात करता है। तदनन्तर मिथ्यात्व की स्थिति के असंख्यात भागों का तथा सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के संख्यात भागों का घात करता है। इस प्रकार प्रभूत स्थितिखंडों के व्यतीत हो जाने पर मिथ्यात्व के दलिक आवलिप्रमाण शेष रहते हैं तथा सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के दलिक पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण शेष रहते हैं। उपर्युक्त इन स्थितिखंडों का घात करते समय मिथ्यात्व सम्बन्धी दलिकों का सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व में, सम्यग्मिथ्यात्व सम्बन्धी दलिकों का सम्यक्त्व में और सम्यक्त्व सम्बन्धी दलिकों का अपने से कम स्थिति वाले दलिकों में निक्षेप किया जाता है। इस प्रकार जब मिथ्यात्व के एक आवलि प्रमाण दलिक शेष रहते हैं तब उनका भी स्तिबुकसंक्रम के द्वारा सम्यक्त्व में निक्षेप किया जाता है। तदनन्तर सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के असंख्यात भागों का घात करता है और एक भाग शेष रहता है। तदनन्तर जो एक भाग बचता है, उसके असंख्यात भागों का घात करता है और एक भाग शेष रहता है। इस प्रकार इस क्रम से कितने ही स्थिति-खंडों के व्यतीत हो जाने पर सम्यग्मिथ्यात्व की भी एक आवलि प्रमाण और सम्यक्त्व की आठ वर्ष प्रमाण स्थिति शेष रहती है।

इसी समय यह जीव निश्चयनय की दृष्टि से दर्शन-मोहनीय का क्षपक माना जाता है। इसके बाद सम्यक्त्व के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति खंड की उत्कीरणा करता है। उत्कीरणा करते समय दलिक का उदय समय से लेकर निक्षेप करता है। उदय समय में सबसे थोड़े दलिकों का निक्षेप करता है। दूसरे समय में असंख्यात गुणे दलिकों का, तीसरे समय में असंख्यातगुणे दलिकों का निक्षेप करता है। इस प्रकार यह

अन्य गुणश्रेणि के अन्त तक चालू रहता है। इसके आगे अन्तिम स्थिति प्राप्त होने तक उत्तरोत्तर कम-कम दलिकों का निक्षेप करता है।

यह क्रम द्विचरम स्थितिखंड के प्राप्त होने तक चालू रहता है। किन्तु द्विचरम स्थितिखंड से अन्तिम स्थितिखंड संख्यातगुणा बड़ा होता है। जब यह जीव सम्यक्त्व के अन्तिम स्थितिखंड की उत्कीरणा कर चुकता है तब उसे कृतकरण कहते हैं। इस कृतकरण के काल में यदि कोई जीव मरता है तो वह चारों गतियों में से परभव सम्बन्धी आयु के अनुसार किसी भी गति में उत्पन्न होता है। इस समय यह शुक्ल लेश्या को छोड़कर अन्य लेश्याओं को भी प्राप्त होता है। इस प्रकार दर्शनमोहनीय की क्षपणा का प्रारम्भ मनुष्य ही करता है। किन्तु उसकी समाप्ति चारों गतियों में होती है। कहा भी है—

पट्ठवगो उ मणूसो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु।

दर्शनमोहनीय की क्षपणा का प्रारम्भ मनुष्य ही करता है किन्तु उसकी समाप्ति चारों गतियों में होती है।

यदि बद्धायुष्क जीव क्षपकश्रेणि का प्रारम्भ करता है तो अनन्तानुबंधी चतुष्क का क्षय हो जाने के पश्चात् उसका मरण होना भी सम्भव है। उस स्थिति में मिथ्यात्व का उदय हो जाने से यह जीव पुनः अनन्तानुबंधी का बंध और संक्रम द्वारा संचय करता है, क्योंकि मिथ्यात्व के उदय में अनन्तानुबंधी की नियम से सत्ता पाई जाती है। किन्तु जिसने मिथ्यात्व का क्षय कर दिया है, वह पुनः अनन्तानुबंधी चतुष्क का संचय नहीं करता है। सात प्रकृतियों का क्षय हो जाने पर जिसके परिणाम नहीं बदले वह मरकर नियम से देवों में उत्पन्न होता

है, किन्तु जिसके परिणाम बदल जाते हैं वह परिणामानुसार अन्य गतियों में भी उत्पन्न होता है।[1]

बद्धायु होने पर भी यदि कोई जीव उस समय मरण नहीं करता तो सात प्रकृतियों का क्षय होने पर वह वहीं ठहर जाता है, चारित्र मोहनीय के क्षय का यत्न नहीं करता है—

बद्धाऊ पडिवन्नो, नियमा खीणम्मि सत्तए ठाइ[2]।

लेकिन जो बद्धायु जीव सात प्रकृतियों का क्षय करके देव या नारक होता है, वह नियम से तीसरी पर्याय में मोक्ष को प्राप्त करता है और जो मनुष्य या तिर्यंच होता है, वह असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्यों और तिर्यंचों में ही उत्पन्न होता है, इसीलिये वह नियम से चौथे भव में मोक्ष को प्राप्त होता है।[3]

यदि अबद्धायुष्क जीव क्षपकश्रेणि प्रारम्भ करता है तो वह सात प्रकृतियों का क्षय हो जाने पर चारित्रमोहनीयकर्म के क्षय करने का यत्न करता है।[4] क्योंकि चारित्रमोहनीय की क्षपणा करने वाला मनुष्य अबद्धायु ही होता है, इसलिये उसके नरकायु, देवायु और तिर्यंचायु की सत्ता तो स्वभावतः ही नहीं पाई जाती है तथा अनन्तानुबंधी चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक का क्षय पूर्वोक्त क्रम से हो जाता

---

१ बद्धाऊ पडिवन्नो पढमसायखए जइ मरिज्जा।
तो मिच्छत्तोदयओ विणिज्ज भूयो न खीणम्मि॥
तम्मि भवो जाइ दिवं तप्परिणामो य सत्तए खीणे।
उवरयपरिणामो पुण पच्छा नाणामईगईओ॥
—विशेषा० गा० १३१६-१७

२ विशेषा० गा० १३२५

३ तइय चउत्थे तम्मि व भवम्मि सिज्झंति दंसणे खीणे।
जं देवनिरयअसंखाउचरिमदेहेसु ते होंति॥
—पंचसंग्रह गा० ७७६

४ इयरो अणुदरओ चिय, सयलं सट्ठि समाणेइ। —विशेषा० गा० १३२५

है, अतः चारित्रमोहनीय की क्षपणा करने वाले जीव के उक्त दस प्रकृतियों की सत्ता नियम से नहीं होती है।

जो जीव चारित्रमोहनीय की क्षपणा करता है, उसके भी यथाप्रवृत्त आदि तीन करण होते हैं। यहाँ यथाप्रवृत्तकरण सातवें गुणस्थान में होता है और आठवें गुणस्थान की अपूर्वकरण और नौवें गुणस्थान की अनिवृत्तिकरण संज्ञा है ही। इन तीन करणों का स्वरूप पहले बतलाया जा चुका है, तदनुसार यहाँ भी समझ लेना चाहिये। यहाँ अपूर्वकरण में यह जीव स्थितिघात आदि के द्वारा अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय की आठ प्रकृतियों का इस प्रकार क्षय करता है, जिससे नौवें गुणस्थान के पहले समय में इनकी स्थिति पल्य के असंख्यातवें भाग शेष रहती है तथा अनिवृत्तिकरण के संख्यात बहुभागों के बीत जाने पर—स्त्यानर्द्धित्रिक, नरकगति, नरकानुपूर्वी, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, एकेन्द्रिय आदि जातिचतुष्क, स्थावर, आतप, उद्योत, सूक्ष्म और साधारण, इन सोलह प्रकृतियों की स्थिति की संक्रम के द्वारा उद्वलना होने पर वह पल्य के असंख्यातवें भाग मात्र शेष रह जाती है। तदनन्तर गुणसंक्रम के द्वारा उनका प्रतिसमय बध्यमान प्रकृतियों में प्रक्षेप करके उन्हें पूरी तरह से क्षीण कर दिया जाता है। यद्यपि अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय की आठ प्रकृतियों के क्षय का प्रारम्भ पहले ही कर दिया जाता है तो भी इनका क्षय होने के पहले मध्य में ही उक्त स्त्यानर्द्धित्रिक आदि सोलह प्रकृतियों का क्षय हो जाता है और इनके क्षय हो जाने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में उक्त आठ प्रकृतियों का क्षय होता है।[1]

---

१ अनियट्टिबायरे थीणगिद्धितिगनिरयतिरियनामाओ।
संखेज्ज इमे सेसे तप्पाओगाओ खीयंति॥
एत्तो हणइ कसायट्ठगं पि·····

मतान्तर का उल्लेख

किन्तु इस विषय में किन्हीं आचार्यों का ऐसा भी मत है कि यद्यपि सोलह कषायों के क्षय का प्रारम्भ पहले कर दिया जाता है, तो भी आठ कषायों के क्षय हो जाने पर ही उक्त स्त्यानर्द्धित्रिक आदि सोलह प्रकृतियों का क्षय होता है। इसके पश्चात् नौ नोकषायों और चार संज्वलन, इन तेरह प्रकृतियों का अन्तरकरण करता है। अन्तरकरण करने के बाद नपुंसकवेद के उपरितन स्थितिगत दलिकों का उद्वलना विधि से क्षय करता है और इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त में उसकी पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण स्थिति शेष रह जाती है। तत्पश्चात् इसके (नपुंसकवेद के) दलिकों का गुणसंक्रम के द्वारा बंधने वाली अन्य प्रकृतियों में निक्षेप करता है। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त में इसका समूल नाश हो जाता है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि जो जीव नपुंसकवेद के उदय के साथ क्षपकश्रेणि पर चढ़ता है वह उसके अधस्तन दलिकों का वेदन करते हुए क्षय करता है। इस प्रकार नपुंसक वेद का क्षय हो जाने पर अन्तर्मुहूर्त में इसी क्रम से स्त्रीवेद का क्षय किया जाता है। तदनन्तर छह नोकषायों के क्षय का एक साथ प्रारम्भ किया जाता है। छह नोकषायों के क्षय का आरम्भ कर लेने के पश्चात् इनका संक्रमण पुरुषवेद में न होकर संज्वलन क्रोध में होता है और इस प्रकार इनका क्षय कर दिया जाता है। सूत्र में भी कहा है—

.....पच्छा नपुंसगं इत्थी।
तो नोकसायछक्कं छुब्भइ संजलणकोहम्मि ॥

जिस समय छह नोकषायों का क्षय होता है, उसी समय पुरुषवेद के बंध, उदय और उदीरणा की व्युच्छित्ति होती है तथा एक समय कम दो आवलि प्रमाण समय प्रबद्ध को छोड़कर पुरुषवेद के शेष दलिकों

का क्षय हो जाता है। यहाँ पुरुषवेद के उदय और उदीरणा का विच्छेद हो चुका है, इसलिये यह अपगतवेदी हो जाता है।

उक्त कथन पुरुषवेद के उदय से क्षपकश्रेणि का आरोहण करने वाले जीव की अपेक्षा जानना चाहिये। किन्तु जो जीव नपुंसकवेद के उदय से क्षपकश्रेणि पर चढ़ता है, वह स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का एक साथ क्षय करता है तथा इसके जिस समय स्त्रीवेद और नपुंसकवेद का क्षय होता है, उसी समय पुरुषवेद का बंधविच्छेद होता है और इसके बाद वह अपगतवेदी होकर पुरुषवेद और छह नोकषायों का एक साथ क्षय करता है। यदि कोई जीव स्त्रीवेद के उदय से क्षपकश्रेणि पर चढ़ता है तो वह नपुंसकवेद का क्षय हो जाने के पश्चात् स्त्रीवेद का क्षय करता है, किन्तु इसके भी स्त्रीवेद के क्षय होने के समय ही पुरुषवेद का बंधविच्छेद होता है और इसके बाद अपगतवेदी होकर पुरुषवेद और छह नोकषायों का एक साथ क्षय करता है।

पुरुषवेद के आधार से क्षपकश्रेणि का वर्णन

जो जीव पुरुषवेद के उदय से क्षपकश्रेणि पर आरोहण कर क्रोध कषाय का वेदन कर रहा है तो उसके पुरुषवेद का उदयविच्छेद होने के बाद क्रोध कषाय का काल तीन भागों में बँट जाता है—अश्वकर्णकरणकाल[1], किट्टीकरणकाल[2] और किट्टीवेदन

---

१ अश्वकर्णकरण काल—घोड़े के कान को अश्वकर्ण कहते हैं। यह मूल में बड़ा और ऊपर की ओर क्रम से घटता हुआ होता है। इसी प्रकार जिस करण में क्रोध से लेकर लोभ तक चारों संज्वलनों का अनुभाग उत्तरोत्तर अनंत-गुणहीन हो जाता है, उस करण को अश्वकर्णकरण कहते हैं। इसके आदोलकरण और उद्वर्तनापवर्तनकरण, ये दो नाम और देखने को मिलते हैं।

२ किट्टीकरण—किट्टी का अर्थ कृश करना है। अतः जिस करण में पूर्व

काल[1]। इनमें से जब यह जीव अश्वकर्णकरण के काल में विद्यमान रहता है तब चारों संज्वलनों की अन्तरकरण से ऊपर की स्थिति में प्रतिसमय अनन्त अपूर्व स्पर्धक करता है तथा एक समय कम दो आवलिका प्रमाणकाल में बद्ध पुरुषवेद के दलिकों को इतने ही काल में संज्वलन क्रोध में संक्रमण कर नष्ट करता है। यहाँ पहले गुणसंक्रम होता है और अंतिम समय में सर्वसंक्रम होता है। अश्वकर्णकरण काल के समाप्त हो जाने पर किट्टीकरणकाल में प्रवेश करता है। यद्यपि किट्टियाँ अनन्त हैं पर स्थूल रूप से वे बारह हैं, जो प्रत्येक कषाय में तीन-तीन प्राप्त होती हैं। किन्तु जो जीव मान के उदय से क्षपकश्रेणि पर चढ़ता है वह उद्वलना विधि से क्रोध का क्षय करके शेष तीन कषायों की नौ किट्टी करता है। यदि माया के उदय से क्षपकश्रेणि पर चढ़ता है तो क्रोध और मान का उद्वलना विधि से क्षय करके शेष दो कषायों की छह किट्टियां करता है और यदि लोभ के उदय से क्षपकश्रेणि चढ़ता है तो उद्वलना विधि से क्रोध, मान और माया इन तीन का क्षय करके लोभ की तीन किट्टियां करता है।

इस प्रकार किट्टीकरण के काल के समाप्त हो जाने पर क्रोध के उदय से क्षपकश्रेणि पर चढ़ा हुआ जीव क्रोध की प्रथम किट्टी की द्वितीयस्थिति में स्थित दलिक का अपकर्षण करके प्रथमस्थिति करता है और एक समय अधिक एक आवलिका प्रमाणकाल के शेष रहने तक उसका वेदन करता है। अनन्तर दूसरी किट्टी की दूसरी स्थिति में स्थित दलिक का अपकर्षण करके प्रथमस्थिति करता है

स्पर्धकों और अपूर्व स्पर्धकों में से दलिकों को ले-लेकर उनके अनुभाग को अनन्त गुणहीन करके अंतराल से स्थापित किया जाता है, उसको किट्टीकरण कहते हैं।

१ किट्टी वेदनकाल—किट्टियों के वेदन करने, अनुभव करने के काल को किट्टीवेदनकाल कहते हैं।

और एक समय अधिक एक आवलिका प्रमाणकाल के शेष रहने तक उसका वेदन करता है। उसके बाद तीसरी किट्टी की दूसरीस्थिति में स्थित दलिक का अपकर्षण करके प्रथमस्थिति करता है और एक समय अधिक एक आवलिका प्रमाणकाल के शेष रहने तक उसका वेदन करता है तथा इन तीनों किट्टियों के वेदन काल के समय उपरितन स्थितिगत दलिक का गुणसंक्रम के द्वारा प्रति समय संज्वलन मान में निक्षेप करता है और जब तीसरी किट्टी के वेदन का अंतिम समय प्राप्त होता है तब संज्वलन क्रोध के बंध, उदय और उदीरणा का एक साथ विच्छेद हो जाता है।

इस समय इसके एक समय कम दो आवलिका प्रमाणकाल के द्वारा बंधे हुए दलिकों को छोड़कर शेष का अभाव हो जाता है। तत्पश्चात् मान की प्रथम किट्टी की दूसरीस्थिति में स्थित दलिक का अपकर्षण करके प्रथमस्थिति करता है और एक अन्तर्मुहूर्त काल तक उसका वेदन करता है तथा मान की प्रथम किट्टी के वेदनकाल के भीतर ही एक समय कम दो आवलिका प्रमाणकाल के द्वारा संज्वलन क्रोध के बंधकाल प्रमाण क्रमण भी करता है। यहाँ दो समय कम दो आवलिका काल तक गुणसंक्रम होता है और अंतिम समय में सर्व संक्रम होता है।

इस प्रकार मान की प्रथम किट्टी का एक समय अधिक एक आवलिका शेष रहने तक वेदन करता है और तत्पश्चात् मान की दूसरी किट्टी की दूसरीस्थिति में स्थित दलिक का अपकर्षण करके प्रथमस्थिति करता है और एक समय अधिक तक आवलिका काल के शेष रहने तक उसका वेदन करता है। तत्पश्चात् तीसरी किट्टी की दूसरीस्थिति में स्थित दलिक का अपकर्षण करके प्रथमस्थिति करता है और एक समय अधिक एक आवलिका काल के शेष रहने तक उसका वेदन करता है। इसी समय मान के बंध, उदय और

उदीरणा का विच्छेद हो जाता है तथा सत्ता में केवल एक समय कम दो आवलिका के द्वारा बंधे हुए दलिक शेष रहते हैं और बाकी सबका अभाव हो जाता है।

तत्पश्चात् माया की प्रथम किट्टी की दूसरीस्थिति में स्थित दलिक का अपकर्षण करके प्रथमस्थिति करता है और एक अन्तर्मुहूर्त काल तक उसका वेदन करता है तथा मान के बंध आदिक के विच्छिन्न हो जाने पर उसके दलिक का एक समय कम दो आवलिका काल में गुणसंक्रम के द्वारा माया में करता है। माया की प्रथम किट्टी का एक समय अधिक एक आवलिका काल शेष रहने तक वेदन करता है। तत्पश्चात् माया की दूसरी किट्टी की दूसरी स्थिति में स्थित दलिक का अपकर्षण करके प्रथमस्थिति करता है और एक समय अधिक एक आवलिका प्रमाण काल के शेष रहने तक उसका वेदन करता है। उसके बाद माया की तीसरी किट्टी की दूसरी स्थिति में स्थित दलिक का अपकर्षण करके प्रथमस्थिति करता है और उसका एक समय अधिक एक आवलिका काल के शेष रहने तक वेदन करता है। इसी समय माया के बंध, उदय और उदीरणा का एक साथ विच्छेद हो जाता है तथा सत्ता में केवल एक समय कम दो आवलिका के द्वारा बंधे हुए दलिक शेष रहते हैं, शेष का अभाव हो जाता है।

तत्पश्चात् लोभ की प्रथम किट्टी की दूसरीस्थिति में स्थित दलिक का अपकर्षण करके प्रथमस्थिति करता है और एक अन्तर्मुहूर्त काल तक उसका वेदन करता है तथा माया के बंध आदिक के विच्छिन्न हो जाने पर उसके नवीन बंधे हुए दलिक का एक समय कम दो आवलिका काल में गुणसंक्रम के द्वारा लोभ में निक्षेप करता है तथा माया की प्रथम किट्टी का एक समय अधिक आवलिका काल के शेष रहने तक ही वेदन करता है।

अनन्तर लोभ की दूसरी किट्टी की दूसरी स्थिति में दलिक का अपकर्षण करके प्रथमस्थिति करता है और एक समय अधिक एक आवलिका काल के शेष रहने तक उसका वेदन करता है। जब यह जीव दूसरी किट्टी का वेदन करता है तब तीसरी किट्टी के दलिक की सूक्ष्म किट्टी करता है। यह क्रिया भी दूसरी किट्टी के वेदन-काल के समान एक समय अधिक एक आवलिका काल के शेष रहने तक चालू रहती है। जिस समय सूक्ष्म किट्टी करने का कार्य समाप्त होता है, उसी समय संज्वलन लोभ का बंधविच्छेद, बादरकषाय के उदय और उदीरणा का विच्छेद तथा अनिवृत्तिबादर संपराय गुणस्थान के काल का विच्छेद होता है।

तदनन्तर सूक्ष्म किट्टी की दूसरी स्थिति में स्थित दलिक का अपकर्षण करके प्रथम स्थिति करता है और उसका वेदन करता है। इसी समय से यह जीव सूक्ष्मसंपराय कहलाता है।

सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के काल में एक भाग के शेष रहने तक यह जीव एक समय कम दो आवलिका के द्वारा बंधे हुए सूक्ष्म किट्टी-गत दलिक का स्थितिघात आदि के द्वारा प्रत्येक समय में क्षय भी करता है। तदनन्तर जो एक भाग शेष रहता है, उसमें सर्वापवर्तना के द्वारा संज्वलन लोभ का अपवर्तन करके उसे सूक्ष्मसंपराय गुण-स्थान काल के बराबर करता है। सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त ही है। यहाँ से आगे संज्वलन लोभ के स्थितिघात आदि कार्य होना बन्द हो जाते हैं किन्तु शेष कर्मों के स्थितिघात आदि कार्य बराबर होते रहते हैं। सर्वापवर्तना के द्वारा अपवर्तित की गई इस स्थिति का उदय और उदीरणा के द्वारा एक समय अधिक एक आवलिका काल के शेष रहने तक वेदन करता है। तत्पश्चात् उदी-रणा का विच्छेद हो जाता है और सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अन्तिम समय तक सूक्ष्मलोभ का केवल उदय ही रहता है।

सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान के अन्तिम समय में ज्ञानावरण की पांच, दर्शनावरण की चार, अन्तराय की पांच, यशःकीर्ति और उच्चगोत्र, इन सोलह प्रकृतियों का बंधविच्छेद तथा मोहनीय का उदय और सत्ता विच्छेद हो जाता है।

इस प्रकार से मोहनीय की क्षपणा का क्रम बतलाने के बाद अब पूर्वोक्त अर्थ का संकलन करने के लिये आगे की गाथा कहते हैं—

पुरिसं कोहे कोहं माणे माणं च छुहइ मायाए।
मायं च छुहइ लोहे लोहं सुहुमं पि तो हणइ[1] ॥६४॥

शब्दार्थ—**पुरिसं**—पुरुषवेद को, **कोहे**—संज्वलन क्रोध में, **कोहं**—क्रोध को, **माणे**—संज्वलन मान में, **माणं**—मान को, **च**—और, **छुहइ**—संक्रमित करता है, **मायाए**—संज्वलन माया में, **मायं**—माया को, **च**—और, **छुहइ**—संक्रमित करता है, **लोहे**—संज्वलन लोभ में, **लोहं**—लोभ को, **सुहुमं**—सूक्ष्म, **पि**—भी, **तो**—उसके बाद, **हणइ**—क्षय करता है।

गाथार्थ—पुरुषवेद को संज्वलन क्रोध में, क्रोध को संज्वलन मान में, मान को संज्वलन माया में, माया को संज्वलन लोभ में संक्रमित करता है, उसके बाद सूक्ष्म लोभ का भी स्वोदय से क्षय करता है।

विशेषार्थ—गाथा में संज्वलन क्रोध आदि चतुष्क के क्षय का क्रम बतलाया है।

इसके लिये सर्वप्रथम बतलाते हैं कि पुरुषवेद के बंध आदि का

१ तुलना कीजिये—

कोहं च छुहइ माणे माणं मायाए णियमसा छुहइ।
मायं च छुहइ लोहे पंडिलोमो संकियो णत्थि ॥

—कषाय पाहुड, क्षपणाधिकार

विच्छेद हो जाने पर उसका गुणसंक्रमण के द्वारा संज्वलन क्रोध में संक्रमण करता है। संज्वलन क्रोध के बंध आदि का विच्छेद हो जाने पर उसका संज्वलन मान में संक्रमण करता है। संज्वलन मान के बंध आदि का विच्छेद हो जाने पर उसका संज्वलन माया में संक्रमण करता है। संज्वलन माया के भी बंध आदि का विच्छेद हो जाने पर उसका संज्वलन लोभ में संक्रमण करता है तथा संज्वलन लोभ के बंध आदि का विच्छेद हो जाने पर सूक्ष्म किट्टीगत लोभ का विनाश करता है।

इस प्रकार से संज्वलन क्रोध आदि कषायों की स्थिति हो जाने के बाद आगे की स्थिति बतलाते हैं कि लोभ का पूरी तरह से क्षय हो जाने पर उसके बाद के समय में क्षीणकषाय होता है क्षीणकषाय के काल के बहुभाग के व्यतीत होने तक शेष कर्मों के स्थितिघात आदि कार्य पहले के समान चालू रहते हैं किन्तु जब एक भाग शेष रह जाता है तब ज्ञानावरण की पाँच, दर्शनावरण की चार, अन्तराय की पाँच और निद्राद्विक, इन सोलह प्रकृतियों की स्थिति का घात सर्वापवर्तना के द्वारा अपवर्तन करके उसे क्षीणकषाय के शेष रहे हुए काल के बराबर करता है। केवल निद्राद्विक की स्थिति स्वरूप की अपेक्षा एक समय कम रहती है। सामान्य कर्म की अपेक्षा तो इनकी स्थिति शेष कर्मों के समान ही रहती है। क्षीणकषाय के सम्पूर्ण काल की अपेक्षा यह काल यद्यपि उसका एक भाग है तो भी उसका प्रमाण अन्तर्मुहूर्त होता है। इनकी स्थिति क्षीणकषाय के काल के बराबर होते ही इनमें स्थितिघात आदि कार्य नहीं होते किन्तु शेष कर्मों के होते हैं। निद्राद्विक के बिना शेष चौदह प्रकृतियों का एक समय अधिक एक आवलि काल के शेष रहने तक उदय और उदीरणा दोनों होते हैं। अनन्तर एक आवलि काल तक केवल उदय ही होता है। क्षीणकषाय के

उपान्त्य समय में निद्राद्विक का स्वरूपसत्ता की अपेक्षा क्षय करता है और अन्तिम समय में शेष चौदह प्रकृतियों का क्षय करता है—

खीणकसायदुचरिमे निद्दा पयला य हणइ छउमत्थो ।
आवरणमंतराए छउमत्थो चरिमसमयम्मि ॥

इसके अनन्तर समय में यह जीव सयोगिकेवली होता है। जिसे जिन, केवलज्ञानी भी कहते हैं। सयोगिकेवली हो जाने पर वह लोकालोक का पूरी तरह ज्ञाता-द्रष्टा होता है। संसार में ऐसा कोई पदार्थ न है, न हुआ और न होगा जिसे जिनदेव नहीं जानते हैं। अर्थात् वे सबको जानते और देखते हैं—

संभिन्नं पासंतो लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं ।
तं नत्थि जं न पासइ भूयं भव्वं भविस्सं च ॥

इस प्रकार सयोगिकेवली जघन्य से अन्तर्मुहूर्त तक और उत्कृष्ट से कुछ कम पूर्वकोटि काल तक विहार करते हैं। सयोगिकेवली अवस्था प्राप्त होने तक चार घातीकर्म—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय—निःशेष रूप से क्षय हो जाते हैं, किन्तु शेष वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र ये चार अघातिकर्म शेष रह जाते हैं। अतः यदि आयुकर्म को छोड़कर शेष वेदनीय, नाम, गोत्र, इन तीन कर्मों की स्थिति आयुकर्म की स्थिति से अधिक होती है तो उनकी स्थिति को आयुकर्म की स्थिति के बराबर करने के लिये अन्त में समुद्घात करते हैं और यदि उक्त शेष तीन कर्मों की स्थिति आयुकर्म के बराबर होती है तो समुद्घात नहीं करते हैं। प्रज्ञापना सूत्र में कहा भी है—

सव्वे वि णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छंति ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे ।
जस्साउएण तुल्लाइं बंधणेहिं ठिईहि य ।
भवोवग्गहकम्माइं न समुग्घायं स गच्छइ ॥

अणंतूणं समुग्घायमणंता केवली जिणा।
जरमरणविप्पमुक्का सिद्धिं वरगइं गया॥

समुद्घात की व्याख्या

मूल शरीर को न छोड़कर आत्म-प्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है। इसके सात भेद हैं—वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात, मारणान्तिकसमुद्घात, तैजससमुद्घात, वैक्रियसमुद्घात, आहारकसमुद्घात और केवलिसमुद्घात। इन सात भेदों के संक्षेप में लक्षण इस प्रकार हैं—

तीव्र वेदना के कारण जो समुद्घात होता है, उसको वेदना समुद्घात कहते हैं। क्रोध आदि के निमित्त से जो समुद्घात होता है उसे कषायसमुद्घात कहते हैं। मरण के पहले उस निमित्त से जो समुद्घात होता है उसे मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं। जीवों के अनुग्रह या विनाश करने में समर्थ तैजस शरीर की रचना के लिये जो समुद्घात होता है उसे तैजससमुद्घात कहते हैं। वैक्रियशरीर के निमित्त से जो समुद्घात होता है उसे वैक्रियसमुद्घात कहते हैं, आहारकशरीर के निमित्त से जो समुद्घात होता है उसे आहारक समुद्घात कहते हैं तथा वेदनीय आदि तीन अघाति कर्मों की स्थिति आयुकर्म की स्थिति के बराबर करने के लिये जिन (केवलज्ञानी) जो समुद्घात करते हैं, उसे केवलिसमुद्घात कहते हैं।

केवलिसमुद्घात का काल आठ समय है। पहले समय में स्वशरीर का जितना आकार है तत्प्रमाण आत्म-प्रदेशों को ऊपर और नीचे लोक के अन्तपर्यन्त रचते हैं, उसे दण्डसमुद्घात कहते हैं। दूसरे समय में पूर्व और पश्चिम या दक्षिण और उत्तर दिशा में कपाटरूप से आत्म-प्रदेशों को फैलाते हैं। तीसरे समय में मंथानसमुद्घात करते हैं अर्थात् मथानी के आकार में आठों दिशाओं में आत्म-प्रदेशों का फैलाव

होता है। चौथे समय में लोक में जो अवकाश शेष रहता है उसे भर देते है। इसे लोकपूरण अवस्था कहते हैं। इस प्रकार से लोक-पूरित स्थिति बन जाने के पश्चात् पाँचवें समय में संकोच करते हैं और आत्म-प्रदेशों को मंथान के रूप में परिणत कर लेते हैं। छठे समय में मंथान रूप अवस्था का संकोच करते हैं। सातवें समय में पुनः कपाट अवस्था को संकोचते हैं और आठवें समय में स्वशरीरस्थ हो जाते हैं।

इस प्रकार यह केवलिसमुद्घात की प्रक्रिया है।

योग-निरोध की प्रक्रिया

जो केवली समुद्घात को प्राप्त होते हैं वे समुद्घात के पश्चात् और जो समुद्घात को प्राप्त नहीं होते हैं वे योग-निरोध के योग्य काल के शेष रहने पर योग-निरोध का प्रारम्भ करते हैं।

इसमें सबसे पहले बादर काययोग के द्वारा बादर मनोयोग को रोकते हैं। तत्पश्चात बादर वचनयोग को रोकते हैं। इसके बाद सूक्ष्म काययोग के द्वारा बादर काययोग को रोकते हैं। तत्पश्चात् सूक्ष्म मनोयोग को रोकते हैं। तत्पश्चात् सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं। तत्पश्चात् सूक्ष्म काययोग को रोकते हुए सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान को प्राप्त होते हैं। इस ध्यान की सामर्थ्य से आत्मप्रदेश संकुचित होकर निश्छिद्र हो जाते हैं। इस ध्यान में स्थितिघात आदि के द्वारा सयोगि अवस्था के अन्तिम समय तक आयुकर्म के सिवाय भव का उपकार करने वाले शेष सब कर्मों का अपवर्तन करते हैं, जिससे सयोगि-केवली के अन्तिम समय में सब कर्मों की स्थिति अयोगिकेवली गुणस्थान के काल के बराबर हो जाती है। यहाँ इतनी विशेषता है कि जिन कर्मों का अयोगिकेवली के उदय नहीं होता उनकी स्थिति स्वरूप की अपेक्षा एक समय कम हो जाती है किन्तु कर्म सामान्य की

अपेक्षा उनकी भी स्थिति अयोगिकेवली गुणस्थान के काल के बराबर रहती है।

सयोगिकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय में निम्नलिखित तीस प्रकृतियों का विच्छेद होता है—

साता या असाता में से कोई एक वेदनीय, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, छह संस्थान, पहला संहनन, औदारिक-अंगोपांग, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, शुभ-अशुभ विहायोगति, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुस्वर और निर्माण।

सयोगिकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय में उक्त तीस प्रकृतियों के उदय और उदीरणा का विच्छेद करके उसके अनन्तर समय में वे अयोगिकेवली हो जाते हैं। अयोगिकेवली गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है। इस अवस्था में भव का उपकार करने वाले कर्मों का क्षय करने के लिये व्युपरतक्रियाप्रतिपाति ध्यान करते हैं। वहाँ स्थिति-घात आदि कार्य नहीं होते हैं। किन्तु जिन कर्मों का उदय होता है, उनको तो अपनी स्थिति पूरी होने से अनुभव करके नष्ट कर देते हैं तथा जिन प्रकृतियों का उदय नहीं होता उनका स्तिबुकसंक्रम के द्वारा प्रति समय वेद्यमान प्रकृतियों में संक्रम करते हुए अयोगिकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय तक वेद्यमान प्रकृति रूप से वेदन करते हैं।

अब आगे की गाथा में अयोगिकेवली के उपान्त्य समय में क्षय होने वाली प्रकृतियों को बतलाते हैं।

देवगइसहगयाओ चरम समयभवियम्मि खीयंति।
सविवागेयरनामा नीयागोयं पि तत्थेव ॥६५॥

शब्दार्थ—**देवगइसहगयाओ**—देवगति के साथ जिनका बंध होता है ऐसी, **चरमसमयभवियम्मि**—वो अन्तिम समय जिसके

बाकी हैं, ऐसे जीव के, खीयंति—क्षय होती है, अविवागेयरनामा—विपाकरहित नामकर्म की प्रकृतियाँ, नीयागोयं—नीच गोत्र और एक वेदनीय, पि—भी, तत्थेव—वहीं पर।

गाथार्थ—अयोगिकेवली अवस्था में दो अंतिम समय जिसके बाकी हैं ऐसे जीव के देवगति के साथ बंधने वाली प्रकृतियों का क्षय होता है तथा विपाकरहित जो नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं तथा नीच गोत्र और किसी एक वेदनीय का भी वहीं क्षय होता है।

विशेषार्थ—गाथा में अयोगिकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय में क्षय होने वाली प्रकृतियों का निर्देश किया है।

जैसा कि पहले बता आये हैं कि अयोगिकेवली अवस्था में जिन प्रकृतियों का उदय नहीं होता है, उनकी स्थिति अयोगिकेवली गुणस्थान के काल से एक समय कम होती है। इसीलिये उनका उपान्त्य समय में क्षय हो जाता है। उपान्त्य समय में क्षय होने वाली प्रकृतियों का कथन पहले नहीं किया गया है, अतः इस गाथा में निर्देश किया है कि जिन प्रकृतियों का देवगति के साथ बंध होता है उनकी तथा नामकर्म की जिन प्रकृतियों का अयोगिअवस्था में उदय नहीं होता उनकी और नीच गोत्र व किसी एक वेदनीय की उपान्त्य समय में सत्ता का विच्छेद हो जाता है।

देवगति के साथ बंधने वाली प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय बंधन, वैक्रिय संघात, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक शरीर, आहारक बंधन, आहारक संघात, आहारक अंगोपांग, यह दस प्रकृतियां हैं।

गाथा में अनुदय रूप से संकेत की गई नामकर्म की पैंतालीस प्रकृतियां यह हैं—औदारिक शरीर, औदारिक बंधन, औदारिक संघात, तैजस शरीर, तैजस बन्धन, तैजस संघात, कार्मण शरीर, कार्मण-

बंधन, कार्मण संघात, छह संस्थान, छह संहनन, औदारिक अंगोपांग, वर्णचतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, पराघात, उपघात, अगुरुलघु, प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति, प्रत्येक, अपर्याप्त, उच्छ्वास, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण।

इनके अतिरिक्त नीच गोत्र और साता व असाता वेदनीय में से कोई एक वेदनीय कर्म। कुल मिलाकर ये सब १०+४५+२=५७ होती है। जिनका अयोगिकेवली अवस्था के उपान्त्य समय में क्षय हो जाता है—दुचरमसमयभवियम्मि खीयंति।

उक्त सत्तावन प्रकृतियों में वर्णचतुष्क में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श, यह चार मूल भेद ग्रहण किये हैं, इनके अवान्तर भेद नहीं। यदि इन मूल वर्णादि चार के स्थान पर उनके अवान्तर भेद ग्रहण किये जायें तो उपान्त्य समय में क्षय होने वाली प्रकृतियों की संख्या तिहत्तर हो जाती है। यद्यपि गाथा में किसी भी वेदनीय का नामोल्लेख नहीं किया किन्तु गाथा में जो 'पि'—शब्द आया है उसके द्वारा वेदनीय कर्म के दोनों भेदों में से किसी एक वेदनीय कर्म का ग्रहण हो जाता है।

इस प्रकार से अयोगिकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय में क्षय होने वाली प्रकृतियों का उल्लेख करने के बाद अब आगे की गाथा में अन्त समय तक उदय रहने वाली प्रकृतियों को बतलाते हैं।

अन्नयरवेयणीयं मणुयाउय उच्चगोय नव नामे।
वेएइ अजोगिजिणो उक्कोस जहन्न एक्कारं ॥६६॥

शब्दार्थ—**अन्नयरवेयणीयं**—दो में से कोई एक वेदनीय कर्म, **मणुयाउय**—मनुष्यायु, **उच्चगोय**—उच्चगोत्र, **नव नामे**—नामकर्म की नौ प्रकृतियां, **वेएइ**—वेदन करते हैं, **अजोगिजिणो**—अयोगि-

केवली जिन, उक्कोस—उत्कृष्ट से, जहन्न—जघन्य से, एक्कारं—ग्यारह ।

गाथार्थ—अयोगिजिन उत्कृष्ट रूप से दोनों वेदनीय में से किसी एक वेदनीय, मनुष्यायु, उच्चगोत्र और नामकर्म की नौ प्रकृतियाँ, इस प्रकार बारह प्रकृतियों का वेदन करते हैं तथा जघन्य रूप से ग्यारह प्रकृतियों का वेदन करते हैं ।

विशेषार्थ—अयोगिकेवली गुणस्थान में उपान्त्य समय तक कर्मों की कुछ एक प्रकृतियों को छोड़कर शेष प्रकृतियों का क्षय हो जाता है । लेकिन जो प्रकृतियां अन्तिम समय में क्षय होती हैं उनके नाम इस गाथा में बतलाते हैं कि किसी एक वेदनीय कर्म, मनुष्यायु, उच्च गोत्र और नामकर्म की नौ प्रकृतियों का क्षय होता है ।

यहां (अयोगिकेवली अवस्था में) किसी एक वेदनीय के क्षय होने का कारण यह है कि तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय में साता और असाता वेदनीय में से किसी एक वेदनीय का उदयविच्छेद हो जाता है । यदि साता का विच्छेद होता है तो असाता वेदनीय का और असाता का विच्छेद होता है तो साता वेदनीय का उदय शेष रहता है । इसी बात को बतलाने के लिये गाथा में 'अन्नयरवेयणीयं'—अन्यतर वेदनीय पद दिया है ।

इसके अलावा गाथा में उत्कृष्ट रूप से बारह और जघन्य रूप से ग्यारह प्रकृतियों के उदय को बतलाने का कारण यह है कि सभी जीवों को तीर्थंकर प्रकृति का उदय नहीं होता है । तीर्थंकर प्रकृति का उदय उन्हीं को होता है जिन्होंने उसका बंध किया हो । इसलिये अयोगिकेवली अवस्था में अधिक से अधिक बारह प्रकृतियों का और कम से कम ग्यारह प्रकृतियों का उदय माना गया है ।

बारह प्रकृतियों के नामोल्लेख में नामकर्म की नौ प्रकृतियां हैं

अतएव अब अगली गाथा में अयोगि अवस्था में उदययोग्य नामकर्म की नौ प्रकृतियों के नाम बतलाते हैं।

मणुयगइ जाइ तस बायरं च पज्जत्तसुभगमाइज्जं।
जसकित्ती तित्थयरं नामस्स हवंति नव एया ॥६७॥

शब्दार्थ—**मणुयगइ**—मनुष्यगति, **जाइ**—पंचेन्द्रिय जाति, **तसबायरं**—त्रस बादर, **च**—और, **पज्जत्त**—पर्याप्त, **सुभगं**—सुभग, **आइज्जं**—आदेय, **जसकित्ती**—यशःकीर्ति, **तित्थयरं**—तीर्थंकर, **नामस्स**—नामकर्म की, **हवंति**—हैं, **नव**—नौ, **एया**—ये।

गाथार्थ—मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रस, बादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशःकीर्ति और तीर्थंकर ये नामकर्म नौ प्रकृतियां हैं।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में संकेत किया गया था कि नामकर्म की नौ प्रकृतियों का उदय अयोगिकेवली गुणस्थान के अंतिम समय तक रहता है किन्तु उनके नाम का निर्देश नहीं किया था। अतः इस गाथा में नामकर्म की उक्त नौ प्रकृतियों के नाम इस प्रकार बतलाये हैं—१. मनुष्यगति, २. पंचेन्द्रिय जाति, ३. त्रस, ४. बादर, ५. पर्याप्त, ६. सुभग, ७. आदेय, ८. यशःकीर्ति, ९. तीर्थंकर।

नामकर्म की नौ प्रकृतियों को बतलाने के बाद अब आगे की गाथा में मनुष्यानुपूर्वी के उदय को लेकर पाये जाने वाले मतान्तर का कथन करते हैं।

तच्चाणुपुव्विसहिया तेरस भवसिद्धियस्स चरिमम्मि।
संतंसगमुक्कोसं जहन्नयं बारस हवंति ॥६८॥

शब्दार्थ—**तच्चाणुपुव्विसहिया**—उस (मनुष्य की) आनुपूर्वी सहित, **तेरस**—तेरह, **भवसिद्धियस्स**—तद्भव मोक्षगामी जीव के, **चरिमम्मि**—चरम समय में, **संतंसगं**—कर्म प्रकृतियों की सत्ता,

उक्कोसं—उत्कृष्ट रूप से, जहन्नयं—जघन्य रूप से, बारस—बारह, हवंति—होती हैं।

गाथार्थ—तद्भव मोक्षगामी जीव के चरम समय में उत्कृष्ट रूप से मनुष्यानुपूर्वी सहित तेरह प्रकृतियों की और जघन्य रूप से बारह प्रकृतियों की सत्ता होती है।

विशेषार्थ—इस गाथा में मतान्तर का उल्लेख किया गया है कि कुछ आचार्य अयोगिकेवली गुणस्थान के चरम समय में मनुष्यानुपूर्वी का भी उदय मानते हैं, इसलिये उनके मत से चरम समय में तेरह प्रकृतियों की और जघन्य रूप से बारह प्रकृतियों की सत्ता होती है।

पहले यह संकेत किया जा चुका है कि जिन प्रकृतियों का उदय अयोगि अवस्था में नहीं होता है, उनकी सत्ता का विच्छेद उपान्त्य समय में हो जाता है। मनुष्यानुपूर्वी का उदय पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थान में ही होता है, इसलिये इसका उदय अयोगि अवस्था में नहीं हो सकता है। इसी कारण इसकी सत्ता का विच्छेद अयोगि-केवली अवस्था के उपान्त्य समय में बतलाया है। लेकिन अन्य कुछ आचार्यों का मत है कि मनुष्यानुपूर्वी की सत्त्व-व्युच्छित्ति अयोगि अवस्था के अंतिम समय में होती है। इस मतान्तर के कारण अयोगि अवस्था के चरम समय में उत्कृष्ट रूप से तेरह प्रकृतियों की और जघन्य रूप से बारह प्रकृतियों की सत्ता मानी जाती है। इस मतान्तर का स्पष्टीकरण आगे की गाथा में किया जा रहा है।

पूर्वोक्त कथन का सारांश यह है कि सप्ततिका के कर्ता के मतानुसार मनुष्यानुपूर्वी का उपान्त्य समय में क्षय हो जाता है, जिससे अंतिम समय में उदयगत बारह प्रकृतियों या ग्यारह प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है। लेकिन कुछ आचार्यों के मतानुसार अंतिम समय में मनुष्यानुपूर्वी की सत्ता और रहती है अतः अंतिम समय में तेरह या बारह प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है।

अब अन्य आचार्यों द्वारा मनुष्यानुपूर्वी की सत्ता अंतिम समय तक माने जाने के कारण को अगली गाथा में स्पष्ट करते हैं।

मणुयगइसहगयाओ भवखित्तविवागजीववाग त्ति।
वेयणियन्नयरुच्चं च चरिम भविस्सय खीयंति ॥६६॥

शब्दार्थ—**मणुयगइसहगयाओ**—मनुष्यगति के साथ उदय को प्राप्त होने वाली, **भवखित्तविवाग**—भव और क्षेत्र विपाकी, **जीववाग त्ति**—जीवविपाकी, **वेयणियन्नयर**—अन्यतर वेदनीय (कोई एक वेदनीय कर्म), **उच्चं**—उच्च गोत्र, **च**—और, **चरिम भविस्सय**—चरम समय में भव्य जीव के, **खीयंति**—क्षय होती है।

गाथार्थ—मनुष्यगति के साथ उदय को प्राप्त होने वाली भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी और जीवविपाकी प्रकृतियों का तथा किसी एक वेदनीय और उच्च गोत्र का तद्भव मोक्षगामी भव्य जीव के चरम समय में क्षय होता है।

विशेषार्थ—इस गाथा में बतलाया गया है कि—'मणुयगइसहगयाओ' मनुष्यगति के साथ उदय को प्राप्त होने वाली जितनी भी भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी और जीवविपाकी प्रकृतियाँ हैं तथा कोई एक वेदनीय और उच्च गोत्र, इनका अयोगिकेवली गुणस्थान के अंतिम समय में क्षय होता है।

भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी और जीवविपाकी का अर्थ यह है कि जो प्रकृतियां नरक आदि भव की प्रधानता से अपना फल देती हैं, वे भवविपाकी कही जाती हैं, जैसे चारों आयु। जो प्रकृतियां क्षेत्र की प्रधानता से अपना फल देती हैं वे क्षेत्रविपाकी कहलाती हैं, जैसे चारों आनुपूर्वी। जो प्रकृतियां अपना फल जीव में देती हैं उन्हें जीवविपाकी कहते हैं, जैसे पाँच ज्ञानावरण आदि।

यहाँ मनुष्यायु भवविपाकी है, मनुष्यानुपूर्वी क्षेत्रविपाकी और

पूर्वोक्त नामकर्म की नौ प्रकृतियाँ जीवविपाकी हैं तथा इनके अतिरिक्त कोई एक वेदनीय तथा उच्चगोत्र, इन दो प्रकृतियों को और मिलाने से कुल तेरह प्रकृतियां हो जाती हैं जिनका क्षय भव सिद्धिक जीव के अयोगिकेवली गुणस्थान के अंतिम समय में होता है।

मतान्तर सहित पूर्वोक्त कथन का सारांश यह है कि मनुष्यानुपूर्वी का जब भी उदय होता है तब उसका उदय मनुष्यगति के साथ ही होता है। इस नियम के अनुसार भवसिद्धिक जीव के अंतिम समय में तेरह या तीर्थंकर प्रकृति के बिना बारह प्रकृतियों का क्षय होता है। किन्तु मनुष्यानुपूर्वी प्रकृति अयोगिकेवली गुणस्थान के उपान्त्य समय में क्षय हो जाती है इस मतानुसार मनुष्यानुपूर्वी का अयोगिकेवली अवस्था में उदय नहीं होता है अतः उसका अयोगि अवस्था के उपान्त्य समय में क्षय हो जाता है। जो प्रकृतियां उदय वाली होती हैं उनका स्तिबुकसंक्रम नहीं होता है जिससे उनके दलिक स्व-स्वरूप से अपने-अपने उदय के अंतिम समय में दिखाई देते हैं और इसलिये उनका अंतिम समय में सत्ताविच्छेद होता है। चारों आनुपूर्वी क्षेत्रविपाकी प्रकृतियां हैं, उनका उदय केवल अपान्तराल गति में ही होता है। इसलिये भवस्थ जीव के उनका उदय संभव नहीं है और इसीलिये मनुष्यानुपूर्वी का अयोगि अवस्था के अंतिम समय में सत्ताविच्छेद न होकर द्विचरम समय में ही उसका सत्ता विच्छेद हो जाता है। पहले जो द्विचरम समय में सत्तावन प्रकृतियों का सत्ताविच्छेद और अंतिम समय में बारह या तीर्थंकर प्रकृति के बिना ग्यारह प्रकृतियों का सत्ताविच्छेद बतलाया है, वह इसी मत के अनुसार बतलाया है।[1]

---

१ दिगम्बर साहित्य गो० कर्मकांड में एक इसी मत का उल्लेख है कि—मनुष्यानुपूर्वी की चौदहवें गुणस्थान के अंतिम समय में सत्वव्युच्छित्ति होती है—

निःशेष रूप से कर्मों का क्षय हो जाने के बाद जीव एक समय में ही ऋजुगति से ऊर्ध्वगमन करके सिद्धि स्थान को प्राप्त कर लेता है। आवश्यक चूर्णि में कहा है—

जसिए जीवोऽवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उड्ढं
उज्जुगं गच्छइ, न वंके, अन्नं च समयं न फुसइ ॥

अयोगि अवस्था में प्रकृतियों के विच्छेद के मतान्तर का उल्लेख करने के बाद अब आगे की गाथा में यह बतलाते हैं कि अयोगि अवस्था के अंतिम समय में कर्मों का समूल नाश हो जाने के बाद निष्कर्मा शुद्ध आत्मा की अवस्था कैसी होती है।

अह सुद्धयसयलजगसिहरमरुयनिरुवमसहावसिद्धिसुहं।
अनिहणमव्वाबाहं तिरयणसारं अणुहवंति ॥७०॥

शब्दार्थ—**अह**—इसके बाद (कर्म क्षय होने के बाद), **सुद्धय**—एकांत शुद्ध, **सयल**—समस्त, **जगसिहर**—जगत के सुख के शिखर तुल्य, **अरुय**—रोग रहित, **निरुवम**—निरुपम, उपमारहित, **सहाव**—स्वाभाविक, **सिद्धिसुहं**—मोक्ष सुख को, **अनिहणं**—नाश रहित, अनन्त, **अव्वाबाहं**—अव्याबाध, **तिरयणसारं**—रत्न त्रय के सार रूप, **अणुहवंति**—अनुभव करते हैं।

गाथार्थ—कर्म क्षय होने के बाद जीव एकांत शुद्ध, समस्त जगत के सब सुखों से भी बढ़कर, रोगरहित, उपमा रहित, स्वाभाविक, नाशरहित, बाधारहित, रत्नत्रय के सार रूप मोक्ष सुख का अनुभव करते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में कर्मक्षय हो जाने के बाद जीव की स्थिति का वर्णन किया है कि वह सुख का अनुभव करता है।

उदयगबार णराणू तेरस चरिमम्हि वोच्छिण्णा ॥३४१॥ किंतु धवला प्रथम पुस्तक में सप्ततिका के समान दोनों ही मतों का उल्लेख किया है। देखो धवला, प्रथम पुस्तक, पृ० २२४।

कर्मातीत अवस्था प्राप्ति के बाद प्राप्त होने वाले सुख के क्रमशः नौ विशेषण दिये हैं। उनमें पहला विशेषण है—'सुइयं' जिसका अर्थ होता है शुचिक। टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने शुचिक का अर्थ एकान्त शुद्ध किया है। इसका यह भाव है कि संसारी जीवों को प्राप्त होने वाला सुख रागद्वेष से मिला हुआ होता है, किन्तु सिद्ध जीवों को प्राप्त होने वाले सुख में रागद्वेष का सर्वथा अभाव होता है, इसलिये उनको जो सुख होता है वह शुद्ध आत्मा से उत्पन्न होता है, उसमें बाहरी वस्तु का संयोग और वियोग तथा इष्टानिष्ट कल्पना कारण नहीं है।

दूसरा विशेषण है—'सयल'—सकल। जिसका अर्थ सम्पूर्ण होता है। मोक्ष सुख को सम्पूर्ण कहने का कारण यह है कि संसार अवस्था में जीवों के कर्मों का संबंध बना रहता है, जिससे एक तो आत्मिक सुख की प्राप्ति होती ही नहीं और कथाचित् सम्यग्दर्शन आदि के निमित्त से आत्मिक सुख की प्राप्ति होती भी है तो उसमें व्याकुलता का अभाव न होने से वह किंचिन्मात्रा में, सीमित मात्रा में प्राप्त होता है। किन्तु सिद्धों के सब बाधक कारणों का अभाव हो जाने से पूर्ण सिद्धि जन्य सुख प्राप्त होता है। इसी भाव को बतलाने के लिये 'सयल' विशेषण दिया गया है।

तीसरा विशेषण 'जग सिहरं'—जग शिखर है जिसका अर्थ है कि जगत में जितने भी सुख हैं, सिद्ध जीवों का सुख उन सब में प्रधान है। क्योंकि आत्मा के अनन्त अनुजीवी गुणों में सुख भी एक गुण है। अतः जब तक यह जीव संसार में बना रहता है, वास करता है तब तक उसका यह गुण घातित रहता है। कदाचित् प्रगट भी होता है, तो स्वरूप मात्रा में प्रगट होता है। किन्तु सिद्ध जीवों के प्रतिबन्धक कारणों के दूर हो जाने से सुख गुण अपने पूर्ण रूप में प्रगट हो जाता है, इसलिये जगत में जितने भी प्रकार के सुख हैं, उनमें सिद्ध जीवों

का सुख प्रधानभूत है और इसी बात को जगच्छिखर विशेषण द्वारा स्पष्ट किया गया है।

चौथा विशेषण 'अरुय'—रोग रहित है। अर्थात् उस सुख में लेश मात्र भी व्याधि-रोग नहीं है। क्योंकि रोगादि दोषों की उत्पत्ति शरीर के निमित्त से होती है और जहाँ शरीर है वहाँ रोग की उत्पत्ति अवश्य होती है—'शरीरं व्याधिमंदिरम्'। लेकिन सिद्ध जीव शरीर रहित हैं, उनके शरीर प्राप्ति का निमित्तकरण कर्म भी दूर हो गया है, इसीलिये सिद्ध जीवों का सुख रोगादि दोषों से रहित है।

सिद्ध जीवों के सुख के लिये पाँचवा विशेषण 'निरुवम' दिया है यानी उपमा रहित है। इसका कारण यह है कि उप अर्थात् उपचय से या निकटता से जो माप करने की प्रक्रिया है, उसे उपमा कहते हैं। इसका भाव यह है प्रत्येक वस्तु के गुण, धर्म और उसकी पर्याय दूसरी वस्तु के गुण, धर्म और पर्याय से भिन्न हैं, अतः थोड़ी-बहुत समानता को देखकर दृष्टांत द्वारा उसका परिज्ञान कराने की प्रक्रिया को उपमा कहते हैं। परन्तु यह प्रक्रिया इन्द्रियगोचर पदार्थों में ही घटित हो सकती है और सिद्ध परमेष्ठी का सुख तो अतीन्द्रिय है, इसलिये उपमा द्वारा उसका परिज्ञान नहीं कराया जा सकता है। संसार में तत्सदृश ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसकी उसे उपमा दी जा सके, इसलिये सिद्ध परमेष्ठि के सुख को अनुपम कहा है।

छठा विशेषण स्वभावभूत 'सहाव' है। इसका आशय यह है कि संसारी सुख तो कोमल स्पर्श, सुस्वादु भोजन, वायुमण्डल को सुरभित करने वाले अनेक प्रकार के पुष्प, इत्र, तेल आदि के गंध, रमणीय रूप के अवलोकन, मधुर संगीत आदि के निमित्त से उत्पन्न होता है, लेकिन सिद्ध सुख की यह बात नहीं है, वह तो आत्मा का स्वभाव है, वह बाह्य इष्ट मनोज्ञ पदार्थों के संयोग से उत्पन्न नहीं होता है।

सातवाँ विशेषण 'अनिहणं'—अनिधन है। इसका भाव यह है कि सिद्ध अवस्था प्राप्त हो जाने के बाद उसका कभी नाश नहीं होता है। उसके स्वाभाविक अनंतगुण सदा स्वभाव रूप से स्थिर रहते हैं, उनमें सुख भी एक गुण है, अतः उसका भी कभी नाश नहीं होता है।

आठवां विशेषण है—'अव्वाबाहं'—अव्याबाध। अर्थात् बाधारहित है उसमें किसी प्रकार का अन्तराल नहीं और न किसी के द्वारा उसमें रुकावट आती है। जो अन्य के निमित्त से होता है या अस्थायी होता है, उसी में बाधा उत्पन्न होती है। परन्तु सिद्ध जीवों का सुख न तो अन्य के निमित्त से ही उत्पन्न होता है और न थोड़े काल तक ही टिकने वाला है। वह तो आत्मा का अपना ही है और सदा-सर्वदा व्यक्त रहने वाला धर्म है। इसीलिये उसे अव्याबाध कहा है।

अन्तिम—नौवां विशेषण त्रिरत्नसार 'तिरयणसारं' है। यानी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह तीन रत्न हैं, जिन्हें रत्नत्रय कहते हैं। सिद्धों को प्राप्त होने वाला सुख उनका सारफल है। क्योंकि सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय कर्मक्षय का कारण है और कर्मक्षय के बाद सिद्ध सुख की प्राप्ति होती है। इसीलिये सिद्धि सुख को रत्नत्रय का सार कहा गया है। संसारी जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय की आराधना इसीलिये करता है कि उसे निराकुल अवस्था की प्राप्ति हो। सुख की अभिव्यक्ति निराकुलता में ही है। इसी कारण से सिद्धों को प्राप्त होने वाले सुख को रत्नत्रय का सार बताया है।

आत्मस्वरूप की प्राप्ति करना जीवमात्र का लक्ष्य है और उस स्वरूप प्राप्ति में बाधक कारण कर्म है। कर्मों का क्षय हो जाने के अनन्तर अन्य कुछ प्राप्त करना शेष नहीं रहता है। ग्रंथ में कर्म की विभिन्न स्थितियों, उनके क्षय के उपाय और कर्म क्षय के पश्चात्

प्राप्त होने वाली आत्मस्थिति का पूर्णरूपेण विवेचन किया जा चुका है। अतः अब ग्रंथकार ग्रंथ का उपसंहार करने के लिए गाथा कहते हैं कि—

दुरहिगम-निउण-परमत्थ-सुहर-बहुभंगदिट्ठिवायाओ ।
अत्था अणुसरियव्वा बंधोदयसंतकम्माणं ॥७१॥

शब्दार्थ—दुरहिगम—अतिश्रम से जानने योग्य, निउण—सूक्ष्म बुद्धिगम्य, परमत्थ—यथावस्थित अर्थवाला, सुहर—रुचिकर, आह्लादकारी, बहुभंग—बहुत भंगवाला, दिट्ठिवायाओ—दृष्टिवाद अंग, अत्था—विशेष अर्थ वाला, अणुसरियव्वा—जानने के लिये, बंधोदयसंतकम्माणं—बंध, उदय और सत्ता कर्म की।

गाथार्थ—दृष्टिवाद अंग अतिश्रम से जानने योग्य, सूक्ष्म-बुद्धिगम्य, यथावस्थित अर्थ का प्रतिपादक, आह्लादकारी, बहुत भंग वाला है। जो बंध, उदय और सत्ता रूप कर्मों को विशेष रूप से जानना चाहते हैं, उन्हें यह सब इससे जानना चाहिये।

विशेषार्थ—गाथा में ग्रंथ का उपसंहार करते हुए बतलाया है कि यह सप्ततिका ग्रंथ दृष्टिवाद अंग के आधार पर लिखा गया है। इस प्रकार से ग्रंथ की प्रामाणिकता का संकेत करने के बाद बतलाया है कि दृष्टिवाद अंग दुरभिगम्य है, सब इसको सरलता से नहीं समझ सकते हैं। लेकिन जिनकी बुद्धि सूक्ष्म है, सूक्ष्म पदार्थ को जानने के लिये जिज्ञासु हैं, वे ही इसमें प्रवेश कर पाते हैं। दृष्टिवाद अंग को दुरभिगम्य बताने का कारण यह है कि यद्यपि इसमें यथावस्थित अर्थ का सुन्दरता से युक्तिपूर्वक प्रतिपादन किया गया है लेकिन अनेक भेद-प्रभेद हैं, इसीलिये इसको कठिनता से जाना जाता है। इसका अपनी बुद्धि से मंथन करके जो कुछ भी ज्ञात किया जा सका उसके आधार

से इस ग्रंथ की रचना की है, लेकिन विशेष जिज्ञासुजन दृष्टिवाद अंग का अध्ययन करें, और उससे बंध, उदय और सत्ता रूप कर्मों के भेद-प्रभेदों को समझें। यह सप्ततिका नामक ग्रन्थ तो उनके लिये मार्ग-दर्शक के समान है।

अब ग्रंथ की प्रामाणिकता, आधार आदि का निर्देश करने के बाद ग्रंथकार अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए ग्रंथ की समाप्ति के लिए गाथा कहते हैं—

जो जत्थ अपडिपुन्नो अत्थो अप्पागमेण बद्धो त्ति।
तं खमिऊण बहुसुया पूरेऊणं परिकहंतु ॥७२॥

शब्दार्थ—**जो**—जिस, **जत्थ**—जहां, **अपडिपुन्नो**—अपूर्ण, **अत्थो**—अर्थ, **अप्पागमेण**—अल्पश्रुत, आगम के अल्प ज्ञाता—मैंने, **बद्धोत्ति**—निबद्ध किया है, **तं**—उसके लिये, **खमिऊण**—क्षमा करके, **बहुसुया**—बहुश्रुत, **पूरेऊणं**—परिपूर्ण करके, **परिकहंतु**—भली प्रकार से प्रतिपादन करें।

गाथार्थ—मैं तो आगम का अल्प ज्ञाता हूँ, इसलिये मैंने जिस प्रकरण में जितना अपरिपूर्ण अर्थ निबद्ध किया है, वह मेरा दोष—प्रमाद है। अतः बहुश्रुत जन मेरे उस दोष—प्रमाद को क्षमा करके उस अर्थ की पूर्ति करने के साथ कथन करें।

विशेषार्थ—गाथा में अपनी लघुता प्रगट करते हुए ग्रंथकार लिखते हैं कि मैं न तो विद्वान हूँ और न बहुश्रुत, किन्तु अल्पज्ञ हूँ। इसलिये यह दावा नहीं करता हूँ कि ग्रंथ सर्वांगीण रूप से विशेष अर्थ को प्रगट करने वाला बन सका है। इस ग्रंथ में जिस विषय को प्रतिपादन करने की धारणा की हुई थी, सम्भव है अपनी अल्पज्ञता के कारण उसको पूरी तरह से न निभा पाया होऊं तो इसके लिये मेरा प्रमाद

ही कारण है और यत्र-तत्र स्खलित भी हो गया होऊं किन्तु जो बहुश्रुत जन हैं, वे मेरे इस दोष को भूल जायें और जिस प्रकरण में जो कमी रह गई हो, उसकी पूर्ति करते हुए कथन करने का ध्यान रखें, यही विनम्र निवेदन है।

इस प्रकार हिन्दी व्याख्या सहित सप्ततिका प्रकरण समाप्त हुआ।

परिशिष्ट

- ☐ षष्ठ कर्मग्रन्थ की मूल गाथाएँ
- ☐ छह कर्मग्रन्थों में आगत पारिभाषिक शब्दों का कोष
- ☐ कर्मग्रन्थों की गाथाओं एवं व्याख्या में आगत पिण्ड-प्रकृति सूचक शब्दों का कोष
- ☐ गाथाओं का अकारादि अनुक्रम
- ☐ कर्मग्रन्थों की व्याख्या में सहायक ग्रन्थ-सूची

परिशिष्ट : १

षष्ठ कर्मग्रन्थ की मूल गाथाएँ

सिद्धपएहिं महत्थं बन्धोदयसन्तपयडिठाणाणं ।
वोच्छं सुण संखेवं नीसंदं दिट्ठिवायस्स ॥१॥
कइ बंधंतो वेयइ कइ कइ वा पयडिसंतठाणाणि ।
मूलुत्तरपगईसुं भंगविगप्पा उ बोधव्वा ॥२॥
अट्ठविहसत्तछब्बंधगेसु अट्ठेव उदयसंताइं ।
एगविहे तिविगप्पो एगविगप्पो अबंधम्मि ॥३॥
सत्तट्ठबंधअट्ठुदयसंत तेरससु जीवठाणेसु ।
एगम्मि पंच भंगा दो भंगा हुंति केवलिणो ॥४॥
अट्ठसु एगविगप्पो छस्सु वि गुणसंनिएसु दुविगप्पो ।
पत्तेयं पत्तेयं बंधोदयसंतकम्माणं ॥५॥
बंधोदयसंतंसा नाणावरणंतराइए पंच ।
बंधोवरमे वि तहा उदसंता हुंति पंचेव ॥६॥
बंधस्स य संतस्स य पगइट्ठाणाइं तिन्नि तुल्लाइं ।
उदयट्ठाणाइं दुवे चउ पणगं दंसणावरणे ॥७॥
बीयावरणे नवबंधगेसु चउ पंच उदय नव संता ।
छच्चउबंधे चेवं चउ बन्धुदए छलंसा य ॥८॥
उवरयबंधे चउ पण नवंस चउरुदय छच्च चउसंता ।
वेयणियाउयगोए विभज्ज मोहं परं वोच्छं ॥९॥
बावीस एक्कवीसा, सत्तरसा तेरसेव नव पंच ।
चउ तिग दुगं च एक्कं बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥१०॥
एक्कं व दो व चउरो एत्तो एक्काहिया दसुक्कोसा ।
ओहेण मोहणिज्जे उदयट्ठाणा नव हवंति ॥११॥

अट्ठगसत्तगछच्चउतिगदुगएगाहिया भवे वीसा ।
तेरस बारिक्कारस इत्तो पंचाइ एक्कूणा ॥१२॥
संतस्स पगइठाणाइं ताणि मोहस्स हुंति पन्नरस ।
बन्धोदयसंते पुण भंगविगप्पा बहू जाण ॥१३॥
छब्बावीसे चउ इगवीसे सत्तरस तेरसे दो दो ।
नवबंधगे वि दोन्नि उ एक्केक्कमओ परं भंगा ॥१४॥
दस बावीसे नव इक्कवीस सत्ताइ उदयठाणाइं ।
छाई नव सत्तरसे तेरे पंचाइ अट्ठेव ॥१५॥
चत्तारिमाइ नवबंधगेसु उक्कोस सत्त उदयंसा ।
पंचविहबंधगे पुण उदओ दोण्हं मुणेयव्वो ॥१६॥
इत्तो चउबंधाई इक्केक्कुदया हवंति सव्वे वि ।
बंधोवरमे वि तहा उदयाभावे वि वा होज्जा ॥१७॥
एक्कग छक्केक्कारस दस सत्त चउक्क एक्कगा चेव ।
एए चउवीसगया चउवीस दुगेक्कमिक्कारा ॥१८॥
नवपंचाणउइसएहुदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा ।
अउणत्तरिएगुत्तरिपयविंदसएहिं विन्नेया ॥१९॥
नवतेसीयसएहिं उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा ।
अउणसरिसीयाला पयविंदसएहिं विन्नेया ॥२०॥
तिन्नेव य बावीसे इगवीसे अट्ठवीस सत्तरसे ।
छ च्चेव तेरनवबंधगेसु पंचेव ठाणाइं ॥२१॥
पंचविहचउविहेसुं छ छक्क सेसेसु जाण पंचेव ।
पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि य बंधवोच्छेए ॥२२॥
दसनवपन्नरसाइं बंधोदयसन्तपयडिठाणाइं ।
भणियाइं मोहणिज्जे इत्तो नामं परं वोच्छं ॥२३॥
तेवीस पण्णवीसा छव्वीसा अट्ठवीस गुणतीसा ।
तीसेगतीसमेक्कं बंधट्ठाणाणि नामस्स ॥२४॥

चउ पणवीसा सोलस नव वाणउईसया य अडयाला ।
एयालुत्तर छायालसया एक्केक्क बंधविही ॥२५॥
वीसिगवीसा चउवीसगाइ एगाहिया उ इगतीसा ।
उदयट्ठाणाणि भवे नव अट्ठ य हुंति नामस्स ॥२६॥
एग बियालेक्कारस तेत्तीसा छस्सयाणि तेत्तीसा ।
बारससत्तरससयाणहिगाणि बिपंचसीईहिं ॥२७॥
अउणत्तीसेक्कारससयाहिगा सतरसपंचसट्ठीहिं ।
इक्केक्कगं च वीसादट्ठुदयंतेसु उदयविही ॥२८॥
तिदुनउई उगुनउई अट्ठच्छलसी असीइ उगुसीई ।
अट्ठयछप्पणत्तरि नव अट्ठ य नामसंताणि ॥२९॥
अट्ठ य बारस बारस बंधोदयसंतपयडिठाणाणि ।
ओहेणादेसेण य जत्थ जहासंभवं विभजे ॥३०॥
नव पंचोदय संता तेवीसे पण्णवीस छव्वीसे ।
अट्ठ चउरट्ठवीसे नव सत्तुगतीस तीसम्मि ॥३१॥
एगेगमेगतीसे एगे एगुदय अट्ठ संतम्मि ।
उवरयबंधे दस दस वेयगसंतम्मि ठाणाणि ॥३२॥
तिविगप्पपगइठाणेहिं जीवगुणसन्निएसु ठाणेसु ।
भंगा पउंजियव्वा जत्थ जहा संभवो भवइ ॥३३॥
तेरससु जीवसंखेवएसु नाणंतराय तिविगप्पो ।
एक्कम्मि तिदुविगप्पो करणं पइ एत्थ अविगप्पो ॥३४॥
तेरे नव चउ पणगं नव संतेगम्मि भंगमेक्कारा ।
वेयणियाउयगोए विभज्ज मोहं परं वोच्छं ॥३५॥
अट्ठसु पंचसु एगे एग दुगं दस य मोहबंधगए ।
तिग चउ नव उदयगए तिग तिग पन्नरस संतम्मि ॥३६॥
पण दुग पणगं पण चउ पणगं पणगा हवंति तिन्नेव ।
पण छ प्पणगं छ च्चेव प्पणगं अट्ठट्ठ दसगं ति ॥३७॥

सत्तेव अपज्जत्ता सामी तह सुहुम बायरा चेव ।
विगलिंदिया उ तिन्नि उ तह य असन्नी य सन्नी य ॥३८॥
नाणंतराय तिविहंमवि दससु दो होंति दोसु ठाणेसुं ।
मिच्छासाणे बिइए नव चउ पण नव य संतंसा ॥३९॥
मिस्साइ नियट्टीओ छ च्चउ पण नव य संतकम्मंसा ।
चउबंध तिगे चउ पण नबंस दुसु जुयल छ स्संता ॥४०॥
उवसंते चउ पण नव खीणे चउरुदय छच्च चउ संतं ।
वेयणियाउयगोए विभज्ज मोहं परं वोच्छं ॥४१॥
गुणठाणगेसु अट्ठसु एक्केक्कं मोहबंधठाणेसु ।
पंचानियट्टिठाणे बंधोवरमो परं तत्तो ॥४२॥
सत्ताइ दस उ मिच्छे सासायणमीसए नवुक्कोसा ।
छाई नव उ अविरए देसे पंचाइ अट्ठेव ॥४३॥
विरए खओवसमिए, चउराई सत्त छच्चउपुव्वम्मि ।
अनियट्टिबायरे पुण इक्को व दुवे व उदयंसा ॥४४॥
एगं सुहुमसरागो वेएइ अवेयगा भवे सेसा ।
भंगाणं च पमाणं पुव्वुद्दिट्ठेण नायव्वं ॥४५॥
एक्क छडेक्कारेक्कारसेव एक्कारसेव नव तिन्नि ।
एए चउवीसगया बार दुगे पंच एक्कम्मि ॥४६॥
जोगोवओगलेसाइएहिं गुणिया हवंति कायव्वा ।
जे जत्थ गुणट्ठाणे हवंति ते तत्थ गुणकारा ॥४७॥
तिण्णेगे एगेगं तिग मीसे पंच चउसु नियट्टिए तिन्नि ।
एक्कार बायरम्मी सुहुमे चउ तिन्नि उवसंते ॥४८॥
छण्णव छक्कं तिग सत्त दुगं दुग तिग दुगं तिगट्ठ चऊ ।
दुग छ च्चउ दुग पण चउ चउ दुग चउ पणग एग चऊ ॥४९॥
एगेगमट्ठ एगेगमट्ठ छउमत्थकेवलिजिणाणं ।
एग चऊ एग चऊ अट्ठ चउ दु छक्कमुदयंसा ॥५०॥

दो छक्कट्ठ चउक्कं पण नव एक्कार छक्कगं उदया ।
नेरइआइसु संता ति पंच एक्कारस चउक्कं ॥५१॥
इग विगलिंदिय सगले पण पंच य अट्ठ बंधठाणाणि ।
पण छक्केक्काउदया पण पण बारस य संताणि ॥५२॥
इय कम्म पगइ ठाणाइं सुट्ठु बंधुदयसंतकम्माणं ।
गइआइएहिं अट्ठसु चउप्पगारेण नेयाणि ॥५३॥
उदयस्सुदीरणाए सामित्ताओ न विज्जइ विसेसो ।
मोत्तूण य [illegible] सेसाणं सव्वपगईणं ॥५४॥
नाणंतरायदसगं दंसणनव वेयणिज्ज मिच्छत्तं ।
सम्मत्त लोभ वेयाऽऽउगाणि नव नाम उच्चं च ॥५५॥
तित्थगराहारगविरहियाओ अज्जेइ सव्वपगईओ ।
मिच्छत्तवेयगो सासणो वि इगुवीससेसाओ ॥५६॥
छायालसेस मीसो अविरयसम्मो तियालपरिसेसा ।
तेवण्ण देसविरओ विरओ सगवण्णसेसाओ ॥५७॥
इगुसट्ठिमप्पमत्तो बंधइ देवाउयस्स इयरो वि ।
अट्ठावण्णमपुव्वो छप्पण्णं वा वि छव्वीसं ॥५८॥
बावीसा एगूणं बंधइ अट्ठारसंतमनियट्टी ।
सत्तर सुहुमसरागो सायममोहो सजोगि त्ति ॥५९॥
एसो उ बंधसामित्तओघो गइयाइएसु वि तहेव ।
ओहाओ साहिज्जा जत्थ जहा पगडिसब्भावो ॥६०॥
तित्थगरदेवनिरयाउगं च तिसु तिसु गईसु बोद्धव्वं ।
अवसेसा पयडीओ हवंति सव्वासु वि गईसु ॥६१॥
पढमकसायचउक्कं दंसणतिग सत्तगा वि उवसंता ।
अविरतसम्मत्ताओ जाव नियट्टि त्ति नायव्वा ॥६२॥
पढमकसायचउक्कं एत्तो मिच्छत्तमीससम्मत्तं ।
अविरय देसे विरए पमत्ति अपमत्ति खीयंति ॥६३॥

पुरिसं कोहे कोहं माणे माणं च छुहइ मायाए।
मायं च छुहइ लोहे लोहं सुहुमं पि तो हणइ ॥६४॥
देवगइसहगयाओ दुचरमसमयभवियम्मि खीयंति।
सविवागेयरनामा नीयागोयं पि तत्थेव ॥६५॥
अन्नयरवेयणीयं मणुयाउय उच्चगोय नव नामे।
वेएइ अजोगिजिणो उक्कोस जहन्न एक्कारं ॥६६॥
मणुयंगइ जाइ तस बायरं च पज्जत्तसुभगमाइज्जं।
असकित्ती तित्थयरं नामस्स हवंति नव एया ॥६७॥
तच्चाणुपुव्विसहिया तेरस भवसिद्धियस्स चरिमम्मि।
संतंसगमुक्कोसं जहन्नयं बारस हवंति ॥६८॥
मणुयगइसहगयाओ भवखित्तविवागजीवदाग त्ति।
वेयणियन्नयरुच्चं च चरिम भवियस्स खीयंति ॥६९॥
अह सुइयसयलजगसिहरमरुयनिरुवमसहावसिद्धिसुहं।
अनिहणमव्वाबाहं तिरयणसारं अणुहवंति ॥७०॥
दुरहिगम-निउण - परमत्थ-रुइर-बहुभंगदिट्ठिवायाओ।
अत्था अणुसरियव्वा बंधोदयसंतकम्माणं ॥७१॥
जो अत्थ अपडिपुन्नो अत्थो अप्पागमेण बहो त्ति।
तं खमिऊण बहुसुया पूरेऊणं परिकहंतु ॥७२॥

परिशिष्ट : २

छह कर्मग्रन्थों में आगत पारिभाषिक शब्दों का कोष

(अ)

अंगप्रविष्ट श्रुत—जिन शास्त्रों की रचना तीर्थंकरों के उपदेशानुसार गणधर स्वयं करते हैं।

अंगोपांग नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव के अंग और उपांग आदि रूप में गृहीत पुद्गलों का परिणमन होता है।

अंगबाह्यश्रुत—गणधरों के अतिरिक्त अंगों का आधार लेकर स्थविरों द्वारा प्रणीत शास्त्र।

अक्षर—ज्ञान का नाम अक्षर है और ज्ञान जीव का स्वभाव होने के कारण श्रुत-ज्ञान स्वयं अक्षर कहलाता है।

अक्षर श्रुत—अकारादि लब्ध्यक्षरों में से किसी एक अक्षर का ज्ञान।

अक्षरसमास श्रुत—लब्ध्यक्षरों के समुदाय का ज्ञान।

अकाम निर्जरा—इच्छा के न होते हुए भी अनायास ही होने वाली कर्म-निर्जरा।

अकुशल कर्म—जिसका विपाक अनिष्ट होता है।

अगमिक श्रुत—जिसमें एक सरीखे पाठ न आते हों।

अगुरुलघु द्रव्य—चार स्पर्श वाले सूक्ष्म रूपी द्रव्य तथा अमूर्त आकाश आदि।

अगुरुलघु नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को स्वयं का शरीर वजन में हल्का और भारी प्रतीत न होकर अगुरुलघु परिणाम वाला प्रतीत होता है।

अग्निकाय—तेज परमाणुओं से निर्मित शरीर।

अग्रहणवर्गणा—जो अल्प परमाणु वाली होने के कारण जीव द्वारा ग्रहण नहीं की जाती है।

अघाती कर्म—जीव के प्रतिजीवी गुणों के घात करने वाले कर्म। उनके कारण आत्मा को शरीर की कैद में रहना पड़ता है।

अघातिनी प्रकृति—जो प्रकृति आत्मिक गुणों का घात नहीं करती है।

अचक्षुदर्शन—चक्षुरिन्द्रिय को छोड़कर शेष स्पर्शन आदि इन्द्रियों और मन के द्वारा होने वाले अपने-अपने विषयभूत सामान्य धर्मों का प्रतिभास।

अचक्षुदर्शनावरण कर्म—अचक्षुदर्शन को आवरण करने वाला कर्म।

अछद्मस्थिक—जिनके छद्मों (चार घाति कर्मों) का सर्वथा क्षय हो गया हो।

अछद्मस्थिक यथाख्यात संयम—केवलज्ञानियों का संयम।

अजघन्य बंध—एक समय अधिक अजघन्य बंध से लेकर उत्कृष्ट बंध से पूर्व तक के सभी बंध।

अजीव—जिसमें चेतना न हो अर्थात् जड़ हो।

अज्ञान मिथ्यात्व—जीवादि पदार्थों को 'यही है' 'इसी प्रकार है' इस तरह विशेष रूप से न समझना।

अडड—चौरासी लाख अडडांग का एक अडड कहलाता है।

अडडांग—चौरासी लाख त्रुटित के समय को एक अडडांग कहते हैं।

अद्धापल्योपम—उद्धारपल्य के रोमखंडों में से प्रत्येक रोमखंड के कल्पना के द्वारा उतने खंड करे जितने सौ वर्ष के समय होते हैं और उनको पल्य में भरने को अद्धापल्य कहते हैं। अद्धापल्य में से प्रति समय रोमखंडों को निकालते-निकालते जितने काल में वह पल्य खाली हो, उसे अद्धा-पल्योपम काल कहते हैं।

अद्धासागर—दस कोटीकोटी अद्धापल्योपमों का एक अद्धासागर होता है।

अध्रुवबंध—आगे जाकर विच्छिन्न हो जाने वाला बंध।

अध्रुवबंधिनी प्रकृति—बंध के कारणों के होने पर भी जो प्रकृति बँधती भी है और नहीं भी बँधती है।

अध्रुवसत्ता प्रकृति—मिथ्यात्व आदि दशा में जिस प्रकृति की सत्ता का नियम न हो यानी किसी समय सत्ता में हो और किसी समय सत्ता में न हो।

अध्रुवोदया प्रकृति—उसे कहते हैं, जिसका अपने उदयकाल के अन्त तक उदय लगातार नहीं रहता है। कभी उदय होता है और कभी नहीं होता है यानी उदय-विच्छेद काल तक भी जिसके उदय का नियम न हो।

अनक्षर श्रुत—जो शब्द अभिप्रायपूर्वक वर्णनात्मक नहीं बल्कि ध्वन्यात्मक किया जाता है अथवा छींकना, चुटकी बजाना आदि संकेतों के द्वारा दूसरों के अभिप्राय को जानना अनक्षर श्रुत है।

अननुगामी अवधिज्ञान—अपने उत्पत्ति स्थान में स्थित होकर पदार्थ को जानने वाला किन्तु उत्पत्ति स्थान को छोड़ देने पर न जानने वाला अवधिज्ञान।

अनन्तानन्ताणु वर्गणा—अनन्तानन्त प्रदेशी स्कन्धों की वर्गणा।

अनन्ताणु वर्गणा—अनन्त प्रदेशी स्कन्धों की वर्गणा।

अनन्तानुबंधी कषाय—सम्यक्त्व गुण का घात करके जीव को अनंत काल तक संसार में परिभ्रमण कराने वाली उत्कट कषाय।

अनपवर्तनीय आयु—जो आयु किसी भी कारण से कम न हो। जितने काल तक के लिए बाँधी गई हो, उतने काल तक भोगी जाये।

अनभिगृहीत मिथ्यात्व—परोपदेश निरपेक्ष—स्वभाव से होने वाला पदार्थों का अयथार्थ अज्ञान।

अनवस्थित अवधिज्ञान—जो जल की तरंग के समान कभी घटता है, कभी बढ़ता है, कभी आविर्भूत हो जाता है और कभी तिरोहित हो जाता है।

अनवस्थित पल्य—आगे-आगे बढ़ते जाने वाला होने से नियत स्वरूप के अभाव वाला पल्य।

अनाकारोपयोग—सामान्य विशेषात्मक वस्तु के सामान्य धर्म का अवबोध करने वाले जीव का चैतन्यानुविधायी परिणाम।

अनादि-अनन्त—जिस बंध या उदय की परम्परा का प्रवाह अनादि काल से निराबाध गति से चला आ रहा है, मध्य में न कभी विच्छिन्न हुआ है और न आगे कभी होगा, ऐसे बंध या उदय को अनादि-अनंत कहते हैं।

अनादि बंध—जो बंध अनादि काल से सतत हो रहा है।

अनादि श्रुत—जिस श्रुत की आदि न हो, उसे अनादि श्रुत कहते हैं।

अनादि-सान्त—जिस बंध या उदय की परम्परा का प्रवाह अनादिकाल से बिना व्यवधान के चला आ रहा है लेकिन आगे व्युच्छिन्न हो जायेगा, वह अनादि—सान्त है।

अनादेय नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का युक्तियुक्त अच्छा वचन भी अनादरणीय-अग्राह्य माना और समझा जाता है।

अनभिग्रहिक मिथ्यात्व—सत्यासत्य की परीक्षा किये बिना ही सब पक्षों को बराबर समझना।

अनाभोग मिथ्यात्व—अज्ञानजन्य अतत्त्व रुचि।

अनाहारक—ओज, लोम और कवल इनमें से किसी भी प्रकार के आहार को न करने वाले जीव अनाहारक होते हैं।

अनिवृत्तिकरण—वह परिणाम जिसके प्राप्त होने पर जीव अवश्यमेव सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

अनिवृत्तिबादरसंपराय गुणस्थान—वह है जिसमें बादर (स्थूल) संपराय (कषाय) उदय में हो तथा समसमयवर्ती जीवों के परिणामों में समानता हो।

अनुत्कृष्ट बंध—एक समय कम उत्कृष्ट स्थिति बंध से लेकर जघन्य स्थिति बंध तक के सभी बंध।

अनुगामी अवधिज्ञान—जो अवधिज्ञान अपने उत्पत्ति क्षेत्र को छोड़कर दूसरे स्थान पर चले जाने पर भी विद्यमान रहता है।

अनुभवयोग्या स्थिति—अबाधा काल रहित स्थिति।

अनुभाग बंध—कर्मरूप गृहीत पुद्गल परमाणुओं की फल देने की शक्ति व उसकी तीव्रता, मंदता का निश्चय करना अनुभाग बंध कहलाता है।

अनुयोग श्रुत—सत् आदि अनुयोगद्वारों में से किसी एक के द्वारा जीवादि पदार्थों को जानना।

अनुयोगसमास श्रुत—एक से अधिक दो, तीन आदि अनुयोगद्वारों का ज्ञान।

अन्तरकरण—एक आवली या अन्तर्मुहूर्त प्रमाण नीचे और ऊपर की स्थिति को छोड़कर मध्य में से अन्तर्मुहूर्त प्रमाण दलिकों को उठाकर उनका बंधने वाली अन्य सजातीय प्रकृतियों में प्रक्षेप करने का नाम अन्तरकरण है। इस अन्तरकरण के लिये जो क्रिया की जाती है और उसमें जो काल लगता है उसे भी उपचार से अन्तरकरण कहते हैं।

अन्तराय—ज्ञानाभ्यास के साधनों में विघ्न डालना, विद्यार्थियों के लिये प्राप्त होने वाले अभ्यास के साधनों की प्राप्ति न होने देना आदि अन्तराय कहलाता है।

अन्तराय कर्म—जो कर्म आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य रूप शक्तियों का घात करता है। अथवा दानादि में अन्तराय रूप हो उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

अन्तःकोड़ाकोड़ी—कुछ कम एक कोड़ाकोड़ी।

अपर्यवसित श्रुत—वह श्रुत जिसका अन्त न हो।

अपर्याप्त—अपर्याप्त नामकर्म के उदय वाले जीव।

अपर्याप्त नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण न करे।

अपरावर्तमाना प्रकृति—किसी दूसरी प्रकृति के बंध, उदय अथवा दोनों के बिना जिस प्रकृति के बंध, उदय अथवा दोनों होते हैं।

अपवर्तना—बद्ध कर्मों की स्थिति तथा अनुभाग में अध्यवसाय विशेष से कमी कर देना।

अपवर्तनाकरण—जिस वीर्य विशेष से पहले बंधे हुए कर्म की स्थिति तथा रस घट जाते हैं, उसे अपवर्तनाकरण कहते हैं।

अपवर्तनीय आयु—बाह्य निमित्त से जो आयु कम हो जाती है उसे अपवर्तनीय (अपवर्त्य) कहते हैं। इस आयुच्छेद को अकालमरण भी कहा जाता है।

अपुण्यकर्म—जो दुःख का वेदन कराता है, उसे अपुण्यकर्म कहते हैं।

अपूर्वकरण—वह परिणाम जिसके द्वारा जीव राग-द्वेष की दुर्भेद्यग्रन्थि को तोड़कर लांघ जाता है।

अपूर्वस्थिति बंध—पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प स्थिति के कर्मों को बांधना।

अप्रतिपाती अवधिज्ञान—जिसका स्वभाव पतनशील नहीं है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय—जिस कषाय के उदय से देशविरति—आंशिक त्याग रूप अल्प प्रत्याख्यान न हो सके। जो कषाय आत्मा के देशविरत गुण (श्रावकाचार) का घात करे।

अप्रमत्तसंयत गुणस्थान—जो संयत (मुनि) विकथा, कषाय आदि प्रमादों का सेवन नहीं करते हैं वे अप्रमत्तसंयत हैं और उनके स्वरूप विशेष को अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं।

अप्राप्यकारी—पदार्थों के साथ बिना संयोग किये ही पदार्थ का ज्ञान करना।

अबंध प्रकृति—विवक्षित गुणस्थान में वह कर्म प्रकृति न बंधे किन्तु आगे के स्थान में उस कर्म का बंध हो, उसे अबंध प्रकृति कहते हैं।

अबंधकाल—पर-भव सम्बन्धी आयुकर्म के बंधकाल से पहले की अवस्था।

अबाधाकाल—बंधे हुए कर्म का जितने समय तक आत्मा को शुभाशुभ फल का वेदन नहीं होता।

अभिगृहीत मिथ्यात्व—कारणवश, एकान्तिक कदाग्रह से होने वाले पदार्थ के अयथार्थ श्रद्धान को कहते हैं।

अभिनव कर्मग्रहण—जिस आकाश क्षेत्र में आत्मा के प्रदेश हैं उसी क्षेत्र में अव-

स्थित कर्म रूप में परिणत होने की योग्यता रखने वाले पुद्गल स्कन्धों की वर्गणाओं को कर्म रूप में परिणत कर जीव द्वारा उनका ग्रहण होना अभिनव कर्म ग्रहण है।

अभव्य—वे जीव जो अनादि तथाविध पारिणामिक भाव के कारण किसी भी समय मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता ही नहीं रखते।

अम्बरस नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस नींबू, इमली आदि खट्टे पदार्थों जैसा हो।

अयुत—चौरासी लाख अयुतांग का एक अयुत होता है।

अयुतांग—चौरासी लाख अर्थनिपूर के समय को एक अयुतांग कहते हैं।

अयोगिकेवली—जो केवली भगवान योगों से रहित हैं, अर्थात् जब सयोगि-केवली मन, वचन और काया के योगों का निरोध कर, कर्म-रहित होकर शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं, तब वे अयोगिकेवली कहलाते हैं।

अयोगिकेवली यथाख्यात संयम—अयोगिकेवली का संयम।

अयश:कीर्ति नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का लोक में अपयश और अपकीर्ति फैले।

अध्यवसाय—स्थितिबंध के कारणभूत कषायजन्य आत्म-परिणाम।

अध्यवसाय स्थान—कषाय के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम तथा मन्द, मन्दतर और मन्दतम उदय-विशेष।

अरति मोहनीय—जिस कर्म के उदय से कारणवश या बिना कारण के पदार्थों से अप्रीति-द्वेष हो।

अर्थनिपूर—चौरासी लाख अर्थनिपूरांग का एक अर्थनिपूर होता है।

अर्थनिपूरांग—चौरासी लाख नलिन के समय को अर्थनिपूरांग कहा जाता है।

अर्थावग्रह—विषय और इन्द्रियों का संयोग पुष्ट हो जाने पर 'यह कुछ है' ऐसा जो विषय का सामान्य बोध होता है उसे अर्थावग्रह कहते हैं। अथवा पदार्थ के अव्यक्त ज्ञान को अर्थावग्रह कहते हैं।

अर्धनाराचसंहनन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में एक ओर मर्कट बंध और दूसरी ओर कीली हो।

अल्पतर बंध—अधिक कर्म प्रकृतियों का बंध करके कम प्रकृतियों के बंध करने को अल्पतर बंध कहते हैं।

अल्पबहुत्व—पदार्थों का परस्पर न्यूनाधिक-अल्पाधिक भाव।

अवक्तव्य बंध—बंध के अभाव के बाद पुनः कर्म बंध अथवा सामान्यपने से भंग विवक्षा को किये बिना अवक्तव्य बंध है।

अवग्रह—नाम, जाति आदि की विशेष कल्पना से रहित सामान्य सत्ता मात्र का ज्ञान।

अवधिअज्ञान—मिथ्यात्व के उदय से रूपी पदार्थों का विपरीत अवधिज्ञान। इसका दूसरा नाम विभंगज्ञान भी है।

अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता की अपेक्षा न कर साक्षात् आत्मा के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादापूर्वक रूपी अर्थात् मूर्त द्रव्य का ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है। अथवा जो ज्ञान अधोऽधोविस्तृत वस्तु के स्वरूप को जानने की शक्ति रखता है अथवा जिस ज्ञान में सिर्फ रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष करने की शक्ति हो अथवा बाह्य अर्थ को साक्षात् करने के लिये जो आत्मा का व्यापार होता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञानावरण कर्म—अवधिज्ञान का आवरण करने वाला कर्म।

अवधिदर्शन—इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना ही आत्मा को रूपी द्रव्यों के सामान्य धर्म का प्रतिभास।

अवधिदर्शनावरण कर्म—अवधिदर्शन को आवृत्त करने वाला कर्म।

अवव—चौरासी लाख अववांग के काल को एक अवव कहते हैं।

अववांग—चौरासी लाख अडड का एक अववांग होता है।

अवस्थित अवधिज्ञान—जो अवधिज्ञान जन्मान्तर होने पर भी आत्मा में अवस्थित रहता है अथवा केवलज्ञान की उत्पत्ति पर्यन्त या आजन्म ठहरता है।

अवस्थित बंध—पहले समय में जितने कर्मों का बंध किया, दूसरे समय में भी उतने ही कर्मों का बंध करना।

अवसर्पिणी काल—दस कोटाकोटी सूक्ष्म अद्धासागरोपम के समय को एक अवसर्पिणी काल कहते हैं। इस समय में जीवों की शक्ति, सुख, अवगाहना आदि का उत्तरोत्तर ह्रास होता जाता है।

अवाय—ईहा के द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थ के विषय में कुछ अधिक निश्चयात्मक ज्ञान होना।

अविपाक निर्जरा—उदयावली के बाहर स्थित कर्म को तप आदि क्रियाविशेष की सामर्थ्य से उदयावली में प्रविष्ट कराके अनुभव किया जाना।

अविभाग प्रतिच्छेद—वीर्य-शक्ति के अविभागी अंश या भाग। वीर्य परमाणु, भाव परमाणु इसके दूसरे नाम हैं।

अविरत—दोषों से विरत न होना। यह आत्मा का वह परिणाम है जो चारित्र ग्रहण करने में विघ्न डालता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—सम्यग्दृष्टि होकर भी जो जीव किसी प्रकार के व्रत को धारण नहीं कर सकता वह अविरत सम्यग्दृष्टि है और उसके स्वरूप विशेष को अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहते हैं।

अशुभ नामकर्म—जिस कर्म के उदय से नाभि के नीचे के अवयव अशुभ हों।

अशुभ विहायोगति नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल ऊँट आदि की चाल की भाँति अशुभ हो।

अर्धोगत सासादन सम्यग्दृष्टि—जो उपशम सम्यग्दृष्टि जीव ग्यारहवें श्रेणि पर तो चढ़ा नहीं किंतु अनंतानुबंधी के उदय से सासादन भाव को प्राप्त हो गया उसे अर्धोगत सासादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

असंज्ञी—जिन्हें मनोलब्धि प्राप्त नहीं है अथवा जिन जीवों के बुद्धिपूर्वक इष्ट-अनिष्ट में प्रवृत्ति-निवृत्ति नहीं होती है, वे असंज्ञी हैं।

असंज्ञी श्रुत—असंज्ञी जीवों का श्रुत ज्ञान।

असंख्यातागु वर्गणा—असंख्यात प्रदेशी स्कन्धों की वर्गणा।

असत्य मनोयोग—जिस मनोयोग के द्वारा वस्तु स्वरूप का विपरीत चिन्तन हो अथवा सत्य मनोयोग से विपरीत मनोयोग।

असत्य वचनयोग—असत्य वचन वर्गणा के निमित्त से होने वाले योग अथवा किसी वस्तु को अयथार्थ सिद्ध करने वाले वचनयोग को कहते हैं।

असत्यामृषा मनोयोग—जो मन न तो सत्य हो और न मृषा ही उसे असत्यामृषा मन कहते हैं और उसके द्वारा होने वाला योग असत्यामृषा मनोयोग कहलाता है। अथवा जिस मनोयोग का चिंतन विधि-निषेध शून्य हो, जो चिंतन न तो किसी वस्तु की स्थापना करता हो और न निषेध, उसे असत्यामृषा मनोयोग कहते हैं।

असत्यामृषा वचनयोग—जो वचनयोग न तो सत्य रूप हो और न मृषा रूप ही हो। अथवा जो वचनयोग किसी वस्तु के स्थापन-उत्थापन के लिए प्रवृत्त नहीं होता उसे असत्यामृषा वचनयोग कहते हैं।

असाता वेदनीय कर्म—जिस कर्म के उदय से आत्मा को अनुकूल इन्द्रिय विषयों

की अप्राप्ति हो और प्रतिकूल इन्द्रिय विषयों की प्राप्ति के कारण दुख का अनुभव हो।

अस्थिर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से नाक-भौं, जिह्वा आदि अवयव अस्थिर अर्थात् चपल होते हैं।

(आ)

आगाल—द्वितीय स्थिति के दलिकों को अपकर्षण द्वारा प्रथम स्थिति के दलिकों में पहुँचाना।

आतप नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वयं उष्ण न होकर भी उष्ण प्रकाश करता है।

आदेय नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्वमान्य हो।

आनुपूर्वी नामकर्म—इसके उदय से विग्रहगति में रहा हुआ जीव आकाश प्रदेशों की श्रेणी के अनुसार गमन कर उत्पत्ति-स्थान पर पहुँचता है।

आभिग्रहिक मिथ्यात्व—तत्त्व की परीक्षा किये बिना ही किसी एक सिद्धांत का पक्षपात करके अन्य पक्ष का खण्डन करना।

आभिनिवेशिक मिथ्यात्व—अपने पक्ष को असत्य जानकर भी उसकी स्थापना करने के लिये दुरभिनिवेश (दुराग्रह) करना।

आभ्यन्तर निवृत्ति—इन्द्रियों का आंतरिक—भीतरी आकार।

आत्मांगुल—प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना अंगुल। इसके द्वारा अपने शरीर की ऊँचाई नापी जाती है।

आयुःकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव-देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारक के रूप में जीता है और उसके क्षय होने पर उन-उन रूपों का त्याग करता है, यानी मर जाता है।

आयंबिल—जिसमें विगय—दूध, घी आदि रस छोड़कर केवल दिन में एक बार अन्न खाया जाता है तथा गरम (प्रासुक) जल पिया जाता है।

आवली—असंख्यात समय की एक आवली होती है।

आवश्यक श्रुत—गुणों के द्वारा आत्मा को वश में करना आवश्यकीय है, ऐसा वर्णन जिसमें हो उसे आवश्यक श्रुत कहते हैं।

आशातना—ज्ञानियों की निंदा करना, उनके बारे में झूठी बातें कहना, मर्मच्छेदी

बातें लोक में फैलाना, उन्हें मार्मिक पीड़ा हो ऐसा कपट-जाल फैलाना आशातना है।

अल्पभव्य—निकट काल में ही मोक्ष को प्राप्त करने वाला जीव।

आस्रव—शुभाशुभ कर्मों के आगमन का द्वार।

आहार—शरीर नामकर्म के उदय से देह, वचन और द्रव्य मन रूप बनने योग्य नोकर्म वर्गणा का जो ग्रहण होता है, उसको आहार कहते हैं। अथवा तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण को आहार कहते हैं।

आहार पर्याप्ति—बाह्य आहार पुद्गलों को ग्रहण करके खलभाग रसभाग में परिणमाने की जीव की शक्ति विशेष की पूर्णता।

आहार संज्ञा—आहार की अभिलाषा, क्षुधा, वेदनीय कर्म के उदय से होने वाले आत्मा का परिणाम विशेष।

आहारक—ओज, लोम और कवल इनमें से किसी भी प्रकार के आहार को ग्रहण करने वाले जीव को आहारक कहते हैं। अथवा समय-समय जो आहार करे उसे आहारक कहते हैं।

आहारक अंगोपांग नामकर्म—जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर रूप परिणत पुद्गलों से अंगोपांग रूप अवयवों का निर्माण हो।

आहारक काययोग—आहारक शरीर और आहारक शरीर की सहायता से होने वाला वीर्य-शक्ति का व्यापार।

आहारककार्मणबंधन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर पुद्गलों का कार्मण पुद्गलों के साथ सम्बन्ध हो।

आहारकतैजसकार्मणबंधन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर पुद्गलों का तैजस-कार्मण पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है।

आहारकतैजसबंधन नामकर्म—जिसके उदय से आहारक शरीर पुद्गलों का तैजस पुद्गलों के साथ सम्बन्ध हो।

आहारकमिश्र काययोग—आहारक शरीर की उत्पत्ति प्रारम्भ होने के प्रथम समय से लगाकर शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने तक अन्तर्मुहूर्त के मध्यवर्ती अपरिपूर्ण शरीर को आहारक मिश्रकाय कहते हैं और उसके द्वारा उत्पन्न योग को आहारकमिश्र काययोग कहते हैं। अथवा आहारक और औदा-

रिक इन दो शरीरों के मिश्रत्व द्वारा होने वाले वीर्य-शक्ति के व्यापार को आहारकमिश्र काययोग कहते हैं।

आहारकयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा—आहारकयोग्य जघन्य वर्गणा से अनन्तवें भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धों की आहारक शरीर के ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

आहारकयोग्य जघन्य वर्गणा—वैक्रिय शरीरयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के अनन्तर की अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की जो वर्गणा होती है, वह आहारकयोग्य जघन्य वर्गणा कहलाती है।

आहारक वर्गणा—जिन वर्गणाओं से आहारक शरीर बनता है।

आहारकशरीर नामकर्म—चतुर्दश पूर्वधर मुनि विशिष्ट कार्य हेतु, जैसे—किसी विषय में सन्देह उत्पन्न हो जाये अथवा तीर्थंकर की ऋद्धि दर्शन की इच्छा हो जाये, आहारक वर्गणा द्वारा जो स्व-हस्त प्रमाण पुतला-शरीर बनाते हैं, उसे आहारकशरीर कहते हैं और जिस कर्म के उदय से जीव को आहारकशरीर की प्राप्ति होती है वह आहारक शरीर नामकर्म है।

आहारकशरीरबंधन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत आहारक शरीर पुद्गलों के साथ गृह्यमाण आहारकशरीर पुद्गलों का आपस में मेल हो।

आहारकसंघातन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से आहारकशरीर रूप परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो।

आहारक समुद्घात—आहारकशरीर के निमित्त से होने वाला समुद्घात।

(इ)

इत्वरसामायिक—जो अभ्यासार्थी शिष्यों को स्थिरता प्राप्त करने के लिए पहले पहल दिया जाता है। इसकी कालमर्यादा उपस्थान पर्यंत (बड़ी दीक्षा लेने तक) छह मास तक मानी जाती है।

इन्द्रिय—आवरण कर्म का क्षयोपशम होने पर स्वयं पदार्थ का ज्ञान करने में असमर्थ—ज्ञस्वभाव रूप आत्मा को पदार्थ का ज्ञान कराने में निमित्तभूत कारण, अथवा जिसके द्वारा आत्मा जाना जाये अथवा अपने-अपने स्पर्शादिक विषयों में दूसरे की (रसना आदि की) अपेक्षा न रखकर इन्द्र के समान जो समर्थ एवं स्वतन्त्र हों उन्हें इन्द्रिय कहते हैं।

इन्द्रिय पर्याप्ति—जीव की वह शक्ति जिसके द्वारा धातु रूप में परिणत आहार

पुद्गलों में से योग्य पुद्गल इन्द्रिय रूप से परिणत किये जाते हैं। अथवा जीव की वह शक्ति है जिसके द्वारा योग्य आहार पुद्गलों को इन्द्रिय रूप परिणत करके इन्द्रियजन्य बोध का सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है।

(ई)

ईहा—अवग्रह के द्वारा जाने हुए पदार्थ के विषय में धर्म विषयक विचारणा।

(उ)

उच्चकुल—धर्म और नीति की रक्षा के संबंध में जिस कुल ने चिरकाल से प्रसिद्धि प्राप्त की है।

उच्च गोत्रकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव उच्च कुल में जन्म लेता है।

उच्छ्वास काल—निरोग, स्वस्थ, निश्चिन्त, तरुण पुरुष के एक बार श्वास लेने और त्यागने का काल।

उच्छ्वास-निश्वास—संख्यात आवली का एक उच्छ्वास-निश्वास होता है।

उच्छ्वास नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव श्वासोच्छ्वासलब्धि युक्त होता है।

उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात—जघन्य असंख्यातासंख्यात की राशि का अन्योन्याभ्यास करने से प्राप्त होने वाली राशि में से एक को कम करने पर प्राप्त राशि।

उत्कृष्ट परीतानन्त—जघन्य परीतानन्त की संख्या का अन्योन्याभ्यास करने पर प्राप्त संख्या में से एक को कम कर देने पर प्राप्त संख्या।

उत्कृष्ट युक्तानन्त—जघन्य युक्तानन्त की संख्या का परस्पर गुणा करने पर प्राप्त संख्या में से एक कम कर देने पर उत्कृष्ट युक्तानन्त होता है।

उत्कृष्ट परीतासंख्यात—जघन्य परीतासंख्यात की राशि का अन्योन्याभ्यास करके उसमें से एक को कम करने पर प्राप्त संख्या।

उत्कृष्ट युक्तासंख्यात—जघन्य युक्तासंख्यात की राशि का परस्पर गुणा करने पर प्राप्त राशि में से एक को कम कर देने पर प्राप्त राशि।

उत्कृष्ट संख्यात—अनवस्थित, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका पल्यों को विधिपूर्वक सरसों के दानों से परिपूर्ण भरकर उनके दानों के जोड़ में से एक दाना कम कर लिए जाने पर प्राप्त संख्या।

उत्कृष्ट बन्ध—अधिकतम स्थिति बन्ध।

उत्तर प्रकृति—कर्मों के मुख्य भेदों के अवान्तर भेद।

उत्पल—चौरासी लाख उत्पलांग का एक उत्पल होता है।

उत्पलांग—चौरासी लाख 'हु हु' के समय को एक उत्पलांग कहते हैं।

उत्श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका—यह अनन्त व्यवहार परमाणु की होती है।

उत्सर्पिणी काल—इस कोटा-कोटी सूक्ष्म अद्धा सागरोपम का काल। इसमें जीवों की शक्ति, बुद्धि, अवगाहना आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है।

उत्सेधांगुल—आठ यव मध्य का एक उत्सेधांगुल होता है।

उदय—बँधे हुए कर्म दलिकों की स्वफल प्रदान करने की अवस्था अथवा काल प्राप्त कर्म परमाणुओं के अनुभव करने को उदय कहते हैं।

उदयकाल—अबाधा काल व्यतीत हो चुकने पर जिस समय कर्म के फल का अनुभव होता है, उस समय को उदयकाल कहते हैं। अथवा कर्म के फल-भोग के नियत काल को उदयकाल कहा जाता है।

उदयविकल्प—उदयस्थानों के भंगों को उदयविकल्प कहते हैं।

उदयस्थान—जिन प्रकृतियों का उदय एक साथ पाया जाये; उनके समुदाय को उदयस्थान कहते हैं।

उदीरणा—उदयकाल को प्राप्त नहीं हुए कर्मों का आत्मा के अध्यवसाय-विशेष —प्रयत्न-विशेष से नियत समय से पूर्व उदयहेतु उदयावलि में प्रविष्ट करना, अवस्थित करना या नियत समय से पूर्व कर्म का उदय में आना अथवा अनुदयकाल को प्राप्त कर्मों को फलोदय की स्थिति में ला देना।

उदीरणा स्थान—जिन प्रकृतियों की उदीरणा एक साथ पाई जाये उनके समुदाय को उदीरणास्थान कहते हैं।

उद्धार पल्य—व्यवहार पल्य के एक-एक रोमखंड के कल्पना के द्वारा असंख्यात कोटि वर्ष के समय जितने खंड करके उन सब खंडों को पल्य में भरना उद्धार पल्य कहलाता है।

उद्योत नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शीत प्रकाश फैलाता है।

उद्वर्तना—बद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग में स्थितिविशेष, भावविशेष और अध्यवसायविशेष के कारण वृद्धि हो जाना।

उद्वलना—यथाप्रवृत्त आदि तीन करणों के बिना ही किसी प्रकृति को अन्य प्रकृति रूप परिणमाना।

उन्मार्ग देशना—संसार के कारणों और कार्यों का मोक्ष के कारणों के रूप में उपदेश देना; धर्म-विपरीत शिक्षा।

उपकरण द्रव्येन्द्रिय—आभ्यन्तर निर्वृत्ति की विषय-ग्रहण की शक्ति को अथवा जो निर्वृत्ति का उपकार करती है, उसे उपकरण द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

उपघात—शक्तियों और ज्ञान के साधनों का नाश कर देना।

उपघात नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव अपने शरीर के अवयवों जैसे प्रतिजिह्वा, चोर दन्त आदि से क्लेश पाता है, वह उपघात नामकर्म कहलाता है।

उपपात जन्म—उत्पत्तिस्थान में स्थित वैक्रिय पुद्गलों को पहले-पहल शरीर रूप में परिणत करना उपपात जन्म कहा जाता है।

उपभोगान्तराय कर्म—उपभोग की सामग्री होते हुए भी जीव जिस कर्म के उदय से उस सामग्री का उपभोग न कर सके।

उपयोग—जीव का बोध रूप व्यापार अथवा जीव का जो भाव वस्तु के ग्रहण करने के लिए प्रवृत्त होता है, जिसके द्वारा वस्तु का सामान्य व विशेष स्वरूप जाना जाता है; अथवा आत्मा के चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं।

उपयोग भावेन्द्रिय—लब्धि रूप भावेन्द्रिय के अनुसार आत्मा की विषय-ग्रहण में होने वाली प्रवृत्ति।

उपरतबंधकाल—पर-भव सम्बन्धी आयुबन्ध से उत्तरकाल की अवस्था।

उर्ध्वरेणु—आठ श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका का एक उर्ध्वरेणु होता है।

उष्णस्पर्श नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आग जैसा उष्ण हो।

उपशम—आत्मा में कर्म की निज शक्ति का कारणवश प्रगट न होना अथवा प्रदेश और विपाक दोनों प्रकार के कर्मोदय का रुक जाना उपशम है।

उपशमन—कर्म की जिस अवस्था में उदय अथवा उदीरणा संभव नहीं होती है।

उपशमश्रेणि—जिस श्रेणी में मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों का उपशम किया जाता है।

उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान—उन जीवों के स्वरूप विशेष को कहते हैं जिनके कषाय उपशान्त हुए हैं, राग का भी सर्वथा उदय नहीं है और छद्म (आवरणभूत घातिकर्म) लगे हुए हैं।

उपशान्ताद्धा—औपशमिक सम्यक्त्व के काल को उपशान्ताद्धा कहा जाता है।

(क)

ऊह—चौरासी लाख ऊहांग का एक ऊह होता है।

ऊहांग—चौरासी लाख महा अवड का समय।

(ए)

एकस्थानिक—कर्म प्रकृति का स्वाभाविक अनुभाग—फलजनक शक्ति।

एकान्त मिथ्यात्व—अनेक धर्मात्मक पदार्थों को किसी एक धर्मात्मक ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है।

एकेन्द्रिय जीव—जिनके एकेन्द्रिय जाति नामकर्म का उदय होता है और सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय ही जिनमें पाई जाती है।

एकेन्द्रिय जाति नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को सिर्फ एक इन्द्रिय—स्पर्शन इन्द्रिय प्राप्त हो।

(ओ)

ओघबंध—किसी खास गुणस्थान या मार्गणा आदि की विवक्षा किये बिना ही सब जीवों को जो बंध कहा जाता है, उसे ओघबंध या सामान्य बंध कहते हैं।

ओघसंज्ञा—अव्यक्त चेतना को ओघसंज्ञा कहा जाता है।

ओजाहार—गर्भ में उत्पन्न होने के समय जो शुक्र-शोणित रूप आहार कार्मण-शरीर के द्वारा लिया जाता है।

(औ)

औत्पातिकी बुद्धि—जिस बुद्धि के द्वारा पहले बिना सुने, बिना जाने हुए पदार्थों के विशुद्ध अर्थ, अभिप्राय को तत्काल ग्रहण कर लिया जाता है।

औदयिक भाव—कर्मों के उदय से होने वाला भाव।

औदारिक अंगोपांग नामकर्म—जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर रूप में परिणत पुद्गलों से अंगोपांग रूप अवयव बनते हैं।

औदारिकऔदारिकबंधन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर पुद्गलों का औदारिक पुद्गलों के साथ सम्बन्ध हो।

औदारिक काययोग—औदारिक शरीर द्वारा उत्पन्न हुई शक्ति से जीव के प्रदेशों में परिस्पन्द के कारणभूत प्रयत्न का होना; अथवा औदारिक शरीर के वीर्य-शक्ति के व्यापार को औदारिक काययोग कहते हैं।

औदारिककार्मणबन्धन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर पुद्गलों का कार्मण पुद्गलों के साथ सम्बन्ध हो।

औदारिकतैजसकार्मणबंधन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से औदारिकशरीर पुद्गलों का तैजस-कार्मण पुद्गलों के साथ सम्बन्ध हो।

औदारिकतैजसबंधन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से औदारिकशरीर पुद्गलों का तैजस पुद्गलों के साथ सम्बन्ध हो।

औदारिकमिश्र काय—औदारिकशरीर की उत्पत्ति प्रारम्भ होने के प्रथम समय से लगाकर अन्तर्मुहूर्त तक मध्यवर्ती काल में वर्तमान अपरिपूर्ण शरीर को कहते हैं।

औदारिकमिश्र काययोग—औदारिक और कार्मण इन दोनों शरीरों की सहायता से होने वाले वीर्य-शक्ति के व्यापार को अथवा औदारिकमिश्र काय द्वारा होने वाले प्रयत्नों को औदारिकमिश्र काययोग कहा जाता है।

औदारिक शरीर—जिस शरीर को तीर्थंकर आदि महापुरुष धारण करते हैं, जिससे मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, जो औदारिक वर्गणाओं से निष्पन्न मांस, हड्डी आदि अवयवों से बना होता है, स्थूल है आदि, वह औदारिक-शरीर कहलाता है।

औदारिकशरीर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से औदारिकशरीर प्राप्त हो।

औदारिकशरीरबंधन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत औदारिक पुद्गलों के साथ वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाले औदारिक पुद्गलों का आपस में मेल होता है।

औदारिक वर्गणा—जिन पुद्गल वर्गणाओं से औदारिक शरीर बनता है।

औदारिकसंघातन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर रूप परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो।

औपपातिक वैक्रिय शरीर—उपपात जन्म लेने वाले देव और नारकों को जो शरीर जन्म समय से ही प्राप्त होता है।

औपशमिक भाव—मोहनीयकर्म के उपशम से होने वाला भाव।

औपशमिक चारित्र—चारित्र मोहनीय की पच्चीस प्रकृतियों के उपशम से व्यक्त होने वाला स्थिरात्मक आत्म-परिणाम।

औपशमिक सम्यक्त्व—अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक—कुल

सात प्रकृतियों के उपशम से जो तत्त्व रुचि व्यंजक आत्म-परिणाम प्रगट होता है, वह औपशमिक सम्यक्त्व है।

(क)

कटुरस नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस चिरायते, नीम आदि जैसा कटु हो।

कमल—चौरासी लाख कमलांग के काल को कहते हैं।

कमलांग—चौरासी लाख महापद्म का एक कमलांग होता है।

करण-पर्याप्त—वे जीव जिन्होंने इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण कर ली है अथवा अपनी योग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण कर ली हैं।

करण-अपर्याप्त—पर्याप्त या अपर्याप्त नामकर्म का उदय होने पर भी जब तक करणों—शरीर, इन्द्रिय आदि पर्याप्तियों की पूर्णता न हो तब तक वे जीव करण-अपर्याप्त कहलाते हैं।

करणलब्धि—अनादिकालीन मिथ्यात्व-ग्रन्थि को भेदने में समर्थ परिणामों या शक्ति का प्राप्त होना।

कवलाहार—अन्न आदि खाद्य पदार्थ जो मुख द्वारा ग्रहण किये जाते हैं।

कर्म—मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से हुई जीव की प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट एवं सम्बद्ध तत्योग्य पुद्गल परमाणु।

कर्मजा बुद्धि—उपयोगपूर्वक चिन्तन, मनन और अभ्यास करते-करते प्राप्त होने वाली बुद्धि।

कर्मयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा—कर्मयोग्य जघन्य वर्गणाओं के अनन्तवें भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धों की कर्मग्रहण के योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

कर्मयोग्य जघन्य वर्गणा—उत्कृष्ट मनोयोग्य वर्गणा के अनन्तर की ग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कन्ध के प्रदेशों से एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की वर्गणा कर्मग्रहण के योग्य जघन्य वर्गणा होती है।

कर्मरूप परिणमन—कर्म पुद्गलों में जीव के ज्ञान, दर्शन आदि स्वाभाविक गुणों को आवरण करने की शक्ति का हो जाना।

कर्मरूपतावस्थानलक्षणा स्थिति—बंधने के बाद जब तक कर्म आत्मा के साथ ठहरता है, उतना काल।

कर्मवर्गणा—कर्म स्कन्धों का समूह।

कर्मवर्गणा स्कन्ध—जो पुद्गल स्कन्ध कर्मरूप परिणत होते हैं।

कर्मविधान—मिथ्यात्व आदि कारणों के द्वारा आत्मा के साथ होने वाले कर्मबंध के सम्बन्ध को कर्मविधान कहते हैं।

कर्मशरीर—कर्मों का पिण्ड।

कषाय—आत्मगुणों को कषे, नष्ट करे, अथवा जिसके द्वारा जन्म-मरण रूप संसार की प्राप्ति हो अथवा जो सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र और यथाख्यातचारित्र को न होने दे, वह कषाय कहलाती है।

कषाय मोहनीयकर्म के उदयजन्य, संसार-वृद्धि के कारणरूप मानसिक विकारों को कषाय कहते हैं।

समभाव की मर्यादा को तोड़ना, चारित्र मोहनीय के उदय से क्षमा, विनय, संतोष आदि आत्मिक गुणों का प्रगट न होना या अल्पमात्रा में प्रगट होना कषाय है।

कषायरस नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस आंवला, बहेड़ा आदि जैसा कसैला हो।

कषाय विजय—क्रोधादि कषायों के कारण उपस्थित होने पर भी उन्हें नहीं होने देना।

कषाय समुद्घात—क्रोधादि के निमित्त से होने वाला समुद्घात।

कापोतलेश्या—कबूतर के गले के समान रक्त तथा कृष्ण वर्ण के लेश्याजातीय पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा के ऐसे परिणामों का होना कि जिससे मन, वचन, काया की प्रवृत्ति में वक्रता ही वक्रता रहे, सरलता न रहे। दूसरों को कष्ट पहुंचे ऐसे भाषण करने की प्रवृत्ति, नास्तिकता रहे। इन परिणामों को कापोतलेश्या कहा जाता है।

काय—जिसकी रचना और वृद्धि औदारिक, वैक्रिय आदि पुद्गल स्कन्धों से होती है तथा जो शरीर नामकर्म के उदय से निष्पन्न होता है; अथवा जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को काय कहते हैं।

काययोग—शरीरधारी आत्मा की शक्ति के व्यापार-विशेष को काययोग कहते हैं; अथवा जिसमें आत्म-प्रदेशों का संकोच-विकोच हो उसे काय कहते हैं और उसके द्वारा होने वाला योग काययोग कहलाता है। अथवा औदा-

रिक आदि सात प्रकार के कायों में जो अन्वय रूप से रहता है, उसे सामान्यतः काय कहते हैं और उस काय से उत्पन्न हुए आत्म-प्रदेश परिस्पन्द लक्षण वीर्य (शक्ति) के द्वारा जो योग होता है, वह काययोग है।

कारक सम्यक्त्व—जिनोक्त क्रियाओं—सामायिक, श्रुति-श्रवण, गुरु-वंदन आदि को करना।

कार्मणकाय—कर्मों के समूह अथवा कार्मणशरीर नामकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले काय को कार्मणकाय कहते हैं।

कार्मणकायप्रयोग—कार्मणकाय के द्वारा होने वाला योग अर्थात् अन्य औदारिक आदि शरीर वर्गणाओं के बिना सिर्फ कर्म से उत्पन्न हुए वीर्य (शक्ति) के निमित्त से आत्म-प्रदेश-परिस्पन्दन रूप प्रयत्न होना कार्मणकाययोग कहलाता है। कार्मणशरीर की सहायता से होने वाली आत्म-शक्ति की प्रवृत्ति को कार्मणकाययोग कहते हैं।

कार्मणशरीर—ज्ञानावरण आदि कर्मों से बना हुआ शरीर।

कार्मणशरीर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को कार्मण-शरीर की प्राप्ति हो।

कार्मणकार्मणबंधन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से कार्मणशरीर पुद्गलों का कार्मणशरीर पुद्गलों के साथ सम्बन्ध हो।

कार्मणशरीरबंधन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत कार्मणशरीर पुद्गलों के साथ गृह्यमाण कार्मणशरीर पुद्गलों का आपस में मेल हो।

कार्मणसंघातन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से कार्मणशरीर रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो।

काल-अनुयोग द्वार—जिसमें विवक्षित धर्म वाले जीवों की जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति का विचार किया जाता है।

कीलिकासंहनन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में मर्कट बंध और वेठन न हो किन्तु कीली से हड्डियां जुड़ी हुई हों।

कुब्जसंस्थान नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर कुबड़ा हो।

कुमुद—चौरासी लाख कुमुदांग के काल को कुमुद कहते हैं।

कुमुदांग—चौरासी लाख महाकमल का एक कुमुदांग होता है।

कुशल कर्म—जिसका विपाक इष्ट होता है।

कृतकरण—सम्यक्त्व मोहनीय के अन्तिम स्थिति खण्ड को खपाने वाले क्षपक को कहते हैं।

कृष्णलेश्या—काजल के समान कृष्ण वर्ण के लेश्या जातीय पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा में ऐसे परिणामों का होना, जिससे हिंसा आदि पाँचों आस्रवों में प्रवृत्ति हो—मन, वचन, काय का संयम न रहना, गुण-दोष की परीक्षा किये बिना ही कार्य करने की आदत बन जाना, क्रूरता आ जाना आदि।

कृष्णवर्ण नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कोयले जैसा काला हो।

केवलज्ञान—ज्ञानावरण कर्म का निःशेष रूप से क्षय हो जाने पर जिसके द्वारा भूत, वर्तमान और भावी त्रैकालिक सब द्रव्य और पर्यायें जानी जाती हैं, उसे केवलज्ञान कहते हैं। किसी की सहायता के बिना सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थों का विषय करने वाला ज्ञान केवलज्ञान है।

केवलज्ञानावरण कर्म—केवलज्ञान का आवरण करने वाला कर्म।

केवलदर्शन—सम्पूर्ण द्रव्यों में विद्यमान सामान्य धर्म का प्रतिभास।

केवलदर्शनावरण कर्म—केवलदर्शन का आवरण करने वाला कर्म।

केवली समुद्घात—वेदनीय आदि तीन अघाती कर्मों की स्थिति आयुकर्म के बराबर करने के लिए केवली-जिन द्वारा किया जाने वाला समुद्घात।

केशाग्र—आठ रथरेणु का देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्र के मनुष्य का एक केशाग्र होता है। उनके आठ केशाग्रों का हरिवर्ष और रम्यकवर्ष के मनुष्य का एक केशाग्र होता है तथा उनके आठ केशाग्रों का हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्र के मनुष्य का एक केशाग्र होता है, उनके आठ केशाग्रों का पूर्वापर विदेह के मनुष्य का एक केशाग्र होता है और उनके आठ केशाग्रों का भरत, ऐरावत क्षेत्र के मनुष्य का एक केशाग्र होता है।

कोड़ाकोड़ी—एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर प्राप्त राशि।

क्रोध—समभाव को भूलकर आक्रोश में भर जाना, दूसरों पर रोष करना क्रोध है। अंतरंग में परम उपशम रूप अनन्त गुण वाली आत्मा में क्षोभ तथा बाह्य विषयों में अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से क्रूरता, आवेश रूप विचार उत्पन्न होने को क्रोध कहते हैं। अथवा अपना और पर का उपघात या अनुपकार आदि करने वाला क्रूर परिणाम क्रोध कहलाता है।

क्षपकश्रेणि—जिस श्रेणि में मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का मूल से नाश किया जाता है।

क्षमाशीलता—बदला लेने की शक्ति होते हुए भी अपने साथ बुरा बर्ताव करने वालों के अपराधों को सहन करना। क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी क्रोधभाव पैदा न होने देना।

क्षय—विच्छेद होने पर पुनः बंध की सम्भावना न होना।

क्षयोपशम—वर्तमान काल में सर्वघाती स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय और आगामी काल की अपेक्षा उन्हीं का सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती स्पर्धकों का उदय क्षयोपशम कहलाता है। अर्थात् कर्म के उदयावलि में प्रविष्ट मन्दरस स्पर्धक का क्षय और अनुदयमान रसस्पर्धक की सर्वघातिनी विपाकशक्ति का निरोध या देशघाती रूप में परिणमन व तीव्र शक्ति का मंदशक्ति रूप में परिणमन (उपशमन) क्षयोपशम है।

क्षायिकज्ञान—अपने आवरण कर्म का पूर्ण रूप से क्षय कर देने से उत्पन्न होने वाला ज्ञान।

क्षायिक भाव—कर्म के आत्यन्तिक क्षय से प्रगट होने वाला भाव।

क्षायिक सम्यक्त्व—अनन्तानुबंधी कषायचतुष्क और दर्शनमोहत्रिक इन सात प्रकृतियों के क्षय से आत्मा में तत्त्व रुचि रूप प्रगट होने वाला परिणाम।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि—सम्यक्त्व की बाधक मोहनीय कर्म की सातों प्रकृतियों का पूर्णतया क्षय करके सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले जीव।

क्षायोपशमिक ज्ञान—अपने-अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला ज्ञान।

क्षायोपशमिक भाव—कर्मों के क्षयोपशम से प्रगट होने वाला भाव।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—अनन्तानुबंधी कषायचतुष्क, मिथ्यात्व और सम्यग्-मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और इन्हीं के सदवस्था-रूप उपशम से तथा देशघाती स्पर्धक वाली सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से आत्मा में जो तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप परिणाम होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के क्षय तथा उपशम और सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से आत्मा में होने वाले परिणाम को क्षायोप-शमिक सम्यक्त्व कहते हैं।

क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि–मोहनीयकर्म की प्रकृतियों मे से क्षय योग्य प्रकृतियों के क्षय और शेष रही हुई प्रकृतियों के उपशम करने से सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले जीव को कहते हैं।

क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान–उन जीवों के स्वरूप विशेष को कहते हैं जो मोहनीयकर्म का सर्वथा क्षय कर चुके हैं किन्तु शेष छद्म (घाति-कर्मों का आवरण) अभी विद्यमान है।

क्षुद्र भव–सम्पूर्ण भवों में सबसे छोटे भव।

क्षेत्र अनुयोगद्वार–जिसमें विवक्षित धर्म वाले जीवों का वर्तमान निवास-स्थान बतलाया जाता है, उसे क्षेत्र अनुयोगद्वार कहते हैं।

क्षेत्रविपाकी प्रकृति–जो प्रकृतियाँ क्षेत्र की प्रधानता से अपना फल देती हैं, उन्हें क्षेत्रविपाकी प्रकृति कहते हैं। अथवा विग्रह-गति में जो कर्म प्रकृति उदय में आती है, अपने फल का अनुभव कराती है, वह क्षेत्रविपाकी प्रकृति है।

(ख)

खरस्पर्श नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर गाय की जीभ जैसा खुरदरा, कर्कश हो। इसे कर्कशस्पर्श नामकर्म भी कहा जाता है।

(ग)

गंध नामकर्म–जिस कर्म के उदय से शरीर में शुभ अच्छी या अशुभ बुरी गंध हो।

गति–गति नामकर्म के उदय से होने वाली जीव की पर्याय और जिससे जीव मनुष्य, तिर्यंच, देव या नारक व्यवहार का अधिकारी कहलाता है, उसे गति कहते हैं; अथवा चारों गतियों—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव में गमन करने के कारण को गति कहते हैं।

गतित्रस–उन जीवों को कहते हैं जिनको उदय तो स्थावर नामकर्म का होता है, किन्तु गतिक्रिया पाई जाती है।

गति नामकर्म–जिसके उदय से आत्मा मनुष्यादि गतियों में गमन करे उसे गति कहते हैं।

गमिक श्रुत–आदि, मध्य और अवसान में कुछ विशेषता से उसी सूत्र को बार-बार कहना गमिक श्रुत है।

गुणाणु–पाँच शरीरों के योग्य परमाणुओं की रस-शक्ति का बुद्धि के द्वारा खंडन करने पर जो अविभागी अंश होता है, उसे गुणाणु या भावाणु कहते हैं।

गुणप्रत्यय अवधिज्ञान—जो अवधिज्ञान जन्म लेने से नहीं किन्तु जन्म लेने के बाद यम, नियम और व्रत आदि अनुष्ठान के बल से उत्पन्न होता है, उसको क्षायोपशमिक अवधिज्ञान भी कहते हैं।

गुणस्थान-ज्ञान आदि गुणों की शुद्धि और अशुद्धि के न्यूनाधिक भाव से होने वाले जीव के स्वरूप विशेष को कहते हैं।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि जीव के स्वभाव को गुण कहते हैं और उनके स्थान अर्थात् गुणों की शुद्धि-अशुद्धि के उत्कर्ष एवं अपकर्ष-जन्य स्वरूप विशेष का भेद गुणस्थान कहलाता है।

दर्शन मोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाओं के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावों से जीव लक्षित होते हैं, उन भावों को गुणस्थान कहते हैं।

गुणस्थान क्रम—आत्मिक गुणों के न्यूनाधिक क्रमिक विकास की अवस्था।

गुणसंक्रमण—पहले की बँधी हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बँधने वाली शुभ प्रकृतियों के रूप में परिणत कर देना।

गुणश्रेणी—जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया जाता है उनको समय के क्रम से अन्तर्मुहूर्त में स्थापित कर देना गुणश्रेणी है। अथवा ऊपर की स्थिति में उदय क्षण से लेकर प्रति समय असंख्यातगुणे-असंख्यातगुणे कर्मदलिकों की रचना को गुणश्रेणी कहते हैं।

गुणश्रेणी निर्जरा—अल्प-अल्प समय में उत्तरोत्तर अधिक-अधिक कर्म परमाणुओं का क्षय करना।

गुणहानि—प्रथम निषेक अवस्थिति हानि से जितना दूर जाकर आधा होता है उस अन्तराल को गुणहानि कहते हैं। अथवा अपनी-अपनी वर्गणा के वर्ग में अपनी-अपनी प्रथम वर्गणा के वर्ग से एक-एक अविभागी प्रतिच्छेद अनुक्रम से बंधता है ऐसे स्पर्धकों के समूह का नाम गुणहानि है।

गुरुभक्ति—गुरुजनों (माता-पिता, धर्माचार्य, विद्यागुरु, ज्येष्ठ भाई-बहिन आदि) की सेवा, आदर-सत्कार करना।

गुरुलघु—आठ स्पर्श वाले बादर रूपी द्रव्य को गुरुलघु कहा जाता है।

गुरुस्पर्श नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे जैसा भारी हो।

गव्यूत—दो हजार धनुष का एक गव्यूत होता है।

गोत्रकर्म–जो कर्म जीव को उच्च-नीच गोत्र–कुल में उत्पन्न करावे अथवा जिस कर्म के उदय से जीव में पूज्यता-अपूज्यता का भाव उत्पन्न हो, जीव उच्च-नीच कहलाये।

ग्रन्थि–कर्मों से होने वाले जीव के तीव्र राग-द्वेष रूप परिणाम।

(घ)

घटिका–साढ़े अड़तीस लव का समय। इसका दूसरा नाम 'नाली' है।

घातिकर्म–आत्मा के अनुजीवी गुणों का, आत्मा के वास्तविक स्वरूप का घात करने वाले कर्म।

घातिनी प्रकृति–जो कर्मप्रकृति आत्मिक-गुणों—ज्ञानादिक का घात करती है।

घन–तीन समान संख्याओं का परस्पर गुणा करने पर प्राप्त संख्या।

(च)

चक्षुदर्शन–चक्षु के द्वारा होने वाले पदार्थ के सामान्य धर्म के बोध को कहते हैं।

चक्षुदर्शनावरण कर्म–चक्षु के द्वारा होने वाले वस्तु के सामान्य धर्म के ग्रहण को रोकने वाला कर्म।

चतुरिन्द्रियजाति नामकर्म–जिस कर्म के उदय से जीव को चार इन्द्रियाँ–शरीर, जीभ, नाक और आँख प्राप्त हों।

चतुःस्थानिक–कर्मप्रकृतियों में स्वाभाविक अनुभाग से चौगुने अनुभाग–फलजनक शक्ति का पाया जाना।

चारित्रमोहनीयकर्म–आत्मा के स्वभाव की प्राप्ति या उसमें रमण करना चारित्र है। चारित्रगुण को घात करने वाला कर्म चारित्रमोहनीयकर्म कहलाता है।

चूलिका–चौरासी लाख चूलिकांग की एक चूलिका होती है।

चूलिकांग–चौरासी लाख-नयुत का एक चूलिकांग होता है।

चैत्यनिन्दा—ज्ञान, दर्शन, चारित्र-संपन्न गुणी महात्मा तपस्वी आदि की अथवा लौकिक दृष्टि से स्मारक, स्तूप, प्रतिमा आदि की निन्दा करना चैत्यनिंदा कहलाती है।

छ

छाद्मस्थिक—वे जीव जिनको मोहनीयकर्म का क्षय होने पर भी अन्य छद्मों (घातिकर्मों) का सद्भाव पाया जाता है।

छाद्मस्थिक यथाख्यातसंयम—ग्यारहवें (उपशांतमोह) और बारहवें (क्षीणमोह) गुणस्थानवर्ती जीवों को होने वाला संयम।

छेदोपस्थापनीय संयम—पूर्व संयम पर्याय को छेदकर फिर से उपस्थापन (व्रतारोपण) करना।

ज

जघन्य अनन्तानन्त—उत्कृष्ट युक्तानन्त की संख्या में एक को मिलाने पर प्राप्त राशि।

जघन्य असंख्यातासंख्यात—उत्कृष्ट युक्तासंख्यात की राशि में एक को मिलाने पर प्राप्त संख्या।

जघन्य परीतानन्त—उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात में एक को मिला देने पर प्राप्त राशि।

जघन्य परीतासंख्यात—उत्कृष्ट संख्यात में एक को मिलाने पर प्राप्त संख्या।

जघन्य युक्तानन्त—उत्कृष्ट परीतानन्त की संख्या में एक को मिलाने पर प्राप्त राशि।

जघन्य युक्तासंख्यात—उत्कृष्ट परीतासंख्यात की राशि में एक को मिलाने पर प्राप्त राशि।

जघन्य बंध—सबसे कम स्थिति वाला बंध।

जघन्य संख्यात—दो की संख्या।

जलकाय—जलीय शरीर, जो अप्त परमाणुओं से बनता है।

जाति—वह शब्द जिसके बोलने या सुनने से सभी समान गुणधर्म वाले पदार्थों का ग्रहण हो जाये।

जाति नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव स्पर्शन, रसन आदि पाँच इन्द्रियों में से क्रमशः एक, दो, तीन, चार, पाँच इन्द्रियाँ प्राप्त करके एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय कहलाता है।

जाति भव्य—जो भव्य मोक्ष की योग्यता रखते हुए भी उसको प्राप्त नहीं कर पाते हैं। उन्हें ऐसी अनुकूल सामग्री नहीं मिल पाती है जिससे मोक्ष प्राप्त कर सकें।

जिन—स्वरूपोपलब्धि में बाधक राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि भाव कर्मों एवं ज्ञानावरण आदि रूप घाति द्रव्य कर्मों को जीतकर अपने अनन्तज्ञान-दर्शन आदि आत्म-गुणों को प्राप्त कर लेने वाले जीव जिन कहलाते हैं।

जिन निन्दा—जिन भगवान, निरावरण केवलज्ञानी की निन्दा, गर्हा करना, असत्य दोषों का आरोपण करना।

जीव—जो द्रव्य प्राण (इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास) और भाव प्राण (ज्ञान, दर्शन आदि स्वाभाविक गुण) से जीता था, जीता है और जीयेगा, उसे जीव कहते हैं।

जीवविपाकी प्रकृति—जो प्रकृति जीव में ही उसके ज्ञानादि स्वरूप का घात करने रूप फल देती है।

जीवसमास—जिन समान पर्याप्त आदि धर्मों के द्वारा अनेक जीवों का संग्रह किया जाता है, उन्हें जीवसमास या जीवस्थान कहते हैं।

जुगुप्सा मोहनीयकर्म—जिस कर्म के उदय से सकारण या बिना कारण के ही बीभत्स—घृणाजनक पदार्थों को देखकर घृणा उत्पन्न होती है।

ज्ञान—जिसके द्वारा जीव त्रिकाल विषयक भूत, वर्तमान और भविष्य सम्बन्धी समस्त द्रव्य और उनके गुण और पर्यायों को जाने। अथवा सामान्य-विशेषात्मक वस्तु में से उसके विशेष अंश को जानने वाले आत्मा के व्यापार को ज्ञान कहते हैं।

ज्ञानावरण कर्म—आत्मा के ज्ञान गुण को आच्छादित करने वाला कर्म।

ज्ञानोपयोग—प्रत्येक पदार्थ को उन-उनकी विशेषताओं की मुख्यता से विकल्प करके पृथक् पृथक् ग्रहण करना।

(त)

तिक्तरस नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस सोंठ या काली-मिर्च जैसा चरपरा हो।

तिर्यंच—जो मन, वचन, काय की कुटिलता को प्राप्त हैं, जिनके आहार आदि संज्ञायें सुव्यक्त हैं, निकृष्ट अज्ञानी हैं, तिरछे गमन करते हैं और जिनमें अत्यधिक पाप की बहुलता पाई जाती है, उन्हें तिर्यंच कहते हैं।

जिनको तिर्यंचगति नामकर्म का उदय हो, उन्हें तिर्यंच कहते हैं।

तिर्यंचगति नामकर्म—जिस कर्म के उदय से होने वाली पर्याय द्वारा जीव तिर्यंच कहलाता है।

तिर्यंचायु—जिसके उदय से तिर्यंचगति का जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

तीर्थंकर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है।

तेजोलेश्या—तोते की चोंच के समान रक्त वर्ण के लेश्या पुद्गलों से आत्मा में होने वाले वे परिणाम जिनसे नम्रता आती है, धर्मरुचि दृढ़ होती है, दूसरे का हित करने की इच्छा होती है आदि।

तैजस-कार्मणबंधन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से तैजस शरीर पुद्गलों का कार्मण पुद्गलों के साथ सम्बन्ध हो।

तैजसतैजसबंधन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत तैजस शरीर पुद्गलों के साथ गृह्यमाण तैजस पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध होता है।

तैजसवर्गणा—जिन वर्गणाओं से तैजस शरीर बनता है।

तैजसशरीर—तैजस पुद्गलों से बने हुए आहार को पचाने वाले और तेजोलेश्या साधक शरीर को तैजस शरीर कहते हैं।

तैजसशरीर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को तैजस शरीर की प्राप्ति हो।

तैजसशरीरप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा—तैजसशरीरप्रायोग्य जघन्य वर्गणा के अनंतवें भाग अधिक प्रदेश वाले स्कंधों की उत्कृष्ट वर्गणा।

तैजसशरीरप्रायोग्य जघन्य वर्गणा—आहारक शरीर की ग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के अनन्तर की अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक प्रदेश अधिक स्कंधों की वर्गणा तैजसशरीर के योग्य जघन्य वर्गणा होती है।

तैजससंघातन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से तैजस शरीर रूप परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो।

तैजससमुद्घात—जीवों के अनुग्रह या विनाश करने में समर्थ तैजस शरीर की रचना के लिये किया जाने वाला समुद्घात।

त्रसकाय—जो शरीर चल फिर सकता है और जो त्रस नामकर्म के उदय से प्राप्त होता है।

त्रस नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को त्रसकाय की प्राप्ति होती है।

त्रसरेणु—आठ ऊर्ध्वरेणु का एक त्रसरेणु होता है।

त्रिस्थानिक—कर्म प्रकृति के स्वाभाविक अनुभाग से तिगुना अनुभाग।

त्रीन्द्रिय जीव—जिन जीवों को त्रीन्द्रिय जाति नामकर्म के उदय से स्पर्शन, रसन और घ्राण यह तीन इन्द्रियाँ प्राप्त हैं, उन्हें त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं।

त्रुटितांग—चौरासी लाख पूर्व के समय को कहते हैं।

(द)

दंड समुद्घात—सयोगिकेवली गुणस्थानवर्ती जीव के द्वारा पहले समय में अपने शरीर के बाहल्य प्रमाण आत्म प्रदेशों को ऊपर से नीचे तक लोक पर्यंत रचने को दंड समुद्घात कहते हैं।

दर्शन—सामान्य धर्म की अपेक्षा जो पदार्थ की सत्ता का प्रतिभास होता है, उसे दर्शन कहते हैं।

सामान्य विशेषात्मक वस्तुस्वरूप में से वस्तु के सामान्य अंश के बोधरूप चेतना के व्यापार को दर्शन कहते हैं। अथवा सामान्य की मुख्यता पूर्वक विशेष को गौण करके पदार्थ के जानने को दर्शन कहते हैं।

दर्शनावरण कर्म—आत्मा के दर्शन गुण को आच्छादित करने वाला कर्म।

दर्शनमोहनीय—तत्त्वार्थ श्रद्धा को दर्शन कहते हैं और उसको घात करने वाले, आवृत करने वाले कर्म को दर्शनमोहनीय कर्म।

दर्शनोपयोग—प्रत्येक वस्तु में सामान्य और विशेष यह दो प्रकार के धर्म पाये जाते हैं, उनमें से सामान्य धर्म को ग्रहण करने वाले उपयोग को दर्शनोपयोग कहते हैं।

दानांतराय कर्म—दान की इच्छा होने पर भी जिस कर्म के उदय से जीव में दान देने का उत्साह नहीं होता।

दीर्घकालिकी संज्ञा—उस संज्ञा को कहते हैं, जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य काल संबंधी क्रमबद्ध ज्ञान होता है कि अमुक कार्य कर चुका हूँ, अमुक कार्य कर रहा हूँ और अमुक कार्य करूँगा।

दीपक सम्यक्त्व—जिनोक्त क्रियाओं से होने वाले लाभों का समर्थन, प्रचार, प्रसार करना दीपक सम्यक्त्व कहलाता है।

दुर्भग नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव उपकार करने पर भी सभी को अप्रिय लगता है, दूसरे जीव शत्रुता एवं वैरभाव रखें।

दुरभिगंध नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में लहसुन अथवा सड़े-गले पदार्थों जैसी गंध हो।

दुरभिनिवेश—यथार्थ वक्ता मिलने पर भी श्रद्धा का विपरीत बना रहना।

दुस्वर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर व वचन श्रोता को अप्रिय व कर्कश प्रतीत हो।

दूर भव्य—जो भव्य जीव बहुत काल के बाद मोक्ष प्राप्त करने वाला है।

देव—देवगति नामकर्म के उदय होने पर नाना प्रकार की बाह्य विभूति से द्वीप-समुद्र आदि अनेक स्थानों पर इच्छानुसार क्रीड़ा करते हैं, विशिष्ट ऐश्वर्य का अनुभव करते हैं, दिव्य वस्त्राभूषणों की समृद्धि तथा अपने शरीर की सहजिक कांति से जो दीप्तमान रहते है वे देव कहलाते हैं।

देवगति नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिससे 'यह देव है' ऐसा कहा जाये।

देवायु—जिसके कारण से देवगति का जीवन बिताना पड़ता है, उसे देवायु कहते हैं।

देशघाती प्रकृति—अपने घातने योग्य गुण का आंशिक रूप से घात करने वाली प्रकृति।

देशविरति—अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न होने के कारण जो जीव देश (अंश) से पापजनक क्रियाओं से अलग हो सकते है वे देशविरत कहलाते हैं।

देशविरत गुणस्थान—देशविरत जीवों का स्वरूप विशेष।

देशविरत संयम—कर्मबंधजनक आरंभ, समारंभ से आंशिक निवृत्त होना, निरपराध त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा न करना देशविरति संयम है।

द्रव्यकर्म—ज्ञानावरण आदि कर्मरूप परिणाम को प्राप्त हुए पुद्गल।

द्रव्यप्राण—इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

द्रव्यलेश्या—वर्ण नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुए शरीर के वर्ण को द्रव्यलेश्या कहते हैं।

द्रव्यवेद—मैथुनेच्छा की पूर्ति के योग्य नामकर्म के उदय से प्रगट बाह्य चिन्ह विशेष।

द्वीन्द्रिय—जिन जीवों के स्पर्शन और रसन यह दो इन्द्रियां है तथा द्वीन्द्रिय जाति नामकर्म का उदय है।

द्वीन्द्रियजाति नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को दो इन्द्रियां—शरीर (स्पर्शन) और जिह्वा (रसना) प्राप्त हों।

द्वितीयस्थिति—अन्तर स्थान से ऊपर की स्थिति को कहते हैं।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्व—जो वेदक सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबंधी कषाय और

दर्शनमोहनीय का उपशम करके उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होता है, उसे द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

द्विस्थानिक—कर्म प्रकृतियों के स्वाभाविक अनुभाग से दुगना अनुभाग।

(ध)

धनुष—चार हाथ के माप को धनुष कहा जाता है।

धारणा—अवाय के द्वारा जाने हुए पदार्थ का कालान्तर में विस्मरण न हो, इस प्रकार के संस्कार वाले ज्ञान को धारणा कहते हैं।

ध्रुवोदया प्रकृति—अपने उदयकाल पर्यन्त प्रत्येक समय जीव को जिस प्रकृति का उदय बराबर बिना रुके होता रहता है।

ध्रुवबन्ध—जो बंध न कभी विच्छिन्न हुआ और न होगा।

ध्रुवबंधिनी प्रकृति—योग्य कारण होने पर जिस प्रकृति का बंध अवश्य होता है।

ध्रुवसत्ताक प्रकृति—जो अनादि मिथ्यात्व जीव को निरन्तर सत्ता में होती है, सर्वदा विद्यमान रहती है।

(न)

नपुंसक वेद—स्त्री एवं पुरुष दोनों के साथ रमण करने की इच्छा।

नयुत—चौरासी लाख नयुतांग का एक नयुत होता है।

नयुतांग—चौरासी लाख प्रयुत के समय को कहते हैं।

नरकगति नामकर्म—जिसके उदय से जीव नारक कहलाता है।

नरकायु—जिसके उदय से जीव को नरकगति का जीवन बिताना पड़ता है।

नलिन—चौरासी लाख नलिनांग का एक नलिन होता है।

नलिनांग—चौरासी लाख पद्म का एक नलिनांग कहलाता है।

नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति प्राप्त करके अच्छी-बुरी विविध पर्यायें प्राप्त करता है, अथवा जिस कर्म से आत्मा गति आदि नाना पर्यायों को अनुभव करे अथवा शरीर आदि बने, उसे नामकर्म कहते हैं।

नारक—जिनको नरकगति नामकर्म का उदय हो। अथवा जीवों को क्लेश पहुँचायें। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जो स्वयं तथा परस्पर में प्रीति को प्राप्त न करते हों।

नाराचसंहनन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में दोनों तरफ मर्कट बंध हो, लेकिन वेठन और कील न हो।

नाली—साढ़े अड़तीस लव के समय को नाली कहते हैं।

निकाचन—उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण और उदीरणा इन चार अवस्थाओं के न होने की स्थिति का नाम निकाचन है।

निकाचित प्रकृति—जिस प्रकृति में कोई भी करण नहीं लगता। उसे निकाचित प्रकृति कहते हैं।

निर्जरा—आत्मा के साथ नीर-क्षीर की तरह आपस में मिले हुए कर्म पुद्गलों का एकदेश क्षय होना।

निद्रा—जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी नींद आये कि सुखपूर्वक जाग सके, जगाने में मेहनत न करनी पड़े।

निद्रा-निद्रा—जिस कर्म के उदय से जीव को जगाना दुष्कर हो, ऐसी नींद आये।

निधत्ति—कर्म की उदीरणा और संक्रमण के सर्वथा अभाव की स्थिति।

निर्माण नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर में अंग-प्रत्यंग अपनी-अपनी जगह व्यवस्थित होते हैं।

निरतिचार छेदोपस्थापनीय संयम—जिसको इत्वर सामायिक संयम वाले बड़ी दीक्षा के रूप में ग्रहण करते हैं।

निवृत्तिबादर गुणस्थान—वह अवस्था, जिसमें अप्रमत्त आत्मा अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन तीनों चतुष्क रूपी बादर कषाय से निवृत्त हो जाती है। इसमें स्थितिघात आदि का अपूर्व विधान होने से इसे अपूर्वकरण गुणस्थान भी कहते हैं।

निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय—इन्द्रियों की आकार-रचना।

निरुपक्रम आयु—जिस आयु का अपवर्तन-घात नहीं होता।

निर्विश्यमान—परिहार विशुद्धि संयम को धारण करने वालों को कहते हैं।

निर्विष्टकायिक—परिहारविशुद्धि संयम धारकों की सेवा करने वाले।

निश्चय सम्यक्त्व—जीवादि तत्त्वों का यथारूप से श्रद्धान।

निह्नव—मानवश ज्ञानदाता गुरु का नाम छिपाना, अमुक विषय को जानते हुए भी मैं नहीं जानता, उत्सूत्र प्ररूपणा करना आदि निह्नव कहलाता है।

नीच कुल—अधर्म और अनीति करने से जिस कुल ने चिरकाल से अप्रसिद्धि व अपकीर्ति प्राप्त की है।

नीच गोत्र कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव नीच कुल में जन्म लेता है।

नीललेश्या—अशोक वृक्ष के समान नीले रंग के लेश्या पुद्गलों से आत्मा में ऐसा परिणाम उत्पन्न होना कि जिससे ईर्ष्या, असहिष्णुता, छल-कपट आदि होने लगें।

नीलवर्ण नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर तोते के पंख के जैसा हरा हो।

नोकषाय—जो स्वयं तो कषाय न हो किन्तु कषाय के उदय के साथ जिसका उदय होता है अथवा कषायों को पैदा करने में, उत्तेजित करने में सहायक हो।

न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर की आकृति न्यग्रोध (वटवृक्ष) के समान हो अर्थात् शरीर में नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण मोटे हों और नाभि से नीचे के अवयव हीन—पतले हों।

(प)

पंचेन्द्रिय जाति नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को पाँचों इन्द्रियाँ प्राप्त हों।

पंडित वीर्यान्तराय कर्म—सम्यग्दृष्टि साधु मोक्ष की चाह रखते हुए भी जिस कर्म के उदय से उसके योग्य क्रियाओं को न कर सकें।

पतद्ग्रह प्रकृति—आकर पड़ने वाले कर्म दलिकों को ग्रहण करने वाली प्रकृति।

पद—प्रत्येक कर्म प्रकृति को पद कहते हैं।

पदवृन्द—पदों के समुदाय को पदवृन्द कहा जाता है।

पदश्रुत—अर्थबिबोधक अक्षरों के समुदाय को पद और उसके ज्ञान को पदश्रुत कहते हैं।

पदसमासश्रुत—पदों के समुदाय का ज्ञान।

पद्म—चौरासी लाख पद्मांग का एक पद्म होता है।

पद्म लेश्या—हल्दी के समान पीले रंग के लेश्या पुद्गलों से आत्मा में ऐसे परिणामों का होना जिससे कषायिक प्रवृत्ति काफी अंशों में कम हो, चित्त प्रशान्त रहता हो, आत्म-संयम और जितेन्द्रियता की वृत्ति आती हो।

पद्मांग—चौरासी लाख उत्पल का एक पद्मांग होता है।

पराघात नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव बड़े-बड़े बलवानों की दृष्टि में भी अजेय मालूम हो।

परावर्तमाना प्रकृति- किसी दूसरी प्रकृति के बंध, उदय अथवा दोनों को रोक कर जिस प्रकृति का बंध, उदय अथवा दोनों होते हैं।

परिहारविशुद्धि संयम--परिहार का अर्थ है तपोविशेष और उस तपोविशेष से जिस चारित्र में विशुद्धि प्राप्त की जाती है, उसे परिहारविशुद्धि संयम कहते हैं। अथवा जिसमें परिहारविशुद्धि नामक तपस्या की जाती है, वह परिहारविशुद्धि संयम है।

पर्याप्त नामकर्म—पर्याप्त नामकर्म के उदय वाले जीवों को पर्याप्त कहते हैं और जिस कर्म के उदय से जीव अपनी पर्याप्तियों से युक्त होते हैं, वह पर्याप्त नामकर्म है।

पर्याप्ति—जीव की वह शक्ति जिसके द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उनको आहार, शरीर आदि के रूप में बदल देने का कार्य होता है।

पर्याप्त श्रुत—उत्पत्ति के प्रथम समय में लब्ध्यपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव के होने वाले कुश्रुत के अंश से दूसरे समय में ज्ञान का जितना अंश बढ़ता है, यह पर्यायश्रुत है।

पर्याय समास श्रुत--पर्याय श्रुत का समुदाय।

पल्य—अनाज वगैरह भरने के गोलाकार स्थान को पल्य कहते हैं।

पल्योपम—काल की जिस लम्बी अवधि को पल्य की उपमा दी जाती है, उसको पल्योपम कहते हैं। एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े एवं एक योजन गहरे गोलाकार कूप की उपमा से जो काल गिना जाता है उसे पल्योपम कहते हैं।

परोक्ष—मन और इन्द्रिय आदि बाह्य निमित्तों की सहायता से होने वाला पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान।

पश्चानुपूर्वी—अन्त से प्रारम्भ कर आदि तक की गणना करना।

पाद--छह उत्सेधांगुल का एक पाद होता है।

पाप—जिसके उदय से दुःख की प्राप्ति हो; आत्मा शुभ कार्यों से पृथक् रहे।

पाप प्रकृति—जिसका फल अशुभ होता है।

पारिणामिकी बुद्धि—दीर्घायु के कारण बहुत काल तक संसार के अनुभवों से प्राप्त होने वाली बुद्धि।

पारिणामिक भाव—जिसके कारण मूल वस्तु में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो किन्तु स्वभाव में ही परिणत होते रहना पारिणामिक भाव है। अथवा

कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अपेक्षा न रखने वाले द्रव्य की स्वाभाविक अनादि पारिणामिक शक्ति से ही आविर्भूत भाव को पारिणामिक भाव कहते हैं।

पिंड प्रकृति—अपने में अन्य प्रकृतियों को गर्भित करने वाली प्रकृति।

पुण्य—जिस कर्म के उदय से जीव को सुख का अनुभव होता है।

पुण्य कर्म—जो कर्म सुख का वेदन कराता है।

पुण्य प्रकृति—जिस प्रकृति का विपाक-फल शुभ होता है।

पुद्गलपरावर्त—ग्रहण योग्य आठ वर्गणाओं (औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस शरीर, भाषा, श्वासोच्छ्वास, मन, कार्मण वर्गणा) में से आहारक शरीर वर्गणा को छोड़कर शेष औदारिक आदि प्रकार से रूपी द्रव्यों को ग्रहण करते हुए एक जीव द्वारा समस्त लोकाकाश के पुद्गलों का स्पर्श करना।

पुद्गलविपाकी प्रकृति—जो कर्म प्रकृति पुद्गल में फल प्रदान करने के सम्मुख हो अर्थात् जिस प्रकृति का फल आत्मा पुद्गल द्वारा अनुभव करे। औदारिक आदि नामकर्म के उदय से ग्रहण किये गये पुद्गलों में जो कर्म प्रकृति अपनी शक्ति को दिखाने, वह पुद्गलविपाकी प्रकृति है।

पुरुषवेद—जिसके उदय से पुरुष को स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा हो।

पूर्व—चौरासी लाख पूर्वाङ्ग का एक पूर्व होता है।

पूर्वश्रुत—अनेक वस्तुओं का एक पूर्व होता है। उसमें से एक का ज्ञान पूर्वश्रुत कहलाता है।

पूर्वसमासश्रुत—दो-चार आदि चौदह पूर्वों तक का ज्ञान।

पूर्वाङ्ग—चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वाङ्ग होता है।

पूर्वानुपूर्वी—जो पदार्थ जिस क्रम से उत्पन्न हुआ हो या जिस क्रम से सूत्रकार के द्वारा स्थापित किया गया हो, उसकी उसी क्रम से गणना करना।

पृथ्वीकाय—पृथ्वी से बनने वाला पार्थिव शरीर।

प्रकृति—कर्म के स्वभाव को प्रकृति कहते हैं।

प्रकृति बंध—जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में भिन्न-भिन्न शक्तियों—स्वभावों का उत्पन्न होना, अथवा कर्म परमाणुओं का ज्ञानावरण आदि के रूप में परिणत होना।

प्रकृतिविकल्प—प्रकृतियों के भेद से होने वाले भंग।

प्रकृति स्थान—दो या तीन आदि प्रकृतियों का समुदाय।

प्रचला—जिस कर्म के उदय से बैठे-बैठे या खड़े-खड़े ही नींद आने लगे।

प्रचला-प्रचला—जिस कर्म के उदय से चलते-फिरते ही नींद आ जाये।

प्रतर—श्रेणि के वर्ग को प्रतर कहते हैं।

प्रतिपत्ति श्रुत—गति, इन्द्रिय आदि द्वारों में से किसी एक द्वार के जरिए समस्त संसार के जीवों को जानना।

प्रतिपत्तिसमास श्रुत—गति आदि दो-चार द्वारों के जरिए जीवों का ज्ञान होना।

प्रतिपाती अवधिज्ञान—जगमगाते दीपक के वायु के झोंके से एकाएक बुझ जाने के समान एकदम लुप्त होने वाला अवधिज्ञान।

प्रतिशलाका पल्य—प्रतिसाक्षीभूत सरसों के दानों से भरा जाने वाला पल्य।

प्रतिश्रवणानुमति—पुत्र आदि किसी सम्बन्धी के द्वारा किये गये पाप कर्मों को केवल सुनना और सुनकर भी उन कर्मों के करने से उनको न रोकना।

प्रतिसेवनानुमति—अपने या दूसरे के किये हुए भोजन आदि का उपयोग करना।

प्रत्यक्ष—मन, इन्द्रिय, परोपदेश आदि पर निमित्तों की अपेक्षा रखे बिना एक-मात्र आत्मस्वरूप से ही समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायों को जानना।

प्रत्यनीकत्व—ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के साधनों के प्रतिकूल आचरण करना।

प्रत्याख्यानावरण कषाय—जिस कषाय के प्रभाव से आत्मा को सर्वविरति-चारित्र प्राप्त करने में बाधा हो, अर्थात् श्रमणधर्म की प्राप्ति न हो।

प्रत्येक नामकर्म—जिस कर्म के उदय से एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो।

प्रथमस्थिति—अन्तर स्थान से नीचे की स्थिति।

प्रदेश—कर्मदलिकों को प्रदेश कहते हैं।

पुद्गल के एक परमाणु के अवगाह स्थान की संज्ञा भी प्रदेश है।

प्रदेशबंध—जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म स्कन्धों का सम्बन्ध होना।

प्रदेशोदय—बंधे हुए कर्मों का अन्य रूप से अनुभव होना। अर्थात् जिन कर्मों के दलिक बंधे हैं उनका रस दूसरे भोगे जाने वाले सजातीय प्रकृतियों के निषेकों के साथ भोगा जाये, बद्ध प्रकृति स्वयं अपना विपाक न बता सके।

प्रद्वेष—ज्ञानियों और ज्ञान के साधनों पर द्वेष रखना, अरुचि रखना प्रद्वेष कहलाता है।

प्रमत्तसंयत—जो जीव पापजनक व्यापारों से विधिपूर्वक सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं, वे संयत (मुनि) हैं लेकिन संयत भी जब तक प्रमाद का सेवन करते हैं तब तक प्रमत्तसंयत कहलाते हैं।

प्रमत्तसंयत गुणस्थान—प्रमत्तसंयत के स्वरूप विशेष को कहते हैं।

प्रमाणांगुल—उत्सेधांगुल से अढाई गुणा विस्तार वाला और चारसौ गुण लम्बा प्रमाणांगुल होता है।

प्रमाद—आत्मविस्मरण होना, कुशल कर्मों में आदर न रखना, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की स्मृति के लिए सावधान न रहना।

प्रयुत—चौरासी लाख प्रयुतांग का एक प्रयुत होता है।

प्रयुतांग—चौरासी लाख अयुत के समय को एक प्रयुतांग कहते हैं।

प्राभृत श्रुत—अनेक प्राभृत-प्राभृतों का एक प्राभृत होता है। उस एक प्राभृत का ज्ञान।

प्राभृत-प्राभृत श्रुत—दृष्टिवाद अंग में प्राभृत-प्राभृत नामक अधिकार हैं उनमें से किसी एक का ज्ञान होना।

प्राभृत-प्राभृतसमास श्रुत—दो चार प्राभृत-प्राभृतों का ज्ञान।

प्राभृतसमास श्रुत—एक से अधिक प्राभृतों का ज्ञान।

(ब)

बन्ध—मिथ्यात्व आदि कारणों द्वारा काजल से भरी हुई डिबिया के समान पौद्गलिक द्रव्य से परिव्याप्त लोक में कर्मयोग्य पुद्गल वर्गणाओं का आत्मा के साथ नीर-क्षीर अथवा अग्नि और लोहपिंड की भाँति एक-दूसरे में अनुप्रवेश-अभेदात्मक एकक्षेत्रावगाह रूप संबंध होने को बंध कहते हैं। अथवा—आत्मा और कर्म परमाणुओं के संबंध विशेष को बंध कहते हैं। अथवा अभिनव नवीन कर्मों के ग्रहण को बंध कहते हैं।

बंधकाल—परभव संबंधी आयु के बंधकाल की अवस्था।

बंधविच्छेद—आगे के किसी भी गुणस्थान में उस कर्म का बंध न होना।

बंधस्थान—एक जीव के एक समय में जितनी कर्म प्रकृतियों का बंध एक साथ (युगपत्) हो उनका समुदाय।

बंधहेतु—मिथ्यात्व आदि जिन वैभाविक परिणामों (कर्मोदय जन्य) आत्मा के

परिणाम—क्रोध आदि) से कर्म योग्य पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते हैं।

बंधनकरण—आत्मा की जिस शक्ति—वीर्य विशेष से कर्म का बंध होता है।

बंधन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत औदारिक आदि शरीर पुद्गलों के साथ नवीन ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों का संबंध हो।

बादर अद्धा पल्योपम—बादर उद्धार पल्य में से सौ-सौ वर्ष के बाद एक-एक केशाग्र निकालने पर जितने समय में वह खाली हो, उतने समय को बादर अद्धा पल्योपम कहते है।

बादर अद्धा सागरोपम—दस कोटा-कोटी बादर अद्धा पल्योपम के काल को बादर अद्धा सागरोपम कहा जाता है।

बादर उद्धार पल्योपम—उत्सेधांगुल के द्वारा निष्पन्न एक योजन प्रमाण लम्बे, एक योजन प्रमाण चौड़े और एक योजन प्रमाण गहरे एक गोल पल्य—गड्ढे को एक दिन से लेकर सात दिन तक के उगे बालाग्रों से ठसाठस भरकर कि जिसको न आग जला सके, न वायु उड़ा सके और न जल का ही प्रवेश हो सके, प्रति समय एक-एक बालाग्र के निकालने पर जितने समय में वह पल्य खाली हो जाये, उस काल को बादर उद्धार पल्योपम कहते है।

बादर उद्धार सागरोपम—दस कोटा कोटी बादर उद्धार पल्योपम के काल को कहा जाता है।

बादर काल पुद्गल परावर्त—जिसमें बीस कोटा कोटी सागरोपम के एक काल चक्र के प्रत्येक समय को क्रम या अक्रम से जीव अपने मरण द्वारा स्पर्श कर लेता है।

बादर क्षेत्र पुद्गल परावर्त—जितने काल में एक जीव समस्त लोक में रहने वाले सब परमाणुओं को आहारक शरीर वर्गणा के सिवाय शेष औदारिक शरीर आदि सातों वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है।

बादर भाव पुद्गल परावर्त—एक जीव अपने मरण के द्वारा क्रम से या बिना क्रम के अनुभाग बंध के कारणभूत समस्त कषाय स्थानों को जितने समय में स्पर्श कर लेता है।

बाल तपस्वी—आत्मस्वरूप को न समझकर अज्ञानपूर्वक कायक्लेश आदि तप

बाल पंडित वीर्यान्तराय—देशविरति के पालन की इच्छा रखता हुआ भी जीव जिसके उदय से उसका पालन न कर सके।

बाल वीर्यान्तराय—सांसारिक कार्यों को करने की सामर्थ्य होने पर भी जीव जिसके उदय से उनको न कर सके।

बाह्य निवृत्ति—इन्द्रियों के बाह्य-आकार की रचना।

(भ)

भय मोहनीयकर्म—जिस कर्म के उदय से कारणवशात् या बिना कारण डर पैदा हो।

भवप्रत्यय अवधिज्ञान—जिसके लिए संयम आदि अनुष्ठान की अपेक्षा न हो किन्तु जो अवधिज्ञान उस गति में जन्म लेने से ही प्रगट होता है।

भव विपाकी प्रकृति—भव की प्रधानता से अपना फल देने वाली प्रकृति।

भव्य—जो मोक्ष प्राप्त करते हैं या पाने की योग्यता रखते हैं अथवा जिनमें सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रगट होने की योग्यता है।

भाव—जीव और अजीव द्रव्यों का अपने-अपने स्वभाव रूप से परिणमन होना।

भाव अनुयोगद्वार—जिसमें विवक्षित धर्म के भाव का विचार किया जाता है।

भावकर्म—जीव के मिथ्यात्व आदि वे वैभाविक स्वरूप जिनके निमित्त से कर्म-पुद्गल कर्म रूप हो जाते हैं।

भावप्राण—ज्ञान, दर्शन, चेतना आदि जीव के गुण।

भावलेश्या—योग और संक्लेश से अनुगत आत्मा का परिणाम विशेष। संक्लेश का कारण कषायोदय है अतः कषायोदय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति को भावलेश्या कहते हैं। मोहकर्म के उदय या क्षयोपशम या उपशम या क्षय से होने वाली जीव के प्रदेशों में चंचलता को भावलेश्या कहते हैं।

भावलेद—मैथुनेच्छा की पूर्ति के योग्य नामकर्म के उदय से प्रगट बाह्य चिन्ह विशेष के अनुरूप अभिलाषा अथवा चारित्र मोहनीय की नोकषाय को वेद प्रकृतियों के कारण स्त्री, पुरुष आदि से रमण करने की इच्छा रूप आत्म परिणाम।

भावश्रुत—इन्द्रिय और मन के निमित्त से उत्पन्न होने वाला ज्ञान जो कि

नियत अर्थ को कहने में समर्थ है तथा श्रुतानुसारी (शब्द और अर्थ के विकल्प से युक्त) है उसे भावश्रुत कहते हैं।

भावेन्द्रिय—मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न आत्म-विशुद्धि अथवा उस विशुद्धि से उत्पन्न होने वाला ज्ञान।

भाषा—शब्दोच्चार की भाषा कहते हैं।

भाषा पर्याप्ति—उस शक्ति की पूर्णता को कहते हैं जिससे जीव भाषावर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके भाषा रूप परिणमावे और उसका आधार लेकर अनेक प्रकार की ध्वनि रूप में छोड़े।

भाषाप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा—भाषाप्रायोग्य जघन्य वर्गणा से एक-एक प्रदेश बढ़ते-बढ़ते जघन्य वर्गणा के अनन्तवें भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धों की भाषाप्रायोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

भाषाप्रायोग्य जघन्य वर्गणा—तैजस शरीर की ग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा के बाद की अग्रहण योग्य उत्कृष्ट वर्गणा से एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की जो वर्गणा होती है, वह भाषा प्रायोग्यजघन्य वर्गणा है।

भूयस्कार बंध—पहले समय में कम प्रकृतियों का बंध करके दूसरे समय में उससे अधिक कर्म प्रकृतियों के बंध को भूयस्कार बंध कहते हैं।

भोग-उपभोग—एक बार भोगे जाने वाले पदार्थों को भोग और बार-बार भोगे जाने वाले पदार्थों को उपभोग कहते हैं।

भोगान्तराय कर्म—भोग के साधन होते हुए भी जिस कर्म के उदय से जीव भोग्य वस्तुओं का भोग न कर सके।

(म)

मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन के द्वारा यथायोग्य स्थान में अवस्थित वस्तु का होने वाला ज्ञान।

मतिअज्ञान—मिथ्यादर्शन के उदय से होने वाला विपरीत मति उपयोग रूप ज्ञान।

मतिज्ञानावरण कर्म—मति ज्ञान का आवरण करने वाला कर्म।

मधुररस नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस मिश्री आदि मीठे पदार्थों जैसा हो।

मध्यम अनन्तानन्त—जघन्य अनन्तानन्त के आगे की सब संख्याएँ।

मध्यम असंख्यातासंख्यात—जघन्य और उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात के मध्य की राशि।

मध्यम परीतासंख्यात—जघन्य परीतासंख्यात को एक संख्या से युक्त करने पर जहाँ तक उत्कृष्ट परीतासंख्यात न हो, वहाँ तक की संख्या।

मध्यम परीतानन्त—जघन्य और उत्कृष्ट परीतानन्त के मध्य की संख्या।

मध्यम युक्तानन्त—जघन्य और उत्कृष्ट युक्तानन्त के बीच की संख्या।

मध्यम युक्तासंख्यात—जघन्य और उत्कृष्ट युक्तासंख्यात के बीच की संख्या।

मध्यम संख्यात—दो से ऊपर (तीन से लेकर) और उत्कृष्ट संख्यात से एक कम तक की संख्या।

मन—विचार करने का साधन।

मनःपर्याय ज्ञान—इन्द्रिय और मन की अपेक्षा न रखते हुए, मर्यादा के लिए हुए संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानना मनःपर्याय ज्ञान है अथवा-मन के चिन्तनीय परिणामों को जिस ज्ञान से प्रत्यक्ष किया जाता है, उसे मनःपर्याय ज्ञान कहते हैं।

मनःपर्याय ज्ञानावरण—मनःपर्यायज्ञान का आवरण करने वाला कर्म।

मनःपर्याप्ति—जिस शक्ति से जीव मन के योग्य मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करके मन रूप परिणमन करे और उसकी शक्ति विशेष से उन पुद्गलों को वापस छोड़े, उसकी पूर्णता को मनःपर्याप्ति कहते हैं।

मनुष्य—जो मन के द्वारा नित्य ही हेय-उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व, आप्त-अनाप्त, कर्म-अकर्म आदि का विचार करते हैं, कर्म करने में निपुण हैं, उत्कृष्ट मन के धारक हैं, विवेकशील होने से न्याय-नीतिपूर्वक आचरण करने वाले हैं, उन्हें मनुष्य कहते हैं।

मनुष्यगति नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को वह अवस्था प्राप्त हो कि जिसमें 'यह मनुष्य है' ऐसा कहा जाये।

मनुष्यायु—जिसके उदय से मनुष्यगति में जन्म हो।

मनोद्रव्य योग्य उत्कृष्ट वर्गणा—मनोद्रव्य योग्य जघन्य वर्गणा के ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ते-बढ़ते जघन्य वर्गणा के स्कन्ध के प्रदेशों के अनन्तवें भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धों की मनोद्रव्य योग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

मनोद्रव्य योग्य जघन्य वर्गणा—श्वासोच्छ्वास योग्य उत्कृष्ट वर्गणा के बाद की

अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कन्धों से एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की मनोद्रव्ययोग्य जघन्यवर्गणा होती है ।

मनोयोग—जीव का वह व्यापार जो औदारिक, वैक्रिय या आहारक शरीर के द्वारा ग्रहण किये हुए मनप्रायोग्य वर्गणा की सहायता से होता है। अथवा काययोग के द्वारा मनप्रायोग्य वर्गणाओं को ग्रहण करके मनोयोग से मनरूप परिणत हुए वस्तु विचारात्मक द्रव्य को मन कहते हैं और उस मन के सहचारी कारणभूत योग को मनोयोग कहते है। अथवा जिस योग का विषय मन है अथवा मनोवर्गणा से निष्पन्न हुए द्रव्य मन के अवलंबन से जीव का जो संकोच-विकोच होता है वह मनोयोग है।

महाकमल—चौरासी लाख महाकमलांग का एक महाकमल होता है।

महाकमलांग—चौरासी लाख कमल के समय को एक महाकमलांग कहते हैं।

महाकुमुद—चौरासी लाख महाकुमुदांग का एक महाकुमुद होता है।

महाकुमुदांग— चौरासी लाख कुमुद का एक महाकुमुदांग होता है।

महालता—चौरासी लाख महालतांग के समय को एक महालता कहते हैं।

महालतांग—चौरासी लाख लता का एक महालतांग कहलाता है।

महाशलाका पल्य- महाशलाकीभूत सरसों के दानों द्वारा भरे जाने वाले पल्य को महाशलाका पल्य कहते हैं।

मान—जिस दोष से दूसरे के प्रति नमने की वृत्ति न हो; छोटे बड़े के प्रति उचित नम्र भाव न रखा जाता हो; जाति, कुल; तप आदि के अहंकार से दूसरे के प्रति तिरस्कार रूप वृत्ति हो, उसे मान कहते हैं।

माया—आत्मा का कुटिल भाव। दूसरे को ठगने के लिए जो कुटिलता या छल आदि किये जाते हैं, अपने हृदय के विचारों को छिपाने की जो चेष्टा की जाती है, वह माया है। अथवा विचार और प्रवृत्ति में एकरूपता के अभाव को माया कहते हैं।

मार्गनाश—संसार-निवृत्ति और मुक्ति प्राप्ति के मार्ग का अपलाप करना।

मार्गणा- उन अवस्थाओं को कहते हैं जिनमें गति आदि अवस्थाओं को लेकर जीव में गुणस्थान, जीवस्थान आदि की मार्गणा–विचारणा–गवेषणा की जाती है। अथवा जिन अवस्थाओं—पर्यायों आदि से जीवों को देखा

जाता है उनकी उसी रूप में विचारणा, गवेषणा करना मार्गणा कहलाता है।

मारणान्तिक समुद्घात—मरण के पहले उस निमित्त जो समुद्घात होता है, उसे मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं।

मिथ्यात्व—पदार्थों का अयथार्थ श्रद्धान।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान—मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से जीव की दृष्टि (श्रद्धा, प्रतिपत्ति) मिथ्या (विपरीत) हो जाना मिथ्यादृष्टि है और मिथ्यादृष्टि जीव के स्वरूप विशेष को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहते हैं।

मिथ्यात्व मोहनीय—जिसके उदय से जीव को तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की रुचि न हो। मिथ्यात्व के अशुद्ध दलिकों को मिथ्यात्व मोहनीय कहते हैं।

मिथ्यात्व श्रुत—मिथ्यादृष्टि जीवों के श्रुत को मिथ्यात्व श्रुत कहा जाता है।

मिश्र गुणस्थान—मिथ्यात्व के अर्ध शुद्ध पुद्गलों का उदय होने से जब जीव की दृष्टि कुछ सम्यक् (शुद्ध) और कुछ मिथ्या (अशुद्ध) अर्थात् मिश्र हो जाती है तब वह जीव मिश्रदृष्टि कहलाता है और उसके स्वरूप विशेष को मिश्र गुणस्थान कहते है। इसका दूसरा नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान भी है।

मिश्र मनोयोग—किसी अंश में यथार्थ और किसी अंश में अयथार्थ ऐसा चिन्तन जिस मनोयोग के द्वारा हो उसे मिश्र मनोयोग कहते हैं।

मिश्र मोहनीय—जिस कर्म के उदय से जीव को यथार्थ की रुचि या अरुचि न होकर दोलायमान स्थिति रहे। मिथ्यात्व के अर्धशुद्ध दलिकों को भी मिश्र मोहनीय कहा जाता है।

मिश्र सम्यक्त्व—सम्यग्मिथ्यात्व मोहनीयकर्म के उदय से तत्त्व और अतत्त्व इन दोनों की रुचि रूप लेने वाला मिश्र परिणाम।

मुक्त जीव—संपूर्ण कर्मों का क्षय करके जो अपने ज्ञान, दर्शन आदि भाव प्राणों से युक्त होकर आत्मस्वरूप में अवस्थित है, वे मुक्त जीव कहलाते हैं।

मुहूर्त—दो घटिका या ४८ मिनट का समय।

मूल प्रकृति—कर्मों के मुख्य भेदों को मूल प्रकृति कहते हैं।

मृदुस्पर्श नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर मक्खन जैसा कोमल हो।

मोक्ष—सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाना।

मोहनीय कर्म—जीव को स्वपर-विवेक तथा स्वरूप-रमण में बाधा पहुँचाने वाला कर्म; अथवा आत्मा के सम्यक्त्व और चारित्र गुण का घात करने वाले कर्म को मोहनीयकर्म कहते हैं।

(य)

यथाख्यात संयम—समस्त मोहनीयकर्म के उपशम या क्षय से जैसा आत्मा का स्वभाव बताया है, उस अवस्था रूप वीतराग संयम।

यथाप्रवृत्तकरण—जिस परिणाम शुद्धि के कारण जीव आयुकर्म के सिवाय शेष सात कर्मों की स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग कम एक कोड़ा कोड़ी सागरोपम जितनी कर देता है। जिसमें करण से पहले के समान अवस्था (स्थिति) बनी रहे, उसे यथाप्रवृत्तकरण कहते हैं।

यत्रतत्रानुपूर्वी—जहाँ कहीं से अथवा अपने इच्छित पदार्थ को प्रथम मानकर गणना करना यत्रतत्रानुपूर्वी है।

यवमध्यभाग—आठ यूका का एक यवमध्यभाग होता है।

यशःकीर्ति—किसी एक दिशा में प्रशंसा फैले उसे कीर्ति और सब दिशाओं में प्रशंसा फैले उसे यशःकीर्ति कहते हैं। अथवा दान तप आदि से नाम का होना कीर्ति और शत्रु पर विजय प्राप्ति से नाम का होना यश है।

यशःकीर्ति नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव की संसार में यश और कीर्ति फैले।

यावत्कथित सामायिक—जो सामायिक ग्रहण करने के समय से जीवनपर्यन्त पाला जाता है।

युग—पांच वर्ष का समय।

यूका—आठ लीख की एक यूका (जूं) होती है।

योग—साध्वाचार का पालन करना संयम-योग है।

आत्मप्रदेशों में परिस्पन्दन होने को योग कहते हैं।

आत्मप्रदेशों में अथवा आत्मशक्ति में परिस्पन्दन मन, वचन, काय के द्वारा होता है, अतः मन, वचन, काय के कर्म-व्यापार को अथवा पुद्गल-

विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव की कर्मों के ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति को योग कहा जाता है।

योगस्थान—स्पर्द्धकों के समूह को योगस्थान कहते हैं।

योजन—चार गव्यूत या आठ हजार धनुष का एक योजन होता है।

(र)

रति मोहनीय—जिस कर्म के उदय से सकारण या अकारण पदार्थों में राग-प्रेम हो।

रथरेणु—आठ त्रसरेणु का एक रथरेणु होता है।

रस-गौरव—मधुर, अम्ल आदि रसों से अपना गौरव समझना।

रसघात—बंधे हुए ज्ञानावरण आदि कर्मों की फल देने की तीव्र शक्ति को अपवर्तनाकरण के द्वारा मंद कर देना।

रस नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर में तिक्त, मधुर आदि शुभ, अशुभ रसों की उत्पत्ति हो।

रसबंध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का होना।

रसविपाकी—रस के आश्रय अर्थात् रस (अनुभाग) की मुख्यता से निर्दिश्यमान विपाक जिस प्रकृति का होता है, उस प्रकृति को रस विपाकी कहते हैं।

रसाणु—पुद्गल द्रव्य की शक्ति का सबसे छोटा अंश।

रसोदय—बंधे हुए कर्मों का साक्षात् अनुभव करना।

राजू—प्रमाणांगुल से निष्पन्न असंख्यात कोटा-कोटी योजन का एक राजू होता है। अथवा श्रेणि के सातवें भाग को राजू कहते हैं।

रूक्षस्पर्श नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर बालू जैसा रूखा हो।

ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान—दूसरों के मन में स्थित पदार्थ के सामान्यस्वरूप को जानना।

ऋद्धि गौरव—धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य को ऋद्धि कहते है और उससे अपने को महत्त्वशाली समझना ऋद्धि गौरव है।

ऋषभनाराचसंहनन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना

विशेष में दोनों तरफ हड्डी का मर्कटबंध हो, तीसरी हड्डी का वेठन भी हो, लेकिन तीनों को भेदने वाली हड्डी की कील न हो।

रोचक सम्यक्त्व—जिनोक्त क्रियाओं में रुचि रखना।

(ल)

लघु स्पर्श नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आक की रूई जैसा हल्का हो।

लता—चौरासी लाख लतांग के समय को एक लता कहते हैं।

लतांग—चौरासी लाख पूर्व का एक लतांग होता है।

लब्धि—ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम विशेष को लब्धि कहते हैं।

लब्धित्रस—वे जीव जिन्हें त्रस नामकर्म का उदय होता है और चलते-फिरते भी हैं।

लब्धि पर्याप्त—वे जीव जिनको पर्याप्त नामकर्म का उदय हो और अपनी योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण करके मरते हैं, पहले नहीं।

लब्धि प्रत्यय वैक्रिय शरीर—वैक्रियलब्धिजन्य जिस वैक्रिय शरीर से मनुष्य और तिर्यंचों द्वारा विविध विक्रियायें की जाती हैं।

लब्धि भावेन्द्रिय—मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से चेतना शक्ति की योग्यता विशेष।

लक्ष्यक्षर—शब्द को सुनकर या रूप को देखकर अर्थ का अनुभवपूर्वक पर्यालोचन करना।

लब्ध्यपर्याप्त—वे जीव जो स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण किये बिना ही मर जाते हैं।

लव—सात स्तोक का समय।

लाभान्तराय कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो सके।

लीख—भरत और ऐरावत क्षेत्र के मनुष्यों के आठ केशाग्रों की एक लीख होती है।

लेश्या—जीव के ऐसे परिणाम जिनके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त हो अथवा कषायोदय से अनुरंजित योग प्रवृत्ति।

लोभ—धन आदि की तीव्र आकांक्षा या गृद्धता; बाह्य पदार्थों में 'यह मेरा है' इस प्रकार की अनुराग बुद्धि, ममता आदि रूप परिणाम।

लोमाहार—स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाने वाला आहार।

लोहित वर्ण नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर सिन्दूर जैसा लाल हो।

(व)

वर्ग—समान दो संख्याओं का आपस में गुणा करने पर प्राप्त राशि।
सजातीय प्रकृतियों के समुदाय।
अविभागी प्रतिच्छेदों का समूह।

वर्गणा—समान जातीय पुद्गलों का समूह।

वचनयोग—जीव के उस व्यापार को कहते हैं जो औदारिक, वैक्रिय या आहारक शरीर की क्रिया द्वारा संचय किये हुए भाषा द्रव्य की सहायता से होता है। अथवा भाषा परिणामसंज्ञा को प्राप्त हुए पुद्गल को वचन कहते हैं और उस सहकारी कारणभूत वचन के द्वारा होने वाले योग को वचनयोग कहते हैं। अथवा वचन को विषय करने वाले योग को या भाषावर्गणा सम्बन्धी पुद्गल स्कन्धों के अवलंबन से जो जीव प्रदेशों में संकोच-विकोच होता है, उसे वचनयोग कहते हैं।

वज्रऋषभनाराचसंहनन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना विशेष में वज्र-कीली, ऋषभ-वेष्ठन, पट्टी और नाराच—दोनों ओर मर्कट बंध हो, अर्थात् दोनों ओर से मर्कट बंध से बंधी हुई दो हड्डियों पर तीसरी हड्डी का वेष्ठन हो और उन तीनों हड्डियों को भेदने वाली हड्डी की कीली लगी हुई हो।

वर्ण नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर में कृष्ण गौर आदि रंग होते हैं।

वर्धमान अवधिज्ञान—अपनी उत्पत्ति के समय अल्प विषय वाला होने पर भी परिणाम-विशुद्धि के साथ उत्तरोत्तर अधिकाधिक विषय होने वाला।

वनस्पति काय—जिन जीवों का शरीर वनस्पति मय होता है।

वस्तु श्रुत—अनेक प्राभृतों का एक वस्तु अधिकार होता है। एक वस्तु अधिकार के ज्ञान को वस्तुश्रुत कहते हैं।

वस्तु समास श्रुत—दो-चार वस्तु अधिकारों का ज्ञान।

वामन संस्थान नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर वामन (बौना) हो।

वायुकाय—वायु से बनने वाला वायवीय शरीर।

विकल प्रत्यक्ष—चेतना शक्ति के अपूर्ण विकास के कारण जो ज्ञान मूर्त पदार्थों की समग्र पर्यायों भावों को जानने में असमर्थ हो।

वितस्ति—दो पाद की एक वितस्ति होती है।

विनय मिथ्यात्व—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि देव, गुरु और उनके कहे हुए शास्त्रों में समान बुद्धि रखना।

विपाक—कर्मप्रकृति की विशिष्ट अथवा विविध प्रकार के फल देने की शक्ति को और फल देने के अभिमुख होने का विपाक कहते हैं।

विपाक-काल—कर्म प्रकृतियों का अपने फल देने के अभिमुख होने का समय।

विपरीतमिथ्यात्व—धर्मादिक के स्वरूप को विपरीत रूप मानना।

विपुलमति मनःपर्यायज्ञान—चिन्तनीय वस्तु की पर्यायों को विविध विशेषताओं सहित स्फुटता से जानना।

विभंगज्ञान—मिथ्यात्व के उदय से रूपी पदार्थों के विपरीत अवधिज्ञान को विभंगज्ञान कहते हैं।

विरति—हिंसादि सावद्य व्यापारों अर्थात् पापजनक प्रयत्नों से अलग हो जाना।

विशुद्ध्यमानक सूक्ष्मसंपराग संयम—उपशमश्रेणि या क्षपकश्रेणि का आरोहण करने वालों को दसवें गुणस्थान की प्राप्ति के समय होने वाला संयम।

विशेषबन्ध—किसी खास गुणस्थान या किसी खास गति आदि को लेकर जो बंध कहा जाता है उसे विशेषबंध कहते हैं।

विसंयोजना—प्रकृति के क्षय होने पर भी पुनः बंध की सम्भावना बनी रहे।

विहायोगति नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल हाथी, बैल आदि की चाल के समान शुभ या ऊँट, गधे की चाल के समान अशुभ होती है।

वीर्यान्तरायकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव शक्तिशाली और निरोग होते हुए भी कार्य विशेष में पराक्रम न कर सके, शक्ति सामर्थ्य का उपयोग न कर सके।

वेद—जिसके द्वारा इन्द्रियजन्य, संयोगजन्य सुख का वेदन किया जाये। अथवा मैथुन सेवन करने की अभिलाषा को वेद कहते हैं। अथवा वेद मोहनीय-कर्म के उदय, उदीरणा से होने वाला जीव के परिणामों का सम्मोह (चंचलता) जिससे गुण-दोष का विवेक नहीं रहता।

वेदक सम्यक्त्व—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में विद्यमान जीव सम्यक्त्व मोहनीय के अन्तिम पुद्गल के रस का अनुभव करता है उस समय के उसके परिणाम।

वेदना समुद्घात—तीव्र वेदना के कारण होने वाला समुद्घात।

वेदनीय कर्म—जिसके उदय से जीव को सांसारिक इन्द्रियजन्य सुख-दुःख का अनुभव हो।

वैक्रिय अंगोपांग नामकर्म—जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर रूप परिणत पुद्गलों से अंगोपांग रूप अवयव निर्मित होते हैं।

वैक्रियकाययोग—वैक्रिय शरीर के द्वारा होने वाले वीर्य-शक्ति के व्यापार को वैक्रिय काययोग कहते हैं। अथवा वैक्रिय शरीर के अवलम्बन से उत्पन्न हुए परिस्पन्द द्वारा जो प्रयत्न होता है, उसे वैक्रियकाययोग कहा जाता है।

वैक्रियकार्मणबंधन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर पुद्गलों का कार्मण पुद्गलों के साथ सम्बन्ध हो।

वैक्रियतैजसकार्मणबंधन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर पुद्गलों का तैजस-कार्मण पुद्गलों के साथ सम्बन्ध हो।

वैक्रियतैजसबंधन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर पुद्गलों का तैजस पुद्गलों के साथ सम्बन्ध हो।

वैक्रियमिश्र काय—वैक्रिय शरीर की उत्पत्ति प्रारम्भ होने के प्रथम समय से लगाकर शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने तक अन्तर्मुहूर्त के मध्यवर्ती अपूर्ण शरीर को वैक्रियमिश्र काय कहते हैं।

वैक्रियमिश्र काययोग—वैक्रिय और कार्मण तथा वैक्रिय और औदारिक इन दो-दो शरीरों के मिश्रत्व के द्वारा होने वाला वीर्य-शक्ति का व्यापार।

वैक्रियवैक्रियबंधन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत वैक्रिय शरीर पुद्गलों के साथ गृह्यमाण वैक्रिय शरीर पुद्गलों का आपस में मेल होता है।

वैक्रिय वर्गणा—वे वर्गणाएँ जिनसे वैक्रिय शरीर बनता है।

वैक्रिय शरीर—जिस शरीर के द्वारा छोटे-बड़े, एक-अनेक, विविध विचित्र रूप बनाने की शक्ति प्राप्त हो तथा जो शरीर वैक्रिय शरीर वर्गणाओं से निष्पन्न हो।

वैक्रियशरीर नामकर्म--जिस कर्म के उदय से जीव को वैक्रियशरीर प्राप्त हो।

वैक्रियशरीरयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा--वैक्रियशरीर के ग्रहणयोग्य जघन्य वर्गणा से उसके अनन्तवें भाग अधिक स्कन्धों की वैक्रियशरीरयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

वैक्रियशरीरयोग्य जघन्य वर्गणा---औदारिक शरीर के अग्रहणयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के स्कन्धों से एक अधिक परमाणु वाले स्कन्धों की समूह रूप वर्गणा।

वैक्रियसंघातन नामकर्म- जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर रूप परिणत पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो।

वैक्रियसमुद्घात—वैक्रिय शरीर के निमित्त से होने वाला समुद्घात।

वैनयिकी बुद्धि--गुरुजनों आदि की सेवा से प्राप्त होने वाली बुद्धि।

व्यंजन—पदार्थ के ज्ञान को अथवा जिसके द्वारा पदार्थ का बोध किया जाता है।

व्यंजनाक्षर—जिससे अकार आदि अक्षरों के अर्थ का स्पष्ट बोध हो। अथवा अक्षरों के उच्चारण को व्यंजनाक्षर कहते हैं।

व्यंजनावग्रह—अव्यक्त ज्ञान रूप अर्थावग्रह से पहले होने वाला अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान।

व्यवहार परमाणु-- अनन्त निश्चय परमाणुओं का एक व्यवहार परमाणु होता है।

व्यवहार सम्यक्त्व---कुगुरु, कुदेव और कुमार्ग को त्याग कर सुगुरु, सुदेव और सुमार्ग को स्वीकार करना, उनकी श्रद्धा करना।

व्रतयुक्तता—हिंसादि पापों से विरत होना व्रत है। अणुव्रतों या महाव्रतों के पालन करने को व्रतयुक्तता कहते हैं।

(श)

शरीर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव के औदारिक, वैक्रिय आदि शरीर बनें अथवा औदारिक आदि शरीरों की प्राप्ति हो।

शरीर पर्याप्ति—रस के रूप में बदल दिये गये आहार को रक्त आदि सात धातुओं के रूप में परिणमाने की जीव की शक्ति की पूर्णता।

शलाकापल्य—जिस पल्य को एक-एक साक्षीभूत सरसों के दाने से भरा जाता है, उसे शलाकापल्य कहते हैं।

शीतस्पर्श नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर बर्फ जैसा ठंडा हो।

शीर्षप्रहेलिका—चौरासी लाख शीर्षप्रहेलिकांग की एक शीर्षप्रहेलिका होती है।

शीर्षप्रहेलिकांग—चौरासी लाख पूर्वांग का एक शीर्षप्रहेलिकांग कहलाता है।

शुक्ललेश्या—शंख के समान श्वेतवर्ण के लेश्या जातीय पुद्गलों के सम्बन्ध से आत्मा के ऐसे परिणामों का होना कि जिनसे कषाय उपशान्त रहती है, वीतराग-भाव सम्पादन करने की अनुकूलता आ जाती है।

शुभ नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में नाभि से ऊपर के अवयव शुभ हों।

शुभविहायोगति नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव की चाल हाथी, बैल की चाल की तरह शुभ हो।

श्रुतज्ञान—जो ज्ञान श्रुतानुसारी है जिसमें शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भासित होता है, जो मतिज्ञान के बाद होता है तथा शब्द और अर्थ की पर्यालोचना के अनुसरणपूर्वक इन्द्रिय व मन के निमित्त से होने वाला है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

श्रुतअज्ञान—मिथ्यात्व के उदय से सहचरित श्रुतज्ञान।

श्रुतज्ञानावरणकर्म—श्रुतज्ञान का आवरण करने वाला कर्म।

श्रेणि—सात राजू लंबी आकाश के एक-एक प्रदेश की पंक्ति।

श्रेणिगत सासादनसम्यग्दृष्टि—वह जीव जो उपशमश्रेणि से गिरकर सासादन गुणस्थान को प्राप्त होता है।

शैलेशी अवस्था—मेरु पर्वत के समान निश्चल अथवा सर्व संवर रूप योग निरोध की अवस्था।

शैलेशीकरण—वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन कर्मों की असंख्यात गुणश्रेणि से और आयुकर्म की यथास्थिति से निर्जरा करना।

शोकमोहनीय—जिस कर्म के उदय से कारणवश या बिना कारण ही शोक होता है।

श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका—आठ उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका की एक श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका होती है।

श्वासोच्छ्वास—शरीर से बाहर की वायु को नाक के द्वारा अन्दर खींचना और अन्दर की हवा को बाहर निकालना श्वासोच्छ्वास कहलाता है।

श्वासोच्छ्वास काल—रोगरहित निश्चिन्त तरुण पुरुष के एक बार श्वास लेने और त्यागने का काल।

श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति—श्वासोच्छ्वासयोग्य पुद्गलों को ग्रहण कर श्वासोच्छ्वास रूप परिणत करके उनका सार ग्रहण करके उन्हें वापस छोड़ने की जीव की शक्ति की पूर्णता।

श्वासोच्छ्वासयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा—श्वासोच्छ्वासयोग्य जघन्य वर्गणा के ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ते-बढ़ते जघन्य वर्गणा के स्कन्ध के प्रदेशों के अनन्तवें भाग अधिक प्रदेश वाले स्कन्धों की श्वासोच्छ्वासयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा होती है।

श्वासोच्छ्वासयोग्य जघन्य वर्गणा—श्वासयोग्य उत्कृष्ट वर्गणा के बाद की उत्कृष्ट अग्रहणयोग्य वर्गणा के स्कन्धों से एक प्रदेश अधिक स्कन्धों की वर्गणा श्वासोच्छ्वासयोग्य जघन्य वर्गणा होती है।

(स)

संक्लिश्यमान सूक्ष्मसंपराय संयम—उपशमश्रेणि से गिरने वाले जीवों के दसवें गुणस्थान की प्राप्ति के समय होने वाला संयम।

संक्रमण—एक कर्म रूप में स्थित प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का अन्य सजातीय कर्म रूप में बदल जाना अथवा वीर्यविशेष से कर्म का अपनी ही दूसरी सजातीय कर्म प्रकृति स्वरूप को प्राप्त कर लेना।

संख्या—भेदों की गणना को संख्या कहा जाता है।

संख्या अनुयोगद्वार—जिस अनुयोग द्वार में विवक्षित धर्म वाले जीवों की संख्या का विवेचन हो।

संख्यातागुणवर्गणा—संख्यात प्रदेशी स्कन्धों की संख्यातागुणवर्गणा होती है।

संघनिन्दा—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप संघ की निन्दा, गर्हा करने को संघनिन्दा कहते हैं।

संघात नामकर्म—जिस कर्म के उदय से प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर पुद्गलों पर नवीन ग्रहण किये जा रहे शरीरयोग्य पुद्गल व्यवस्थित रूप से स्थापित किये जाते हैं।

संघात श्रुत—गति आदि चौदह मार्गणाओं में से किसी एक मार्गणा का एकदेश ज्ञान।

संघात समासश्रुत—किसी एक मार्गणा के अनेक अवयवों का ज्ञान।

संज्वलन कषाय—जिस कषाय के उदय से आत्मा को यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति न हो तथा सर्वविरति चारित्र के पालन में बाधा हो।

संज्ञा—नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम या तज्जन्य ज्ञान को अथवा अभिलाषा को संज्ञा कहते हैं।

संज्ञाक्षर—अक्षर की आकृति, बनावट, संस्थान आदि जिसके द्वारा यह जाना जाये कि यह अमुक अक्षर है।

संज्ञित्व—विशिष्ट मनशक्ति, दीर्घकालिकी संज्ञा का होना।

संज्ञी—बुद्धिपूर्वक इष्ट-अनिष्ट में प्रवृत्ति-निवृत्ति करने वाले जीव। अथवा सम्यग्ज्ञान रूपी संज्ञा जिनको हो, उन्हें संज्ञी कहते हैं। जिनके लब्धि या उपयोग रूप मन पाया जाये उन जीवों को संज्ञी कहते हैं।

संज्ञीश्रुत—संज्ञी जीवों का श्रुत।

संभव सत्ता—किसी कर्म प्रकृति की अमुक समय में सत्ता न होने पर भी भविष्य में सत्ता की संभावना मानना।

संयम—सावद्य योगों—पापजनक प्रवृत्तियों—से उपरत हो जाना; अथवा पाप-जनक व्यापार—आरम्भ-समारम्भ से आत्मा को जिसके द्वारा संयमित-नियमित किया जाता है उसे संयम कहते हैं अथवा पाँच महाव्रतों रूप यमों के पालन करने या पाँच इन्द्रियों के जय को संयम कहते हैं।

संवर—आस्रव का निरोध संवर कहलाता है।

संवासानुमति—पुत्र आदि अपने सम्बन्धियों के पापकर्म में प्रवृत्त होने पर भी उन पर सिर्फ ममता रखना।

संवेध—परस्पर एक समय में अविरोध रूप से मिलना।

संस्थान नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर के भिन्न-भिन्न शुभ या अशुभ आकार बनें।

संसारी जीव—जो अपने यथायोग्य द्रव्यप्राणों और ज्ञानादि भावप्राणों से युक्त होकर नरकादि चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करते हैं।

संहनन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से हाड़ों का आपस में जुड़ जाना अर्थात् रचना विशेष होती है।

सांशयिक मिथ्यात्व—समीचीन और असमीचीन दोनों प्रकार के पदार्थों में से

किसी भी एक का निश्चय न होना । अथवा संशय से उत्पन्न होने वाला मिथ्यात्व । अथवा-देव-गुरु-धर्म के विषय में संदेहशील बने रहना ।

सकलप्रत्यक्ष—सम्पूर्ण पदार्थों को उनकी त्रिकालवर्ती पर्यायों सहित युगपत जानने वाला ज्ञान ।

सत्ता—बंध समय या संक्रमण समय से लेकर जब तक उन कर्म परमाणुओं का अन्य प्रकृति रूप से संक्रमण नहीं होता या उनकी निर्जरा नहीं होती तब तक उनका आत्मा से लगे रहना ।

बंधादि के द्वारा स्व-स्वरूप को प्राप्त करने वाले कर्मों की स्थिति ।

सत्तास्थान—जिन प्रकृतियों की सत्ता एक साथ पाई जाये उनका समुदाय ।

सत्य मनोयोग—जिस मनोयोग के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का विचार किया जाता है । अथवा सद्भाव अर्थात् भगीचीन पदार्थों को विषय करने वाले मन को सत्यमन और उसके द्वारा होने वाले योग को सत्य मनोयोग कहते हैं ।

सत्यमृषा मनोयोग - सत्य और मृषा (असत्य) से मिश्रित मनोयोग ।

सत्यमृषा वचनयोग—सत्य और मृषा से मिश्रित वचनयोग ।

सत्य वचनयोग - जिस वचनयोग के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कथन किया जाता है । सत्य वचन वर्गणा के निमित्त से होने वाला योग ।

सदनुयोगद्वार—विवक्षित धर्म का मार्गणाओं में बतलाया जाना कि किन मार्गणाओं में वह धर्म है और किन मार्गणाओं में नहीं है ।

सद्भाव सत्ता—जिस कर्म की सत्ता अपने स्वरूप से हो ।

सपर्यवसित श्रुत—अन्तहीन श्रुत ।

समचतुरस्र- पालथी मारकर बैठने पर जिस शरीर के चारों कोण समान हों, यानी आसन और कपाल का अन्तर, दोनों घुटनों का अन्तर, दाहिने कंधे और बायें जानु का अन्तर, बायें कंधे और दाहिने जानु का अन्तर समान हो ।

समचतुरस्र संस्थान नामकर्म—जिस कर्म के उदय से समचतुरस्र संस्थान की प्राप्ति हो अथवा सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिस शरीर के सम्पूर्ण अवयव शुभ हों ।

समय—काल का अत्यन्त सूक्ष्म अविभागी अंश ।

समास—अधिक, समुदाय या संग्रह।

समुद्घात—मूल शरीर को छोड़े बिना ही आत्मा के प्रदेशों का बाहर निकलना।

सयोगिकेवली—वे जीव जिन्होंने चार घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान और दर्शन प्राप्त कर लिया है जो पदार्थ के जानने देखने में इन्द्रिय आलोक आदि की अपेक्षा नहीं रखते और योग (आत्मवीर्य शक्ति उत्साह पराक्रम) से सहित हैं।

सयोगिकेवली गुणस्थान—सयोगिकेवली के स्वरूप विशेष को कहते हैं।

सयोगिकेवली यथाख्यातसंयम—सयोगिकेवली का यथाख्यातसंयम।

सम्यक् श्रुत—सम्यग्दृष्टि जीवों का श्रुत।

सम्यक्त्व—छह द्रव्य, पंच अस्तिकाय, नव तत्त्वों का जिनेन्द्र देव ने जैसा कथन किया है, उसी प्रकार से उनका श्रद्धान करना अथवा तत्त्वार्थ श्रद्धान्।

मोक्ष के अविरोधी आत्मा के परिणाम को सम्यक्त्व कहते हैं।

सम्यक्त्वमोहनीय—जिसका उदय तात्त्विक रुचि का निमित्त होकर भी औपशमिक या क्षायिक भाव वाली तत्त्व रुचि का प्रतिबंध करता है।

सम्यक्त्व का घात करने में असमर्थ मिथ्यात्व के शुद्ध दलिकों को सम्यक्त्व मोहनीय कहते हैं।

सविपाक निर्जरा—यथाक्रम से परिपाक काल को प्राप्त और अनुभव के लिए उदयावलि के स्रोत में प्रविष्ट हुए शुभाशुभ कर्मों का फल देकर निवृत्त होना।

सागरोपम—दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है।

सात गौरव—शरीर के स्वास्थ्य, सौन्दर्य आदि का अभिमान करना।

सातावेदनीय कर्म—जिस कर्म के उदय से आत्मा को इन्द्रिय-विषय सम्बन्धी सुख का अनुभव हो।

सातिचार छेदोपस्थापनीय संयम—जो किसी कारण से मूल गुणों—महाव्रतों के भंग हो जाने पर पुनः ग्रहण किया जाता है।

सादि-अनन्त—जो आदि सहित होकर भी अनन्त हो।

सादि बंध—वह बंध जो रुककर पुनः होने लगता है।

सादिश्रुत—जिस श्रुत ज्ञान की आदि (आरम्भ शुरुआत) हो।

सादिसान्त—जो बंध या उदय बीच में रुककर पुनः प्रारम्भ होता है और कालान्तर में पुनः व्युच्छिन्न हो जाता है।

सादिसंस्थान नामकर्म—जिस कर्म के उदय से नाभि से ऊपर के अवयव हीन-पतले और नाभि से नीचे के अवयव पूर्ण मोटे हों।

साधारण नामकर्म—जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों का एक शरीर हो अर्थात् अनन्त जीव एक शरीर के स्वामी बनें।

सान्निपातिक भाव—दो या दो से अधिक मिले हुए भाव।

सान्तर स्थिति—प्रथम और द्वितीय स्थिति के बीच में कर्म दलिकों से शून्य अवस्था।

सामायिक—रागद्वेष के अभाव को समभाव कहते हैं और जिस संयम से समभाव की प्राप्ति हो अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र को सम कहते हैं और उनकी आय-लाभ प्राप्ति होने को समाय तथा समाय के भाव को अथवा समाय को सामायिक कहा जाता है।

सासादन सम्यक्त्व—उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व के अभिमुख हुआ जीव जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं करता है, तब तक के उसके परिणाम विशेष को सासादन सम्यक्त्व कहते हैं।

सासादन सम्यग्दृष्टि—जो औपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से सम्यक्त्व से च्युत होकर मिथ्यात्व की ओर अभिमुख हो रहा है, किन्तु अभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ, उतने समय के लिए वह जीव सासादन सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

सासादन गुणस्थान—सासादन सम्यग्दृष्टि जीव के स्वरूप विशेष को कहते हैं।

सितवर्ण नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शंख जैसा सफेद हो।

सिद्ध पद—जिन ग्रन्थों के सब पद सर्वज्ञोक्त अर्थ का अनुसरण करने वाले होने से सुप्रतिष्ठित हैं उन ग्रन्थों को; अथवा जीवस्थान गुणस्थानों को सिद्ध पद कहते हैं।

सुभग नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का उपकार न करने पर भी और किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने पर भी सभी को प्रिय लगता हो।

सुरभिगंध नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में कपूर, कस्तूरी आदि पदार्थों जैसी सुगन्ध हो।

सुस्वर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर श्रोता को प्रिय लगता है।

सूक्ष्म नामकर्म—जिस कर्म के उदय से परस्पर व्याघात से रहित सूक्ष्म शरीर की प्राप्ति हो। यह शरीर स्वयं न किसी से रुकता है और न अन्य किसी को रोकता है।

सूक्ष्म अद्धापल्योपम—सूक्ष्म उद्धार पल्य में से सौ-सौ वर्ष के बाद केशाग्र का एक-एक खंड निकालने पर जितने समय में वह पल्य खाली हो जाता है उतने समय को सूक्ष्म अद्धापल्योपम कहते हैं।

सूक्ष्म अद्धासागरोपम—दस कोटा-कोटी सूक्ष्म अद्धापल्योपम का एक सूक्ष्म अद्धा-सागरोपम कहलाता है।

सूक्ष्म उद्धार पल्योपम—द्रव्य, क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यातगुणी सूक्ष्म अवगाहना वाले केशाग्र खंडों से पल्य को ठसाठस भरकर प्रति समय उन केशाग्र खंडों में से एक-एक खंड को निकालने पर जितने समय में वह पल्य खाली हो, उतने समय को सूक्ष्म उद्धार पल्योपम कहते हैं।

सूक्ष्म उद्धार सागरोपम—दस कोटाकोटी सूक्ष्म उद्धार पल्योपम का एक सूक्ष्म उद्धार सागरोपम होता है।

सूक्ष्मकाल पुद्गल परावर्त—जितने समय में एक जीव अपने मरण के द्वारा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के समयों को क्रम से स्पर्श कर लेता है।

सूक्ष्मक्रिया निवृत्ति शुक्लध्यान—जिस शुक्लध्यान में सर्वज्ञ भगवान द्वारा योग निरोध के क्रम में अन्ततः सूक्ष्म काययोग के आश्रय से अन्य योगों को रोक दिया जाता है।

सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम—बादर क्षेत्र पल्य के बालाग्रों में से प्रत्येक के असंख्यात खंड करके पल्य को ठसाठस भर दो। वे खंड उस पल्य में आकाश के जितने प्रदेशों को स्पर्श करें और जिन प्रदेशों को स्पर्श न करें, उनसे प्रति समय एक-एक प्रदेश का अपहरण करते-करते जितने समय में स्पृष्ट और अस्पृष्ट सभी प्रदेशों का अपहरण किया जाता है, उतने समय को एक सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम कहते हैं।

सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त—कोई एक जीव संसार में भ्रमण करते हुए आकाश

के किसी एक प्रदेश में मरण करके पुनः उस प्रदेश के समीपवर्ती दूसरे प्रदेश में मरण करता है, पुनः उसके निकटवर्ती तीसरे प्रदेश में मरण करता है। इस प्रकार अनन्तर-अनन्तर प्रदेश में मरण करते हुए जब समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में मरण कर लेता है तब उतने समय को सूक्ष्म क्षेत्रपुद्गल परावर्त कहते हैं।

सूक्ष्मक्षेत्र सागरोपम—दस कोटाकोटी सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम का एक सूक्ष्मक्षेत्र सागरोपम होता है।

सूक्ष्मद्रव्यपुद्गल परावर्त—जितने समय में समस्त परमाणुओं को औदारिक आदि सातो वर्गणाओं मे से किसी एक वर्गणा रूप से ग्रहण करके छोड़ देता है।

सूक्ष्मभावपुद्गल परावर्त—जितने समय में एक जीव अपने मरण के द्वारा अनुभाग बंध के कारणभूत कषायस्थानों को क्रम से स्पर्श कर लेता है।

सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान—जिसमें संपराय अर्थात् लोभ कषाय के सूक्ष्म खंडों का ही उदय हो।

सूक्ष्मसंपराय संयम—क्रोधादि कषायों द्वारा संसार में परिभ्रमण होता है अतः, उनको संपराय कहते है। जिस संयम में संपराय (कषाय का उदय) सूक्ष्म (अतिस्वल्प) रहता है।

सेवार्तसंहनन नामकर्म—जिस कर्म के उदय से हड्डियों की रचना में मर्कट बंध, वेष्ठन और कीलन न होकर दो ही हड्डियां आपस में जुड़ी हों।

स्तिबुकसंक्रम—अनुदयवर्ती कर्म प्रकृतियों के दलिकों को सजातीय और तुल्य स्थितिवाली उदयवर्ती कर्मप्रकृतियों के रूप में बदलकर उनके दलिकों के साथ भोग लेना।

स्तोक—सात श्वासोच्छ्वास काल के समय प्रमाण को स्तोक कहते हैं।

स्त्यानर्द्धि—जिस कर्म के उदय से जाग्रत अवस्था में सोचे हुए कार्य को निद्रावस्था में करने की सामर्थ्य प्रकट हो जाए। अथवा जिस निद्रा के उदय से निद्रित अवस्था में विशेष बल प्रकट हो जाए। अथवा जिस निद्रा में दिन में चिन्तित अर्थ और साधन विषयक आकांक्षा का एकत्रीकरण हो जाये।

स्त्रीवेद—जिस कर्म के उदय से पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा हो।

स्थावर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव स्थिर रहे, सर्दी-गर्मी से बचने का प्रयत्न करने की शक्ति न हो।

स्थितकल्पी—जो आचेलक्य, औद्देशिक, शय्यातर पिंड, राजपिंड, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास और पर्यूषण इन दस कल्पों में स्थित है।

स्थितास्थितकल्पी—जो शय्यातरपिंड, व्रत, ज्येष्ठ और कृति कर्म इन चार कल्पों में स्थित तथा शेष छह कल्पों में अस्थित है।

स्थिति—विवक्षित कर्म के आत्मा के साथ लगे रहने का काल।

स्थितिघात—कर्मों की बड़ी स्थिति को अपवर्तनाकरण द्वारा घटा देने अर्थात् जो कर्म दलिक आगे उदय में आने वाले हैं उन्हें अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने उदय के नियत समय से हटा देना स्थितिघात है।

स्थितिबंध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्गलों में अमुक समय तक अपने-अपने स्वभाव का त्याग न कर जीव के साथ रहने की काल मर्यादा का होना।

स्थितिबंध अध्यवसाय—कषाय के उदय से होने वाले जीव के जिन परिणाम विशेषों से स्थितिबंध होता है, उन परिणामों को स्थितिबंध अध्यवसाय कहते हैं।

स्थितिस्थान—किसी कर्म प्रकृति की जघन्य स्थिति से लेकर एक-एक समय बढ़ते-बढ़ते उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त स्थिति के भेद।

स्थिर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव के दांत, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर हों अपने-अपने स्थान पर रहें।

स्निग्धस्पर्श नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर घी के समान चिकना हो।

स्पर्द्धक—वर्गणाओं के समूह को स्पर्द्धक कहते हैं।

स्पर्श नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर का स्पर्श कर्कश, मृदु, स्निग्ध, रूक्ष आदि रूप हो।

स्पर्शन अनुयोगद्वार—विवक्षित धर्म वाले जीवों द्वारा किये जाने वाले क्षेत्र स्पर्श का समुच्चय रूप से निर्देश करना।

स्पर्शनेन्द्रिय व्यंजनावग्रह—स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा होने वाला अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान।

(ह)

हाथ—दो वितस्ति के माप को हाथ कहते हैं।

हारिद्रवर्ण नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हल्दी जैसा पीला हो।

हास्य मोहनीय—जिस कर्म के उदय से कारणवश अथवा बिना कारण के हँसी आती है।

हीयमान अवधिज्ञान—अपनी उत्पत्ति के समय अधिक विषय वाला होने पर भी परिणामों की अशुद्धि के कारण दिनोंदिन क्रमशः अल्प, अल्पतर, अल्पतम विषयक होने वाला अवधिज्ञान।

हुंडसंस्थान नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर के सभी अवयव बेडौल हों, यथायोग्य प्रमाण युक्त न हों।

हुहु—चौरासी लाख हुहु-अंग का एक हुहु होता है।

हुहु-अंग—चौरासी लाख अवव की संख्या।

हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा—अपने शरीर के पालन के लिए इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट वस्तु से निवृत्ति के लिए उपयोगी सिर्फ वर्तमानकालिक ज्ञान जिससे होता है, वह हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा है।

हेतुविपाकी—पुद्गलादि रूप हेतु के आश्रय से जिस प्रकृति का विपाक—फलानुभव होता है।

परिशिष्ट ३

कर्मग्रन्थों की गाथाओं एवं व्याख्या में आगत पिण्डप्रकृति-सूचक शब्दों का कोष

(अ)

अगुरुलघुचतुष्क—अगुरुलघु नाम, उपघातनाम, पराघातनाम, उच्छ्वासनाम।

अघातिचतुष्क—वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र कर्म।

अज्ञानत्रिक—मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान, विभंगज्ञान (अवधि-अज्ञान)

अनन्तानुबंधी एकत्रिंशत्—(अनन्तानुबंधी क्रोध आदि ३१ प्रकृतियाँ) अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ; न्यग्रोध परिमंडल, सादि, वामन, कुब्ज संस्थान; वज्रऋषभनाराच संहनन, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका संहनन; अशुभ विहायोगति, नीचगोत्र, स्त्रीवेद, दुर्भग नाम, दुःस्वर नाम, अनादेय नाम, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि, उद्योत नाम; तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु; मनुष्यायु, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी; औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग।

अनन्तानुबंधी चतुर्विंशति—(अनन्तानुबंधी क्रोध आदि २४ प्रकृतियाँ) अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ; न्यग्रोध परिमंडल, सादि, वामन, कुब्ज संस्थान; ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका संहनन; अशुभ विहायोगति, नीच गोत्र, स्त्रीवेद, दुर्भग नाम, दुःस्वर नाम, अनादेय नाम, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि, उद्योत नाम, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी।

अनन्तानुबंधीचतुष्क—अनन्तानुबंधी, क्रोध मान, माया, लोभ।

अनन्तानुबंधी षड्विंशति—(अनन्तानुबंधी क्रोध आदि २६ प्रकृतियाँ) अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ; न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, वामन, कुब्ज संस्थान; ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका संहनन; अशुभ विहायोगति, नीचगोत्र, स्त्रीवेद, दुर्भग नाम, दुःस्वर नाम, अनादेय नाम,

निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि, उद्योत नाम; तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु; मनुष्यायु ।

अनादेयद्विक—अनादेय नाम, अयशःकीर्ति नाम ।

अंगोपांगत्रिक—औदारिक अंगोपांग, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक अंगोपांग ।

अंतरायपंचक—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय ।

अंतिम संहननत्रिक—अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त संहनन ।

अप्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ ।

अपर्याप्तषटक—अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय ।

अवधिद्विक—अवधिज्ञान, अवधिदर्शन ।

अस्थिरद्विक—अस्थिर नाम, अशुभ नाम ।

अस्थिरषटक—अस्थिर नाम, अशुभ नाम, दुर्भग नाम, दुःस्वर नाम, अनादेय नाम, अयशःकीर्ति नाम ।

(आ)

आकृतित्रिक—(१) समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, वामन, कुब्ज, हुंड संस्थान, (२) वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त संहनन, (३) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जाति ।

आतपद्विक—आतप नाम, उद्योत नाम ।

आयुत्रिक—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु ।

आवरण-नवक—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय, केवल ज्ञानावरण; चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल दर्शनावरण ।

आहारकद्विक—आहारक शरीर नाम, आहारक अंगोपांग नाम ।

आहारकसप्तक—आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, आहारक संघात, आहारक-आहारक बंधन, आहारक-तैजस बंधन, आहारक-कार्मण बंधन, आहारक-तैजस-कार्मण बंधन नाम ।

आहारकषटक—आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, देवायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु ।

(उ)

उच्छ्वासचतुष्क—उच्छ्वास, आतप, उद्योत, पराघात नाम ।
उद्योतचतुष्क—उद्योत नाम, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु ।
उद्योतत्रिक—उद्योत नाम, आतप नाम, पराघात नाम ।
उद्योतद्विक—उद्योत नाम, आतप नाम ।

(ए)

एकेन्द्रियत्रिक—एकेन्द्रिय जाति, स्थावर नाम, आतप नाम ।

(औ)

औदारिकद्विक—औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग नाम ।
औदारिकसप्तक—औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, औदारिक संघात औदारिक-औदारिक बंधन, औदारिक-तैजस बंधन, औदारिक कार्मण बंधन, औदारिक-तैजस-कार्मण बंधन नाम ।

(क)

कषायपंचविंशतिः—(कषाय मोहनीय के २५ भेद) अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ; हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ।
कषायषोडशक—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ।
केवलद्विक—केवलज्ञानावरण, केवलदर्शनावरण ।

(ख)

खगतिद्विक—शुभ विहायोगति नाम, अशुभ विहायोगति नाम ।

(ग)

गंधद्विक—सुरभिगंध नाम, दुरभिगंध नाम ।
गतित्रिक—गति नाम, आनुपूर्वी नाम, आयुकर्म ।
गतिद्विक—गति नाम, आनुपूर्वी नामकर्म ।
गोत्रद्विक—नीचगोत्र, उच्चगोत्र कर्म ।
ज्ञानत्रिक—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान ।

ज्ञानावरणपंचक— मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण ।

ज्ञानावरण-अंतरायदशक— मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण; ज्ञानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय ।

(ध)

घाति चतुष्क— ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय कर्म ।

(ज)

जातिचतुष्क— एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति ।

जातित्रिक— (१) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जाति; (२) नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देवगति; (३) शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति ।

जिनपंचक— तीर्थंकर नाम, देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग नाम ।

जिनैकादश— (तीर्थंकर आदि ११ प्रकृतियां) तीर्थंकर नाम, देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, देवायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु ।

(त)

तनु-अष्टक— (१) औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण शरीर; (२) औदारिक, वैक्रिय, आहारक, अंगोपांग; (३) समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, वामन, कुब्ज, हुण्ड संस्थान; (४) वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त संहनन; (५) एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जाति; (६) नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देवगति; (७) शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति; (८) नरकानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, मनुष्यानुपूर्वी, देवानुपूर्वी ।

तनुचतुष्क— (१) औदारिक, वैक्रिय, आहारक शरीर; (२) औदारिक, वैक्रिय, आहारक अंगोपांग, (३) सम चतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, वामन, कुब्ज, हुण्ड संस्थान; (४) वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त संहनन ।

तिर्यंचत्रिक—तिर्यंच गति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु ।

तिर्यंचद्विक—तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी ।

तृतीय कषाय—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ ।

तैजसकार्मणसप्तक—तैजस शरीर, कार्मण शरीर, तैजस-तैजस बंधन, तैजस-कार्मण बंधन, कार्मण-कार्मण बंधन, तैजस संघातन, कार्मण संघातन ।

तैजसचतुष्क—तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण नाम ।

त्रसचतुष्क—त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक नाम ।

त्रसत्रिक—त्रस, बादर, पर्याप्त नाम ।

त्रसदशक—त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति नाम ।

त्रसद्विक—त्रस नाम, बादर नाम ।

त्रसनवक—त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय नाम ।

त्रसषट्क—त्रस नाम, बादर नाम, पर्याप्त नाम, प्रत्येक नाम, स्थिर नाम, शुभ नाम ।

त्रसादि बीस—त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति नाम ।

(द)

दर्शनचतुष्क—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन ।

दर्शनत्रिक—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन ।

दर्शनद्विक—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन ।

दर्शनावरणचतुष्क—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण ।

दर्शनावरणषट्क—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवल-दर्शनावरण, निद्रा, प्रचला ।

दर्शनमोहत्रिक—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मोहनीय ।

दर्शनमोहसप्तक—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मोहनीय, अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ ।

दुर्भगचतुष्क—दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति नाम ।

दुर्भगत्रिक---दुर्भग नाम, दुःस्वर नाम, अनादेय नाम ।
द्वितीय कषाय—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ ।
देवत्रिक—देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु ।
देवद्विक—देवगति, देवानुपूर्वी ।
दो युगल—हास्य-रति, शोक-अरति ।

(न)

नपुंसक चतुष्क—नपुंसक वेद, मिथ्यात्व मोहनीय, हुंडसंस्थान, सेवार्तसंहनन ।
नरत्रिक—मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु ।
नरद्विक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी ।
नरकत्रिक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु ।
नरकद्विक—नरकगति, नरकानुपूर्वी ।
नरकद्वादश—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, स्थावर नाम, आतप नाम ।
नरकनवक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति ।
नरकषोडश---(नरकगति आदि १६ प्रकृतियां) नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, एकेन्द्रिय जाति, द्विन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, स्थावर नाम, सूक्ष्म नाम, अपर्याप्त नाम, साधारण नाम, हुंड संस्थान, सेवार्त संहनन, आतप नाम, नपुंसकवेद, मिथ्यात्वमोहनीय ।
निद्रात्रिक—निद्रा, प्रचला ।
निद्रापंचक—निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि ।
नोकषायनवक—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद ।

(प)

पराघात सप्तक---पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थंकर, निर्माण नाम ।
प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्क—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ ।
प्रत्येकअष्टक—पराघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अगुरुलघु, तीर्थंकर, निर्माण, उपघात नाम ।

(ब)

बंधनपंचक--औदारिक शरीर बंधन, वैक्रिय शरीर बंधन, आहारक शरीर बंधन, तैजस शरीर बंधन, कार्मण शरीर बंधन नाम।

बंधकपंचदश—औदारिक-औदारिक बंधन, औदारिक-तैजस बंधन, औदारिक-कार्मण बंधन, औदारिक-तैजस-कार्मण बंधन, वैक्रिय-वैक्रिय बंधन, वैक्रिय-तैजस बंधन, वैक्रिय-कार्मण बंधन, वैक्रिय-तैजस-कार्मण बंधन, आहारक-आहारक बंधन, आहारक-तैजस बंधन, आहारक-कार्मण बंधन, आहारक-तैजस-कार्मण बंधन, तैजस-तैजस बंधन, तैजस-कार्मण बंधन, कार्मण-कार्मण बंधन नाम।

(म)

मध्यमसंस्थानचतुष्क—न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, वामन, कुब्ज संस्थान।

मध्यमसंहननचतुष्क—ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका संहनन।

मनुष्यत्रिक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी मनुष्यायु।

मनुष्यद्विक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी।

मिश्यात्वत्रिक—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र दृष्टि।

मिथ्यात्वद्विक—मिथ्यात्व, सासादन।

(र)

रसपंचक—तिक्तरस, कटुरस, कषायरस, अम्लरस, मधुररस।

(व)

वर्णचतुष्क नाम (वर्ण)—वर्णनाम, गंधनाम, रसनाम, स्पर्शनाम।

वर्णपंचक—कृष्ण वर्ण, नील वर्ण, लोहित वर्ण, हारिद्र वर्ण, श्वेत वर्ण नाम।

वर्णादि बीस—पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, आठ स्पर्श नामकर्म।

विकलत्रिक—द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति नाम।

विहायोगतिद्विक—शुभ विहायोगति, अशुभ विहायोगति नाम।

वेदत्रिक—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद।

वेदनीयद्विक—सातावेदनीय, असातावेदनीय।

वैक्रिय-अष्टक--वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु।

वैक्रिय-एकादश—देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर,

वैक्रिय अंगोपांग, वैक्रिय संघात, वैक्रिय-वैक्रिय बंधन, वैक्रिय-तैजस बंधन, वैक्रिय-कार्मण बंधन, वैक्रिय-तैजस-कार्मण बंधन ।

वैक्रियद्विक—वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग ।

वैक्रियषट्क—वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, नरकगति, नरकानुपूर्वी, देवगति, देवानुपूर्वी ।

(श)

शरीरपंचक—औदारिक शरीर, वैक्रिय शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर नाम ।

(स)

संघातनपंचक—औदारिक संघातन, वैक्रिय संघातन, आहारक संघातन, तैजस संघातन, कार्मण संघातन नाम ।

संज्वलनकषायचतुष्क—संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ।

संज्वलनकषायत्रिक—संज्वलन क्रोध, मान, माया ।

संज्ञीद्विक—संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त, संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त ।

संस्थानषट्क—समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, वामन, कुब्ज, हुंड संस्थान ।

संहननषट्क—वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका, सेवार्त संहनन ।

सम्यक्त्वत्रिक—औपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व ।

सम्यक्त्वद्विक—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायिक सम्यक्त्व ।

सुभगचतुष्क—सुभग नाम, सुस्वर नाम, आदेय नाम, यशःकीर्ति नाम ।

सुभगत्रिक—सुभग नाम, सुस्वर नाम, आदेय नाम ।

सुरत्रिक—देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु ।

सुरद्विक—देवगति, देवानुपूर्वी ।

सूक्ष्मत्रयोदशक—(सूक्ष्म नाम आदि १३ प्रकृतियां) सूक्ष्म नाम, साधारण नाम, अपर्याप्त नाम, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, स्थावर नाम, आतप नाम, नपुंसकवेद, मिथ्यात्व मोहनीय, हुंड संस्थान, सेवार्त संहनन ।

सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्म नाम, साधारण नाम, अपर्याप्त नाम ।

सुरैकोनविंशति—(देवगति आदि १९ प्रकृतियाँ) देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, देवायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, सूक्ष्म नाम, साधारण नाम, अपर्याप्त नाम, एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति, स्थावर नाम, आतप नाम।

स्त्यानर्द्धित्रिक—स्त्यानर्द्धि, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला।

स्थावरचतुष्क—स्थावर नाम, सूक्ष्म नाम, अपर्याप्त नाम, साधारण नाम।

स्थावरदशक—स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयश कीर्ति नाम।

स्थावरद्विक—स्थावर नाम, सूक्ष्म नाम।

स्पर्श-अष्टक—कर्कश स्पर्श, मृदु स्पर्श, गुरु स्पर्श, लघु स्पर्श, शीत स्पर्श, उष्ण स्पर्श, स्निग्ध स्पर्श, रूक्ष स्पर्श नाम।

स्थिरषट्क—स्थिर नाम, शुभ नाम, सुभगनाम, सुस्वर नाम, आदेय नाम, यशःकीर्ति नाम।

(ह)

हास्यषट्क—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा मोहनीय।

परिशिष्ट ४

सप्ततिका प्रकरण की गाथाओं का अकारादि अनुक्रम

गाथा संख्या		पृष्ठ संख्या
	(अ)	
२८	अउणत्तीसेक्कारस	१७६
१२	अट्ठगसत्तगछच्चउ	७३
३०	अट्ठ य बारस	१८७
३	अट्ठविहसत्तछ	१७
५	अट्ठसु एगविगप्पो	२७
३६	अट्ठसु पंचसु एगे	२२१
६६	अण्णयरवेयणीयं	४४०
७०	अह सुदयसयलजग	४४६
	(इ)	
५२	इग विगलिंदिय सगले	३६१
५८	इगुसट्ठिमण्णमत्तो	३८६
१७	इत्तो चउबंधाई	६०
४३	इय कम्मपगइठाणाई	३७०
	(उ)	
५४	उदयस्सुदीरणाए	३७५
६	उवरयबंधे चउ (प्रथम पंक्ति)	३६
४१	उवसंते चउ पण (प्रथम पंक्ति)	२५५
	(ए)	
१८	एक्कग छक्केक्कारस	११०
४६	एक्क छडेक्कारेक्कारसेव	२७६
११	एक्कं व दो व चउरो	६६
२७	एग बियालेक्कारस	१७६

४५	एगं सुहुमसरागो	२७२
५०	एगेगमट्ठ एगेग	३०७
३२	एगेगमेगतीसे	१८६
६०	एसो उ बंधसामित्तओघो	३६२
	(क)	
२	कइ बंधंतो वेयइ	५
	(ग)	
४२	गुणठाणगेसु अट्ठसु	२६६
	(च)	
२५	चउ पणवीसा सोलस	१५६
१६	चत्तारमाइ नव	६०
	(छ)	
४६	छण्णव छक्कं तिग	३०७
१४	छब्बावीसे चउ	८७
५७	छायालसेसमीसो	३८३
	(ज)	
४७	जोगोवओगलेसा	२८३
७२	जो जत्थ अपडिपुन्नो	४५१
	(त)	
६८	तच्चाणुपुव्विसहिया	४४२
४८	तिण्णेगे एगेगं	३०३
६१	तित्थगरदेवनिरयाउगं	३६३
५६	तित्थगराहारग	३८१
२६	तिदुनउई उगुनउई	१८४
२१	तिन्नेव य बावीसे	१२२
३३	तिविगप्पपगइठाणेहिं	२०६
३४	तेरसमु जीव	२१०
३५	तेरे नव चउ	२१३
२४	तेवीस पण्णवीसा	१४२

(व)

२३	दसनवपन्नरसाइं	१४२
१५	दस बावीसे नव	९०
७१	दुरहिगमनिउण	४५०
६५	देवगइसहगयाओ	४३८
५१	दो छक्कट्ठ चउक्कं	३४८

(न)

२०	नवतेसीयसएहिं	११७
१९	नवपंचाणउइसए	११४
२१	नव पंचोदय संता	१८८
३९	नाणंतराय तिविह (प्रथम पंक्ति)	२५४
५५	नाणंतरायदसगं	३७८

(प)

२२	पंचविहचउविहेसु	१२२
६२	पढमकसायचउक्कं	३९५
६३	पढमकसायचउक्कं	४२०
३७	पण दुग पणगं	२२८
६४	पुरिसं कोहे कोहं	४३३

(ब)

७	बंधस्स य संतस्स	३४
६	बधोदयसंतंसा	३०
५९	बावीसा एगूणं	३८८
१०	बावीस एक्कवीसा	६४
८	बीयावरणे नवबंध	३९

(म)

६७	मणुयगइ जाइ	४४२
६९	मणुयगइसहगयाओ	४४४
३९	मिच्छासाणे बिइए (द्वितीय पंक्ति)	२५५
४०	मिस्साइ तियट्ठीओ	२५५

(ब)

१४	बिए ठाणे ठइए	२७२
२६	बीसिगवीसा चउवीसगाइ	१५८
६	वेयणियाउयगोए (द्वितीय पंक्ति)	४६
४१	वेयणियाउयगोए (द्वितीय पंक्ति)	२६०

(स)

४	सत्तट्ठबंध अट्ठ	२२
३८	सत्तेव अपज्जत्ता	२२८
१३	संतस्स पगइठाणाइं	७३
४३	सत्ताइ दसउ मिच्छे	२७२
१	सिद्धपएहिं महत्थं	१

परिशिष्ट ५

कर्मग्रन्थों की व्याख्या में प्रयुक्त सहायक ग्रन्थों की सूची

अनुयोगद्वारसूत्र—आगमोदय समिति, सूरत

अनुयोगद्वारसूत्र टीका (मलधारी हेमचन्द्र सूरि) आगमोदय समिति, सूरत

आचारांगसूत्र टीका (शीलांकाचार्य)

आचारांगसूत्र निर्युक्ति (भद्रबाहु स्वामी)

आप्तमीमांसा (स्वामि समन्तभद्र) जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता

आवश्यकनिर्युक्ति (भद्रबाहु स्वामी) आगमोदय समिति, सूरत

आवश्यकनिर्युक्ति टीका (हरिभद्रसूरि)

आवश्यकनिर्युक्ति टीका (मलयगिरि) आगमोदय समिति, सूरत

उत्तराध्ययनसूत्र

उत्तराध्ययनसूत्र टीका (शांतिसूरि)

उपासकदशांग सूत्र

औपपातिक सूत्र—आगमोदय समिति, सूरत

कर्मप्रकृति—मुक्ताबाई ज्ञान मन्दिर, डभोई

कर्म प्रकृति चूर्णि—मुक्ताबाई ज्ञान मन्दिर, डभोई

कर्मप्रकृति टीका (उपाध्याय यशोविजय) मुक्ताबाई ज्ञान मन्दिर, डभोई

कर्मप्रकृति टीका (मलयगिरि) मुक्ताबाई ज्ञान मन्दिर, डभोई

कषायपाहुड (गुणधर आचार्य)

कषायपाहुड चूर्णि (स्थविर यतिवृषभ)

काललोकप्रकाश—देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत

क्षपणासार (नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती) भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता

गोम्मटसार कर्मकाण्ड (नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती) रायचन्द जैन ग्रन्थमाला, बम्बई

गोम्मटसार जीवकाण्ड (नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती) रायचन्द जैन ग्रन्थमाला, बम्बई

जयधवला (वीरसेन आचार्य)
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—संस्कृत टीका
जीवाभिगमसूत्र
जीवस्थानचूलिका—स्थान समुत्कीर्तन—जैन साहित्योद्धारक फंड, अमरावती
ज्योतिषकरण्डक—श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वे० संस्था, रतलाम
ज्ञानबिन्दु (उपाध्याय यशोविजय)
तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति)
तत्त्वार्थ राजवार्तिक (अकलंकदेव) श्री जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (उमास्वाति)
त्रिलोकसार (नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती) श्री माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
द्रव्यलोकप्रकाश—देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत
द्रव्यसंग्रह (नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती)
धवला उदयाधिकार (वीरसेन आचार्य)
धवला उदीरणाधिकार (वीरसेन आचार्य)
नन्दीसूत्र (देवर्धिगणि क्षमाश्रमण)
नन्दीसूत्र टीका (मलयगिरि)
नवीन प्रथम कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका (देवेन्द्रसूरि) श्री आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर
नवीन द्वितीय कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका (देवेन्द्रसूरि) श्री आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर
नवीन तृतीय कर्मग्रन्थ अवचूरिका टीका (देवेन्द्रसूरि) श्री आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर
नवीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका (देवेन्द्रसूरि) श्री आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर
नवीन पंचम कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका (देवेन्द्रसूरि) श्री आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर
नवीन कर्मग्रन्थों के टबा (जयसोमसूरि, जीवविजय)

नवीन कर्मग्रन्थों के गुजराती अनुवाद—जैन श्रेयस्कर मंडल, मेहसाना
नियमसार (कुन्दकुन्दाचार्य)
न्यायदर्शन (गौतम ऋषि)
पंचसंग्रह (चन्द्रर्षि महत्तर) श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
पंचसंग्रह (अमितगति) श्री माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
पंचसंग्रह टीका (मलयगिरि) मुक्ताबाई ज्ञान मन्दिर, डभोई
पंचसंग्रहप्राकृत
पंचसंग्रह सप्ततिका—मुक्ताबाई ज्ञान मन्दिर, डभोई
पंचास्तिकाय (कुन्दकुन्दाचार्य) रायचन्द जैन शास्त्रमाला, बम्बई
पंचाशक (हरिभद्रसूरि) श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
पातंजल योगदर्शन (पतंजलि)
प्रकरण रत्नाकर—भीमसी माणक, बम्बई
प्रशमरति प्रकरण (उमास्वाति)
प्रवचनसार टीका (अमृतचन्द्राचार्य) रायचन्द जैन शास्त्रमाला, बम्बई
प्रवचनसारोद्धार—देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत
प्रवचनसारोद्धार टीका—देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत
प्रशस्तपादभाष्य
प्रमेयकमलमार्तण्ड (प्रभाचन्द्राचार्य) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
प्रज्ञापनासूत्र
प्रज्ञापनासूत्र चूर्णि
प्रज्ञापनासूत्र टीका (मलयगिरि)
प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ (जिनवल्लभनाथ)
प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ भाष्य
प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ टीका (मलयगिरि)
प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ टीका (हरिभद्रसूरि)
प्राचीन बंध स्वामित्व
प्राचीन पंचम कर्मग्रन्थ बृहच्चूर्णि
भगवद्गीता
भगवतीसूत्र

भगवतीसूत्र टीका (अभयदेव सूरि)
महाभारत (वेदव्यास)
मोक्षमार्ग प्रकाश—अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई
योगदर्शन भाष्य टीका आदि सहित
योगवासिष्ठ
लब्धिसार (नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती) भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता
लोकप्रकाश—देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत
विशेषावश्यक भाष्य (जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण)
विशेषावश्यकभाष्य टीका (कोट्याचार्य) श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
विशेषावश्यकभाष्य टीका (मलधारि हेमचन्द्र)
विशेषावश्यकभाष्य वृहद्वृत्ति—यशोविजय ग्रन्थमाला, काशी
विशेषणवती (जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण) श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
वृहत्कर्मस्तवभाष्य
वृहत्संग्रहणी (जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण)
वृहत्संग्रहणी टीका (मलयगिरि)
वैशेषिक दर्शन (कणाद)
षट्पाहुड़ (कुन्दकुन्दाचार्य)
संग्रहणीसूत्र (चन्द्रसूरि)
सप्ततिकाचूर्णि
सप्ततिकाप्रकरण टीका (मलयगिरि) श्री आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर
सन्मतितर्क (सिद्धसेन दिवाकर)
सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपादाचार्य)
सांख्यकारिका
सांख्यदर्शन (कपिल ऋषि)
सूत्रकृतांगसूत्र टीका (शीलांकाचार्य)
सूत्रकृतांग निर्युक्ति (भद्रबाहु स्वामी)
स्वामी कीर्तिकेयानुप्रेक्षा (आचार्य कार्तिकेय) भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता